समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय

राज-निवेश

एवं

राजसी कलायें

डा० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल
एम० ए० पी-एच० डी०, डी० लिट्०
साहित्याचार्य, साहित्य-रत्न, काव्य-तीर्थ, शिल्प-कला-प्राकल्प
प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग
पंजाब-विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

प्रथम भाग

अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

प्रकाशन-व्यवस्थापक
वास्तु-वाङ्मय-प्रकाशन-शाला
शुक्ल-कुटी, १०, फैज़ाबाद रोड, लखनऊ

जून १९६७

(केन्द्रीय-शिक्षा-सचिवालय-प्रकाशन-सहायतया स्वयमेव ग्रन्थ-कर्ता)
भारतीय-वास्तु-शास्त्र
सामान्य-शीर्षक-दश-ग्रन्थ प्रकाशन-आयोजन का ७वाँ प्रकाशन

मुद्रक
तक्षशिला-आर्ट-प्रिंटिंग प्रेस
५, सेक्टर १५, चण्डीगढ़

समर्पण

महाकवि कालिदास, बाण-भट्ट तथा श्रीहर्ष की स्मृति में

लक्षण एवं लक्ष्य दोनों का जब तक एक समन्वयात्मक प्रतिबिम्ब न प्राप्त हो तो शास्त्रीय सिद्धान्तों (लक्षणों) का क्या मूल्यांकन ? अतएव जहाँ अभी तक भारतीय स्थापत्य (विशेषकर चित्र-कला) पर केवल पुरातत्वीय विवेचन हो सका, वहाँ साहित्य-निबन्धनीय इस विवेचन (दे० पृ० ११२-१२४) ने तो चित्र-कला को कितना भारतीय जीवन का अभिन्न अंग सिद्ध कर दिया है—यह सब इन तीन प्रमुख महाकवियों के काव्यों की देन है।

—शुक्ल (द्विजेन्द्र नाथ)

निवेदन

हमारा समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र—प्रथम भाग—भवन-निवेश—अध्ययन, हिन्दी अनुवाद, मूल-पाठ तथा वास्तु-पदावली निकल ही चुका है। उसके परिशीलन से विद्वान् पाठक तथा प्राचीन भारतीय स्थापत्य में रुचि रखने वाले आधुनिक इन्जीनियर तथा आर्कटिक्ट्स एवं कला-कोविद इन सभी ने अपनी प्राचीन देन का अवश्य मूल्यांकन किया होगा। भारत का यह स्थापत्य Hindu Science of Architecture कितना वैज्ञानिक और प्रवृद्ध था—इसमें अब किसी को असमंजस में पड़ने की आवश्यकता नहीं रही है। हमारे देश के बहुत से भारत-भारती के विशेषज्ञ अभी तक इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रंथों को न वैज्ञानिक मानते रहे, न उनको समझने में सफलता मिल सकी, अतः वे यही आकूत करते आये हैं कि वे ग्रंथ पौराणिक हैं, कपोल-कल्पित हैं अथवा अति-रंजित हैं।

भवन-निवेश—यह ग्रन्थ एक प्रकार से भारतवर्ष के स्थापत्य में पुनरुत्थान कर सकता है। यह पुनरुत्थान भारत के आधुनिक स्थापत्य में स्वर्ण-युग Renaissance का प्रादुर्भाव प्रकट कर सकता है, यदि लोग इसको ठीक तरह से पढ़ें और इन्जीनियरिंग (Civil Engineering) और आर्कीटेक्चर के कोर्स में इसे सम्मिलित करें। अनुसन्धान-कर्ताओं का काम अन्वेषण करना है, उसका रूप प्रकट करना है। जहां तक उसका उपयोग और उसकी उपादेयता का प्रश्न है, वह तो शासकों और संचालकों के हाथ में है। हमारे देश की जल-वायु के अनुकूल, संस्कृति तथा सभ्यता के अनुकूल, रहन-सहन-आचार-विचार-निवास-परिधान के अनुरूप जैसा भवन-निवेश हमारे पूर्वजों ने परिकल्पित किया था, वही हमारे देश के लिए अनुकूल है तथा कल्याणकारी है।

वैपरीत्याचरण से एवं पश्चिम के अन्धानुकरण से इस दिशा में महान् अनर्थ तथा क्षति की पूर्ण सम्भावना है। इस उष्ण-प्रधान देश में सीमेंट (पत्थर) के खम्भे तथा छतें और दीवालें महान् हानिकारक हैं। इसी लिए हमारे पूर्वजों ने जहां बड़े-बड़े उत्तुंग शिखरावलियों से विभूषित, नाना विमानों से अलङ्कृत मन्दिर, प्रासाद, धाम, राज-वेश्म बनवाये वहां अपने निवास के

लिए शाल-भवन ही अनुकूल समझते रहे, जिन मे छप्परो (छादो) तथा मार्तिक भित्तियो तथा काष्ठ-विनिर्मित, खचित, सज्जित स्तम्भो का ही प्रयोग किया जाता रहा है। इसका आधार निम्नलिखित पौराणिक तथा आगमिक आदेश था—"शिलाकुड्य शिलास्तम्भ नरावासे न योजयेत्"।

राज-निवेश एवं राजसी कलायें—अस्तु, इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब हम अपने इस प्रकाशन—राज-निवेश एव राजसी कलायें—यन्त्र एव चित्र के साथ राज-निवेश (Palace Architecture) की ओर आते हैं। इस ग्रन्थ मे चित्र-कला विशेष व्याख्यात है। राज-निवेश पर इस निवेदना में विशेष निवेदन की आवश्यकता नही, वह अध्ययन में पढ़ें। जहा तक यन्त्र एव चित्र का साहचर्य है, वह सब राज-सरक्षण ही आधार था।

आज तक भारतीय यान्त्रिक विज्ञान पर कही भी किसी ने भी खोज नही की। बात यह है कि यद्यपि यन्त्रो के, विमानो (जैसे पुष्पक-विमान आदि) के नाना सन्दर्भ प्राचीन साहित्य मे प्राप्त होते हैं, परन्तु इस विज्ञान पर समरागण-सूत्रधार को छोडकर कही पर किसी भी ग्रन्थ मे आज तक यह विज्ञान नहीं प्राप्त हुआ है। मैं अपने अग्रेजी ग्रन्थ—Vastusastra Volume I—Hindu Science of Architecture मे इस यन्त्र-विज्ञान पर पहिले ही व्याख्या कर चुका हूँ। अब हिन्दी मे यह प्रथम प्रयास है और पाठक तथा विद्वान् इस ग्रन्थ के परिशीलन से अपने भूत का मूल्याकन अवश्य कर सकेंगे।

अब आइये चित्रकला की ओर। यद्यपि भारत के चित्र-कला-निदर्शन जैसे अजन्ता, बाघ सिगिरिया आदि प्रख्यात चित्र-पीठो पर जो उपलब्ध हो रहे हैं, उन पर बहुत से विद्वानो ने कलम चलाई है और ऐतिहासिक समीक्षा भी की है, परन्तु शास्त्र (Canons) और कला इन दोनो का समन्वयात्मक अथवा आधाराधेय-भावात्मक (Synthetic) समीक्षण किसी ने नही किया है। सर्वप्रथम श्रेय डा० स्टेला क्रैमरिश को है, जिन्होने चित्र-शास्त्र के प्रथित-कीर्ति पुराणा-ग्रन्थ विष्णु-धर्मोत्तर का अग्रेजी मे अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी। उन के बाद यह मेरा परम सौभाग्य था कि मैंने अपने डी० लिट्० के अनुसन्धान के लिए Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting जो विषय चुना था, उसी ने मुझे यह अवसर दिया कि समस्त चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो जैसे भरत का नाट्य-शास्त्र, नारद शिल्प, सारस्वत-चित्र-कर्म, विष्णु-धर्मोत्तर, समरागण-सूत्रधार, अपराजित पृच्छा, मानसोल्लास

आदि सभी प्राप्त चित्र-ग्रन्थों का परिशीलन, आलोडन, अनुसन्धान, गवेषण और मनन के उपरान्त हमने एक अति वैज्ञानिक तथा पाद्धतिक चित्र-लक्षण बनाया और उसको पुनः व्याख्यात्मक तथा ऐतिहासिक एवं साहित्यिक दोनों परिपाटियों में एक प्रबन्ध प्रस्तुत किया।

इस प्रबन्धांश (Hindu Canons of Painting) को देखकर भारत के प्रख्यात तथा धुरन्धर विद्वानों ने जैसे महामहोपाध्याय मिराशी, डा० जितेन्द्र नाथ बैनर्जी, प्रो० सी० डी० चैटर्जी आदि ने बड़ी ही प्रशंसा की और यहां तक लिख मारा—This is a land-mark in Contemporary Indology both in India and Europe

मेरे पी-एच०डी० अनुसन्धान (A Study of Bhoja's Samarangna Sutradhara—a treatise on the science of Art and Architecture) पर प्रख्यात कला-समीक्षक एवं प्रथितकीर्ति डा० जितेन्द्रनाथ बैनर्जी तथा स्व० डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अभूतपूर्व प्रशंसा ही नहीं की वरन् लखनऊ विश्व-विद्यालय को बधाई भी दी। मेरे लिए उनका यह वाक्य(The award of Ph.D. Degree is the least credit for such a scientific and conscientious labour) बड़ा प्रेरणा-प्रदायक सिद्ध हुआ, जिस से मैंने इस विषय को आजीवन निष्ठा के रूप में अंगीकृत कर लिया है। इन दोनों प्रबन्धों की वरेण्य प्रशंसा एवं कीर्ति के कारण संस्कृत के महान् संरक्षक एवं शुभ-चिन्तक डा० देशमुख (भूतपूर्व यू०जी०सी०, चेयरमेन) ने इनके विस्तृत अध्ययन-पुरस्सर दो बृहदाकार ग्रन्थों के रूप में परिणत करने के लिए दस हजार रुपये का अनुदान दिया। उसी के कारण मेरे ये दो अंग्रेजी ग्रन्थ भी प्रकाशित हो सके—

1—Vastu-Sastra Volume I—Hindu Science of Architecture with esp. reference to Bhoja's Samarangna-Sutradhara

2—Vastusatra Volume II—Hindu Canons of Iconography and Painting.

अपने अंग्रेजी ग्रन्थों में इनका पूर्ण विस्तार एवं कला और शास्त्र दोनों दृष्टियों से इनका प्रतिपादन किया। हिन्दी के पारिभाषिक साहित्य का श्री-गणेश करने का जो मैंने बीड़ा उठाया था, अपनी कृतियों से भारतीय वास्तु-शास्त्र-सामान्य-शीर्षक के छै ग्रन्थों को तो प्रकाशित कर ही चुका हूँ। अब में यन्त्र-विज्ञान तथा चित्र विज्ञान को लेकर इस ग्रन्थ की रचना और प्रकाशन कर रहा हूँ। जहां तक इन दोनों विषयों की महिमा, गरिमा और

पूर्णिमा का सम्बन्ध है वह अध्ययन में देखिए। अब अन्त में हमें यह भी सूचित करना है कि भारत-सरकार शिक्षा-सचिवालय से जो अनुदान इन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए १९५९ में मिला था, उसके सम्बन्ध में हम पहले ही सूचना दे चुके हैं और अध्ययन में भी इसका कुछ संकेत है, तथापि मैं अपना परम-कर्तव्य समझता हूँ कि अब लगभग १० वर्ष पुराना यह अनुदान कैसे उपयोग किया जा रहा है। पहला कारण तो यह था कि अनुदान की निधि स्वल्प थी, पत्र-व्यवहार से भी कोई लाभ नहीं हुआ तो हमारे सामने समस्या उठ खड़ी हुई कि इसको तिलाञ्जलि दे दूँ कि पुरानी प्रेरणा (लखनऊ वाली जिसके द्वारा उत्तर-प्रदेश सरकार से प्राप्त अनुदान से जो चार प्रकाशन किये थे) से उसी तरह से काम कि न करूँ। यद्यपि न इस में अर्थ-लाभ, न कीर्ति, न इनाम, क्योंकि जब तक कोई वैयक्तिक सिफारिश न हो तब तक इन अभूत-पूर्व अनुसन्धानों को साहित्य-ऐकेडेमी, ललित-कला-ऐकेडेमी क्यों पूछेगी। उनके अपने-अपने सलाहकार होते हैं, वे जैसी सम्मति देते हैं, वैसे ही व्यक्ति पुरस्कृत होते हैं। हमारे देश में कोई National Screening Committee तो है नहीं जो इन निर्णयों की स्क्रीनिंग करे तथा अपुरस्कृत व्यक्तियों को सामने लाये। झटिति मुझे यह वाक्य स्मरण आया :—

"अयोग्य पुरुषाः परिपालयन्ति"

सः स्वस्थः) मिली, अतः अपने अनुसन्धान आदि कार्य मे जो अनुद्विग्न होकर प्रवृत्त हो सका, यही स्वस्थता है। मेरी सबसे बडी विजय लाला जी के आगमन से सत्य का प्रकाश हुआ। ऐसे स्थिर-प्रज्ञ तथा धीर, गम्भीर एव अप्रभावित व्यक्ति ही इतने बडे विश्वविद्यालय का सचालन कर सकते हैं। कामना है कि यदि तीन टर्म्स तक उप-कुलपति पद को शोभित करते रहें तो सस्कृत का यह दूसरा अनुसन्धान दश-ग्रन्थ-शिल्प-शास्त्र-अनुसंधान-आयोजन जिसे इस पंजाब विश्वविद्यालय ने स्वीकृत कर ही लिया, यू० जी० सी० को First Priority Proposals For Fourth Five Yea Plan मे भेजा है और यू० जी० सी० ने भी समझदारी से इसको यदि मान लिया, अनुदान स्वीकृत किया तो देश-देशान्तर, द्वीप-द्वीपान्तर मे इस अनुसन्धान से एक नया युग एवं नयी अभिख्या का प्रादुर्भाव होगा। देखें क्या होता है। यह विधि-विधान है। मानव न रोक सकेगा न बना सकेगा।

अंत मे यह भी सूचित करना परमावश्यक है कि बडे सौभाग्य की बात है कि पंजाबियो मे एक सस्कृतज्ञ सिक्ख श्री त्रिलोचन सिंह से साक्षात्कार हो गया जो यूनिवर्सिटी कैम्पस के समीप प्रेस चला रहे हैं। इस सरदार ने कमाल कर दिया और बडे उत्साह और लगन से कार्य किया है। सरदार त्रिलोचनसिंह अपनी वचन-बद्धता के लिए पूर्ण प्रयास कर रहे हैं।

जहा तक कुछ अशुद्धियो का प्रश्न है वह स्वाभाविक ही है। जब ग्रन्थकार प्रूफ को पढता है तो अशुद्ध को भी शुद्ध पढ जाता है। साथ-ही-साथ हमारे देश मे जो छापेखाने हैं उनमे बडे ही विरले कुशल प्रूफ-रीडर मिलते हैं। अतः आशा है कि पाठक कुछ यत्र-तत्र-सर्वत्र जहां पर छापे की अशुद्धिया हैं, उनको अपन आप ठीक कर लेंगे। जहा तक पारिभाषिक शब्दो का प्रश्न है, उसकी तालिका—शुद्ध तालिका (दे० शब्दानुक्रमणी) से प्रत्यक्ष हैं।

अस्तु अन्त मे यह ही कहना है—

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥

आषाढ़ी सम्वत् १९२४ — द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल

प्रकाशन-विवरण

उत्तर-प्रदेश-राज्य तथा केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से प्राप्त अनुदान एवं निजी व्यय से प्रकाशित एवं प्रकाश्य—

समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय—भारतीय-वास्तु-शास्त्र-सामान्य-शीर्षक निम्न दश-ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन :—

उत्तर-प्रदेश-राज्य की सहायता से

१. वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश
२. प्रतिमा-विज्ञान
३. प्रतिमा-लक्षण
४. चित्र-लक्षण तथा हिन्दू-प्रासाद—चतुर्मुखी पृष्ठ-भूमि

केन्द्रीय शिक्षा-सचिवालय से

भवन-निवेश—(Civil Architecture)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय-भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-पदावली

राज-निवेश एवं राजसी कलायें—यन्त्र एवं चित्र (Royal Arts Yantras and Citras)

प्रथम-भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय-भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली

प्रासाद-निवेश (Temple Art and Architecture)

प्रथम भाग—अध्ययन एवं हिन्दी अनुवाद

द्वितीय भाग—मूल का संस्करण एवं वास्तु-शिल्प-पदावली

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—अध्ययन

समरांगण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय राज-निवेश तथा राजसी कलायें

उपोद्घात—ललित-कलाओं का जन्म एवं विकास—वेद एवं उपवेद—स्थापत्य-वेद—समरांगण-सूत्रधार एक-मात्र वास्तु-ग्रन्थ, जिसमें भवन-कला, नगर-कला, प्रासाद-कला, मूर्ति-कला, चित्र-कला, यन्त्र-कला सब व्याख्यात हैं;

समरांगण-सूत्रधार का अध्ययन—एवं उसके विभिन्न भागों के अध्ययन की योजना तथा अन्त में उसका नवीनीकरण, राज-संरक्षण में प्रोल्लसित स्थापत्य—चतुर्धा स्थापत्य अर्थात् स्थपति-योग्यताएं एवं स्थपति-कोटि-चतुष्टय, अष्टांग-स्थापत्य; शिल्पियों की चार कोटियां—स्थपति, सूत्रग्राही, वर्धकि तथा तक्षक,चित्र-पद का अर्थ—चित्र, चित्रार्ध,चित्राभास; पुनः परिमार्जन अर्थात् भवन-निवेश-सम्बन्धी समरांगणीय प्रथम-भाग के बाद द्वितीय भाग का परिमार्जित एवं वैज्ञानिक संस्करण-पद्धति से अध्यायों की तालिका का नवीनीकरण;

अध्ययन के प्रमुख स्तम्भ—राज-निवेश एवं राज-निवेशोचित भवन, उपभवन एवं उपकरण, यन्त्र-विधान तथा चित्र-विधान;

राज-निवेश—राज-निवेशांग—कक्ष्या-निवेश—अलिन्द-निवेश,राज-भवन-तत्त्व; राज-निवेश-उपकरण—सभा, अश्वशाला, गज-शाला, शयनासन आदि;

राज-विलास (नाना-यन्त्र)—यन्त्र-घटना, यान-मातृका अर्थात् यन्त्र-मातृका का अर्थ (Interpretation), प्राचीन यान्त्रिक विज्ञान, यन्त्र-गुण, यन्त्र-विधा—आमोद-यन्त्र, सेवा-यन्त्र एवं रक्षा-यन्त्र, दोला-यन्त्र, विमान-यन्त्र;

राजसी कलायें—चित्र कला:—

चित्र-शास्त्रीय-ग्रन्थ ; चित्र-कला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय—

षडग तथा अष्टाग; चित्र-विधा—सत्य, वैणिक, नागर, मिश्र, विद्ध, अविद्ध, धूली, रस, भाव; वर्तिका; भूमि-बन्धन—कुड्य-भूमि-बन्धन, पट्ट-भूमि-बन्धन, पट-भूमि-बन्धन; चित्राधार एव चित्रमान—अण्डक-प्रमाण, रूप-मान, मानोत्पत्ति, चित्र-प्रमाण-प्रक्रिया (Iconometry), समलम्बित मान (Vertical measurements)—मस्तक-सूत्र, केशान्त-सूत्र-आदि गुल्फान्त-सूत्र, भूमि-सूत्रान्त, लेप्य-कर्म—मार्तिक लेपन, स्निग्धानुलेपन; आलेख्य-कर्म — वर्ण एव कूर्चक, कान्ति एव विच्छित्ति (छाया, कान्ति, क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त); शुद्ध-वर्ण (मूल-रग), मिश्र-वर्ण (अन्तरित-रग), रग-द्रव्य—स्वर्ण-प्रयोग—पत्र-विन्यास तथा रस-क्रिया; पञ्च-विध कूर्चक; त्रिविधा लेखनी—तूलिका, लेखनी, विलेखा; वर्तना—क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त; वर्तना-प्रभेद; त्रिविध—पत्रजा, ऐरिक तथा बिन्दुज; चित्र एवं रस—एकादश चित्र-रस, अष्टादश रस-दृष्टियां; चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य-कला, नृत्य-कला तथा भावाभिव्यक्ति—ध्वनि; चित्र-शैलियां (पत्र एव कण्टक के आधार पर)—चित्र-पत्र—षड्-विध—सागरादि-यामुनान्त; चित्र-पत्र-कण्टक—अष्ट-विध—कलि-प्रभृति भंग-चित्रकान्त; चित्र-शैलियां—देव-शैली, यक्ष-शैली, नागर-शैली, चित्रकार एवं उसकी कला, चित्र-गुण, चित्र-दोष;

चित्रकला के पुरातत्वीय एवं साहित्यिक निदर्शनों एवं संदर्भों पर एक विहंगावलोकन

पुरातत्वीय उपोद्घात—पुरातत्वीय निदर्शन—पूर्व-ईसवीय तथा उत्तर-ईसवीय; पूर्व-ईसवीय—प्राग्-ऐतिहासिक तथा ऐतिहासिक; प्राग्-ऐतिहासिक—कामूर-पर्वत श्रेणी, विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी, अन्य पर्वत श्रेणियां—मध्य-प्रदेश, मिर्जापुर—उत्तर-प्रदेश के समीपीय कन्दरायें, ऐतिहासिक—पूर्व-ईसवीय—सिर-गुजा क्षेत्रीय—जोगी मारा कन्दरा; ईसवीयोत्तर—बौद्ध-काल, हिन्दू-काल, मुसलिम-काल, बौद्ध-काल—अजन्ता—नाना गुफाओं मे प्राप्त चित्र तथा काल-निर्धारण एव विषय-वर्गीकरण, मरक्षण, चित्र द्रव्य एवं चित्र-प्रक्रिया—वर्ण-विन्यास एव तूलिका, चित्र-शास्त्र एव चित्र-कला, सिघल-द्वीप-सिगरिया, बाघ; हिन्दू काल—जैन-ग्रन्थ-चित्रण, जैन-चित्र; राजपूत-चित्र-कला, पजाब (कागरा की राजपूती कला); मुगल चित्र कला।

साहित्यिक उपोद्घात—वैदिक वाङ्मय, पालि वाङ्मय, रामायण एवं महाभारत, पुराण, शिल्प-शास्त्र, काव्य तथा नाटक—कालिदास, बाण-भट्ट, दण्डी, भवभूति, माघ, हर्ष-देव, राजशेखर, श्रीहर्ष, धनपाल, सोमेश्वर सूरि।

ग्रन्थ-चित्रण

पृ० सं० १-१२४

द्वितीय खण्ड—अनुवाद

रूप-प्रहरण-संयोगादि-लक्षण; प्रतिमा-दोष-गुण-निरूपण; प्रतिमा-मुद्रा — ऋज्वागतादि-स्थानक मुद्राएं, वैष्णवादि-शरीर मुद्राएं, पताकादि ६४ संयुत-असंयुत-नृत्य मुद्राएं—

प्रथम खण्ड

अध्ययन

राज-निवेश एवं राजसी कलायें

यन्त्र एवं चित्र

उपोद्घात :—ललित कलाओं का जन्म एवं विकास एक-मात्र केवल पूर्व-मध्य-कालीन अथवा उत्तर-मध्य-कालीन नहीं समझना चाहिए। यद्यपि ललित कलाओं में विशेषकर चित्र-कला, प्रस्तर-कला आदि के स्मारक-निदर्शन इसी काल में विशेष रूप से पाए जाते हैं, परंतु पुरातत्वीय अन्वेषणों तथा प्राचीन साहित्य से ये कलायें ईसा से बहुत पूर्व विकसित हो चुकी थीं। भारतीय संस्कृति में भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों उत्कर्षों के पक्षों पर हमारे पूर्वजों ने पूर्णरूप से अभिनिवेश प्रदान किया था। वैदिक काल में नाट्य, संगीत, नृत्य तथा आलेख्य पूर्ण-रूप से प्रचलित थे। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है भरत का नाट्य-शास्त्र है। जनानुरंजन एवं जनता में उपदेशात्मक, मनोरञ्जनात्मक, ज्ञानात्मक गाथाओं के द्वारा प्रचार करने के लिए ब्रह्मा ने नाट्य वेद की रचना की जो पांचवें वेद के नाम से प्रकीर्तित किया गया।

वात्स्यायन का काम सूत्र भौतिक विकास का एक महान दर्पण है जिसमें नागरिकों के लिए चतुष्षष्टि-कला-सेवन एक प्रकार से इनके जीवन और सामाजिक सभ्यता का अभिन्न एवं अनिवार्य अंग था। स्टला क्रैमरिश' ने विष्णुधर्मोत्तर के अनुवाद की भूमिका में जो लिखा है—'Every citizen had a bowl and brush'—यह वाक्य में बड़ा ही सार्थक एवं सत्य है। इन चौसठ कलाओं में नृत्य, वाद्य, गीत, आलेख्य के साथ साथ नाना अन्य शिल्प-कलाओं का भी संकीर्तन है जिसमें प्रतिमाला, यंत्र-मातृका आदि भी परिगणित हैं। इससे इन कलाओं को यदि हम भिन्न भिन्न वर्गों में वर्गीकृत करें, तो न केवल तथाकथित ललित-कलाओं, जैसे प्रमुख छैः कलाएं—काव्य, नाट्य, नृत्य, संगीत, चित्र (आलेख्य), शिल्प एवं वास्तु ही उस समय ललित कलाओं के रूप में नहीं सेव्य थीं, वरन् व्यावसायिक एवं औपजीविक कलाओं (Commercial and Professional Arts) को भी पूर्ण संरक्षण तथा प्रोत्साहन प्राप्त था। पुष्पास्तरण, पुष्प-विकल्पन, नेपथ्य विकल्प, दारु-कर्म, तक्षक-कर्म धातु-वाद प्रतिमाला, यान-मातृका आदि सभी इन्हीं दो कोटियों में आती हैं।

राजाओं के दरबार को ही सर्व प्रमुख श्रेय है, जिसने इन सभी कलाओं की उन्नति में महान् योगदान दिया।

हम यह भी नहीं विस्मृत कर सकते कि हमारा देश केवल धर्म और दर्शन की ओर ही सदा जागरूक रहा। वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों को भी

इस देश मे पूरे रूप से प्रोत्साहन और सरक्षण प्रदान किया गया। कोई भी सस्कृति और सभ्यता आध्यात्मिक और भौतिक दोनो उन्नतियो के बिना जीवित नही रह सकती। इसी लिए धर्म की परिभाषा मे बडे सूझ-बूझ के महर्षि कपिल ने जो निम्न प्रवचन दिया वह कितना सार्थक है :—

"यतोऽभ्युदय-नि श्रेयससिद्धि स धर्म"

दुर्भाग्य का विलास है कि आधुनिक सस्कृत-समाज वैदिक, पौराणिक, धर्म-शास्त्र, ज्योतिष, व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रो के अतिरिक्त अपने अत्यन्त प्रोन्नत एव प्रवृद्ध वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रो से अपरिचित है। वेदो का तो अब भी प्रचार है, किन्तु उपवेद भी थे कि नहीं—इसका बड़ा ही न्यून ज्ञान एव प्रचार है। उपवेदो मे आयुर्वेद और अथर्ववेद के अतिरिक्त अन्य शेष उपवेदो का शायद ही किसी को ज्ञान हो। हमारे ऋषि-महर्षि और पूर्वज बड़े ही परिवर्तन-शील तथा काल-दर्शक थे। परन्तु हम इतने महान् परिवर्तन शील समय मे यदि अब भी रूढि-वादी एव काल-प्रतिक्रिया-शून्य वादी रहे तो हम अपनी सस्कृति के प्रति कितना धोखा दे रहे हैं कि हम प्रत्येक दिशा मे योरुप का अधानुकरण कर रहे हैं और अपनी सारी बातों को विस्मृत कर चुके हैं।

जहा चार वेद थे वहा चार उपवेद भी थे। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद था, यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद था, सामवेद का उपवद गान्धर्व-वेद था, जिसमे नृत्य, नाट्य, सगीत आदि सभी प्रौढि को प्राप्त कर चुके थे, अथर्ववेद का उपवेद-स्थापत्य वेद था, इसी उपवेद मे पारिभाषिक विज्ञान जैसे Engineering, Architecture आदि तथा यन्त्र-विज्ञान भी काफी प्रकर्ष को प्राप्त कर चुके थे। इस प्रकार एक शब्द मे यह कहा जा सकता है शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द, व्याकरण, इन छै वदांगो के साथ उपर्युक्त चार उपवेदो के द्वारा प्राय सभी विज्ञानो (Pure, Positive and Technical) का जन्म एव विकास हुआ।

धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव विरचित समरांगण सूत्रधार ही एक-मात्र पूर्व-मध्यकालीन, अधिकृत उपलब्ध शिल्प-ग्रन्थ है, जिस मे स्थापत्य की प्राय सभी प्रमुख कलाओ का प्रतिपादन है। अन्य प्राप्य वास्तु-शिल्प-ग्रन्थो मे केवल भवन-कला, नगर-कला, मूर्ति-कला के अतिरिक्त अन्य कलाओ की व्याख्या नही प्राप्त होती है। शिल्प रत्न एक प्रकार से अर्वाचीन ग्रन्थ है, जो उत्तर मध्यकाल के बाद लिखा गया था, उसमे भी इन तीनो कलाओ के साथ चित्र-कला का भी वर्णन है। इसी तरह अपराजित-पृच्छा मे भी इन चार प्रधान स्थापत्य कलाओं का प्रतिपादन है।

समरांगण-सूत्रधार ही एकमात्र ग्रन्थ है जिसमें निम्न छहो कलाओं का अधिकृत विवेचन है :—

१ भवन-कला	२ नगर-कला
३ प्रासाद-कला	४ मूर्ति-कला
५ चित्र-कला	६ यन्त्र-कला

अपराजित-पृच्छा को छोड़कर अन्य ग्रन्थों में जैसे मानसार एवं मयमत आदि में भवन-कला में भवन केवल विमान अथवा प्रासाद है। इस प्रकार से ये ग्रन्थ (Civil Architecture) से सर्वथा शून्य हैं। समरांगण-सूत्रधार ही हमारे देश में (Civil Architecture) का व्यापक ग्रन्थ है। चूंकि यह स्तम्भ आलेख्य एवं यन्त्र से सम्बद्ध है, अतः इस विषयान्तर पर पाठक हमारे भवन-निवेश को देखें।

समराङ्गण-सूत्रधार का अध्ययन :—अस्तु इस उपोद्घात् के उपरान्त हमें समरांगण-सूत्रधार के अध्ययन की ओर विद्वानों को आकर्षित करना है। भारत सरकार ने भारतीय-वास्तु-शास्त्र दश ग्रन्थ-प्रकाशन-आयोजन में अवश्य जिन छै ग्रन्थों के लिए अनुदान स्वीकृत किया था उसके अनुसार अपनी पुनः परिष्कृत योजना में निम्न प्रकाशन व्यवस्था की है :—

१—भवन-निवेश	भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद
	भाग द्वितीय—मूल एवं वास्तु-पदावली
२—प्रासाद-निवेश	भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद
	भाग द्वितीय मूल एवं शिल्प-पदावली
३ – यन्त्र एवं चित्र	भाग प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद
	भाग द्वितीय—मूल एवं चित्र-पदावली।

टि० :—प्रथम प्रकाशन (भवन-निवेश) के अनुसार ग्रन्थ-कलेवरानुरूप कुछ परिवर्तन भी अपेक्षित हो सकता है।

भवन-निवेश के दोनों भाग प्रकाशित हो चुके हैं। अब इन चारों भागों के प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है तो उपर्युक्त व्यवस्था में थोड़ा सा परिवर्तन अनिवार्य हो गया है। इन अवशेष चारों भागों को निम्न रूप प्रदान किया है जिसमें महती निष्ठा के साथ तथा सतत प्रयत्न एवं अध्यवसाय के साथ इन चारों ग्रन्थों को प्रकाश्य बना सका हूं, वे अवश्य ही विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे तथा हमारे पूर्वजों की पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक देन का मूल्याङ्कन भी हो सकेगा।

सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि हम राज-भवन को प्रासाद-निवेश में शिल्प-शास्त्रीय दृष्टि से सम्मिलित नहीं कर सकते। इस पर प्रासाद-निवेश में जो हमने परिपुष्ट प्रमाणों से इस सिद्धान्त को दृढ़ किया है वह वहीं पठनीय है। पुनश्च चित्र और यन्त्र ये सब ललित कलाएं राज-भवन के अभिन्न अंग थे। अतएव चित्र एवं यन्त्र को हमने, राज-निवेश, राज-भवन-उपकरण, राज-भोगोचित्त विलास-क्रीडाओं में सम्मिलित किया है। आलेख्य अर्थात् चित्र-कला एवं यंत्र जैसे आमोद, सेवक, द्वारपाल, योध, विमान, धारा एवं दोला आदि यन्त्रों का एकत्र व्यवस्थापन कर इस तृतीय खण्ड को द्वितीय खण्ड के रूप में प्रकल्पित कर दिया है। भारतीय स्थापत्य का सबसे प्रमुख शास्त्रीय एवं स्मारक प्रोल्लास प्रासाद-शिल्प (Temple Architecture) है। वह एक प्रकार से धर्मोन्नति तथा विलास है अतः उसको अन्तिम अर्थात् तृतीय खण्ड में व्यवस्थापित किया है। अतः जैसा ऊपर संकेत किया है कि प्रथम विभागी-करण से थोड़ा अन्तर होगा—अर्थात् तृतीय अध्ययन द्वितीय अध्ययन के रूप में परिवर्तित कर दिया गया है। अतएव निम्न अवशेष चारों भागों की तालिका उद्धृत की जाती है :—

१	यन्त्र एवं चित्र	भाग-प्रथम—अध्ययन एवं अनुवाद।
२	यन्त्र एवं चित्र	भाग-द्वितीय—मूल एवं वास्तु-शिल्प-चित्र-पदावली
३	प्रासाद-निवेश	प्रथम भाग अध्ययन एवं अनुवाद।
४	प्रासाद निवेश	मूल एवं शिल्प-पदावली।

राज संरक्षण में प्रोल्लसित स्थापत्य—इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम इस भूमिका में यन्त्र एवं चित्र पर शास्त्रीय दृष्टि से थोड़ा सा विचार अवश्य प्रस्तुत करना चाहते हैं। स्थापत्य को हम तीन तरह से समझने की कोशिश करें :—

अ चतुर्धा स्थापत्य अर्थात् स्थपति-योग्यताएं
ब स्थपति-कोटि-चतुष्टय
स अष्टांग स्थापत्य

जहां तक 'अ' और 'स' का प्रश्न है वह हम अपने भवन-निवेश में पहले ही प्रतिपादित कर चुके हैं। अत. यहां पर इन दोनों की अवतरणा आवश्यक नहीं। यहां पर स्थपति-कोटि-चतुष्टय की अवतारणा अनिवार्य है। मानसार, मयमत आदि तथा समरांगण-सूत्रधार आदि शिल्प एवं वास्तु ग्रन्थों में निम्न लिखित शिल्पियों की चार कोटियां प्राप्त होती हैं :—

१ स्थपति (Architect-in-Chief)
२ सूत्र-ग्राही (Engineer)
३ वर्धकि (Carpenter)
४ तक्षक (Sculptor)

जहा तक इस ग्रन्थ का सम्बन्ध है उसमे स्थपति, वर्धकि और तक्षक की कलायो का विशेष साहचर्य है। राज निवेशोचित एव राज-भोगोचित केवल चित्र-कलाए (मालेख्य एव पाषाणजा तथा धातुजा) ही अनिवार्य अग नही थी वरन् राज-भवनो मे शयन अर्थात् शय्या, आसन अर्थात् -सिंहासन आदि, पादुका, कघे आदि फर्नीचरो का भी इन कलाम्रो मे वर्धकि का कौशल माना गया है। अत हम इस ग्रन्थ मे शयनासन-सम्बन्धी अध्यायो को भी लाकर इस परिमार्जित सस्करण से वैज्ञानिक व्यवस्था प्रदान की है।

समरागण-सूत्रधार के परिमार्जित सस्करण का जहा तक भवन-निवेश का सम्बन्ध था यह हम भवन-निवेश के अध्ययन मे पहले ही कर चुके हैं। अब यहा पर इस भाग मे आगे के ग्रन्थ-अध्यायो के परिमार्जित सस्करण-तालिका उपस्थित करेंगे, परन्तु इससे पूर्व हम एक मौलिक आधार पर विद्वानो और पाठको का ध्यान आकर्षित करना है।

'चित्र पद का अर्थ एकमात्र आलेख्य नही है। स्थापत्य कौशल की दृष्टि से चित्र का पारिभाषिक एव शास्त्रीय अर्थ प्रतिमा है। इसीलिए पुराणो म (देखिए विष्णुधर्मोत्तर), आगमो मे (देखिए कामिकागम) तथा अन्य दाक्षिणात्य शिल्प-ग्रन्थो (जैसे मानसार, मयमत आदि) मे सभी मे चित्र अर्थात प्रतिमा के निर्माण मे तीन आधार-भौतिक (Fundamental) आकारानुरूप प्रकार बताए गए हैं :—

१ चित्र (Fully Sculptured)
२ अर्ध-चित्र (Half Sculptured)
३ चित्राभास (Painting)

पुन' परिमार्जन'—अतएव हमने चित्र के विवेचन मे समरागण का प्रतिमा-ग्रन्थ-कलेवर भी चित्र-निवेश के साथ व्यवस्थापित किया है। अत अब हम समरागण के इस अध्ययन मे अध्यायो के परिमार्जित सस्करण की दृष्टि से जो व्यवस्था की है, उसकी यह तालिका अब उद्धृत की जाती है।

भवन निवेश मे हमने समरांगण के ८३ अध्यायों मे से ३९ अध्यायो की वैज्ञानिक पद्धति से जो परिमार्जित एव सस्कृत अध्याय तालिका प्रस्तुत की है - वह

वहीं द्रष्टव्य है । यहां पर चालीसवें अध्याय से यह तालिका प्रस्तुत की जाती है। इसकी अवतारणा के पूर्व प्रमुख विषयों पर भी प्रकाश डालना उचित है, जो तीन खण्डों में प्रविभाज्य हैं।

अ राज-निवेश १. प्रारम्भिका;
२. राज-निवेश एवं राज-भवन;
३. राज-भवन-उपकरण—सभा, अश्व-शालादि,
४. राजभवनोचित फर्नीचर—शयनासनादि,
५. राज-विलासोचित—यन्त्रादि।

ब. राज-संरक्षण में प्रवृद्ध कलाएं—चित्र-कला (Painting)

स राज-पूजोपयोगी-प्रतिमा-शिल्प—प्रतिमा कला (Sculpture)

अ. राज-निवेश

परिमार्जित संख्या	अध्याय-शीर्षक	मौलिक संख्या
	प्रथम पटल—प्रारम्भिका	
४०	वेदी-लक्षण	४७
४१	पीठ-मान	४०
	द्वितीय पटल—राजनिवेश राज भवन एवं उपकरण	
४२	राज-निवेश	१५
४३	राज-गृह	३०
	राजभवन-उपकरण ।	
४४	सभाष्टक	२७
४५	गज-शाला	३२
४६	अश्व-शाला	३३
४७	नृपायतन	४१
	तृतीय पटल—शयनासनादि-विधान	
४८	शयनासन-लक्षण	२६
	चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान	
४९	यन्त्राध्याय	३१
	पञ्चम पटल—चित्र-लक्षण	
५०	चित्रोद्देश	७१
५१	भूमि-बन्धन	७२

राज-संरक्षण में पल्लवित एवं विकसित इन ललित कलाओं की ओर थोड़ा सा उपोद्घात एवं इस ग्रन्थ की परिमार्जित संस्करण की ओर पाठकों एवं विद्वानों का ध्यान दिलाकर अब हम इस अध्ययन की ओर जा रहे हैं। इस अध्ययन में हमें निम्नलिखित तीन स्तम्भों पर प्रकाश डालना है :—

१ राज-निवेश एवं राज-निवेशोचित भवन, उप-भवन एवं उपकरण ;

२ यन्त्र-विधान ;

३ चित्र-विधान ।

वैसे तो हमने अपने इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) में इन विषयों को निम्नलिखित षट् पटलों में विभाजित किया है, जो शास्त्रीय विषय-वैशिष्ट्य की ओर संकेत करता है :—

प्रथम पटल—प्रारम्भिका—वेदी एवं पीठ ।

द्वितीय पटल—राज-निवेश एवं राज-निवेशोपकरण ।

तृतीय पटल—शयनासन-विधान ;

चतुर्थ पटल—यन्त्र-विधान ;

पंचम पटल—चित्र-कर्म ;

षष्ठ पटल—चित्र एवं प्रतिमा के सामान्य अंग ।

परन्तु अध्ययन की दृष्टि से यथा-सूचित स्थपति-कोटि-चतुष्टय के अनुसार राज-निवेश स्थपति का कौशल है, शयनासन वर्धकि का कौशल है, यन्त्र तो वर्धकि एवं स्थपति दोनों के कौशल, हैं, ये स्वतः सिद्ध होते है। चित्र-कर्म तक्षक (Sculptor) और चित्र-कार (Painter), दोनों में विभावित हो सकता है। इस दृष्टि से हमने स अध्ययन को केवल तीन ही स्तम्भो मे परिशीलन समीचीन समझा। पहले हम राज-निवेश ले रहे हैं, जिसमे राज-निवेश, राज-भवन, राज-निवेश-उपकरण तथा राजोचित शयनासन तथा राज-विलासोचित यन्त्र भी गतार्थ हैं। अत इस प्रमुख स्तम्भ मे, इन सभी सहायक स्तम्भो पर अलग अलग कुछ विचार करेंगे।

यतः राज-निवेश एवं ललित कलाय एक प्रकार से आश्रय-आश्रयि-भाव-निबन्धन हैं, अतः ललित-कलाओं जैसे चित्र एवं प्रतिमा का पूर्ण समन्वय असमाव्य है, जब तक इस राजाश्रय की देन को हम स्मरण न करें।

राज-निवेश

राज-प्रासाद के निवेश मे सर्व-प्रमुख अग कक्षायें (Courts) थी। रामायण (देखिए दशरथ और राम के राज-प्रासाद-वर्णन) और महाभारत मे भी वैसी ही परम्परा पाई जाती है। राज-प्रासादों मे कक्षाओं का सन्निवेश मध्य-कालीन एव उत्तर-मध्य-कालीन किसी भी राज-प्रासाद को देखें तो उनमें कक्षाओं का सर्व-प्रमुख अंग दिखाई पड़ेगा। राज-निवेश में राज-निवेश-वास्तु का दूसरा प्रमुख अंग स्तम्भ बहुल सभायें, शालायें, सभा-मण्डप सभा-प्रकोष्ठ थे। जहा तक भूमिकाओं (Storeys) का प्रश्न है वह समरांगण-सूत्रधार की दृष्टि से राज-भवन मे कोई वैशिष्ट्य नही रखती। समरांगण-सूत्रधार मे राज-निवेश त्रिविध परिकल्पित किया गया है—शासनोपयिक अर्थात् राजधानी और राज्य-सचालन की दृष्टि से किस प्रकार से राज-निवेश परिकल्पित करना चाहिए; आवासोपयिक अर्थात् आवास की दृष्टि से राजा-रानियां विशेषकर महिषी, राजकुमार, राज-माता, अमात्य, सेनापति, पुरोहित आदि के वेश्मों के सस्थान आदि; पुनश्च राज-निवेश की तीसरी आवश्यकता विश्राम-भवन है। समरांगण-सूत्रधार में राज-भवनो को दो वर्गों मे वर्णित किया गया है—निवास-भवन तथा विलास-भवन।

यहां तक निवास-भवनों का प्रश्न है उनमे कक्षाएं अर्थात् शालाएं अलिन्द आदि विशेष महत्व रखते हैं। उनमे भौमिक भवनों (Storeyed Mansions) का कोई स्थान नहीं। परन्तु विलास-भवनों में भूमियों को अवश्य निवेश प्रदान

किया गया है। आवास की दृष्टि से वास्तु-शास्त्र-विन्यास भूमिकाओं का प्रयोग इस उष्ण-प्रधान देश में उचित नहीं माना गया। हां विलास-भवनों में भूमियों का न्यास शोभा-मात्र तथा वास्तु-विच्छित्ति-वैभव की दृष्टि से उत्तुङ्ग विमानकारों के कलेवर की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण माना गया है। चित्र-शालाएं, नृत्य-शालाएं, संगीत-शालाएं आदि भी भौमिक विमानों के सदृश परिकल्पित की गई थीं। ये सब विलास-भवन हैं।

मयमत और मानसार में जो विमान-वास्तु अथवा शाला-वास्तु का प्रतिपादन है, वह एक प्रकार से दाक्षिणात्य परम्परा का उद्बोधक है। हमारे देश में दो प्रमुख स्थापत्य-शैलियां विकसित हुई एक नागर, दूसरी द्राविड। द्राविड-कला नागों और असुरों की अति-प्राचीन कला से प्रभावित हुई। उत्तुङ्ग विमान शैलोपम, प्रसाद-शिखरावलि-प्रभा से द्योतित इन भवनों का विकास विशेषकर दक्षिण भारत की महती देन है। नाग और असुर महान् कुशल तक्षक थे। डा० जायसवाल ने अपने ग्रन्थ में इस ऐतिहासिक तथ्य पर विशेष कर भारशिव नागों पर पूर्ण प्रकाश डाला है। ये शुङ्ग एवं वाकाटक वंश से बहुत पूर्व माने जाते हैं। पुरातत्त्वीय अन्वेषणों (मोहेनजोदाड़ो, हड़प्पा आदि) के निदर्शनों से भी यह परम्परा पुष्ट होती है। नागर वास्तु-विद्या के विकास पर वैदिक संस्कृति का विशेष प्रभाव है। शालाएं ही उत्तरापथ की किसी भी भवन की अग्रजा थीं। शालाओं एवं शाल-भवनों के जन्म एवं विकास के सम्बन्ध में हमने इस ग्रन्थ के प्रथम अध्ययन (देखिए भवन-निवेश) में बड़ी ही मनोरंक कहानी तथा ऐतिहासिक तथ्यों का विश्लेषण किया है। मयमत और मानसार को देखें तो उत्तरापथीय यह शाला-वास्तु इन दाक्षिणात्य ग्रन्थों में विमान-वास्तु की गोद में खेलने लगा। विमानों के सदृश शालाएं भी भौमिक कल्पित की गई। शिखर तथा अन्य विमान भूषाएं भी उनके अंग बन गई।

अस्तु समरांगण-सूत्रधार की दृष्टि से राज-प्रासाद के निवेश में शालाओं के साथ अलिन्द (बरामदे) तथा स्तम्भ विशेष महत्व रखते हैं। इस अध्ययन के द्वितीय खण्ड (अनुवाद) में जो राज-निवेश एवं राज-गृह इन दो अध्यायों में जो विवरण प्राप्य हैं, उनसे यह औपोद्घातिक सिद्धान्त पूर्ण पुष्टि को प्राप्त होता है।

कोई भी भवन वास्तु-कला की दृष्टि से पूर्ण नहीं माना जा सकता, जब तक भव्य आकृति के लिए कुछ न कुछ विच्छित्तियों का अनिवार्य रूप से विन्यास

न बताया जाय। नागर-शैली के अनुसार राज-प्रासाद-स्थापत्य में महाद्वार, प्रतोली, अट्टालक, प्राकार, वप्र और परिखा इन साधारण निवेश-क्रमों के साथ जहां तक विच्छित्तियों का प्रश्न है, उनमें तोरण, सिंह-कर्ण, निर्यूह, गवाक्ष, वितान और लुमाओं की भूषा एक प्रकार से अनिवार्य मानी गई है।

आधुनिक विद्वानों ने वितान-वास्तु (Dome-Architecture)को फारस की देन (Persian Contribution) मानी है। इसी प्रकार से स्थापत्य पर कलम चलाने वाले लेखक धारागृहों, लाजवर्दी जैसे रंगों को भी फारस की देन मानते हैं। यह सब धारणाएं भ्रान्त हैं। लाजवर्दी का हमने अपने चित्र-लक्षण (Hindu Conons of Painting) में विष्णु-धर्मोत्तर के 'राजावर्त्त' से, तथा उत्तर-प्रदेश के पूर्वीय इलाकों में लजावर शब्द के प्रचार से, जो समीक्षा की है, उससे इस भ्रान्ति को दूर कर दिया है। अब आइए वितान की ओर। वितान का अर्थ Canopy है और लुमाओं का अर्थ एक प्रकार से पुष्प-विच्छित्तियां हैं। वितानों के प्रकार पचीस माने गये हैं और लुमाएं सम्यक् परिशीलित की गई हैं। समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र ११वीं शताब्दी का एक प्रौढ़ वास्तु-ग्रन्थ है। उससे पहले इस देश में फारस का प्रभाव नगण्य था। उत्तर-मध्यकाल (विशेष कर मुगलकाल) में फारस की बहुत सी परम्पराओं ने यहां पर अपने पैर जमाए, परन्तु इन वास्तु-वैभवों का पूर्ण परिपाक हो चुका था। मानकद ने भी अपराजित-पृच्छा की भूमिका में इस तथ्य का परिपोषण किया है। धारा-गृह तो हमारे देश में प्राचीन काल से राज-प्रासादों के प्रमुख अंग थे, अतः उन्हें फारस की देन मानना भ्रामक है। अस्तु, इस उपोद्घात के बाद राज-प्रासाद के नाना निवेशांगों पर दृष्टि डालना उचित है।

राज–निवेशांग

१. निवास	८. वाद्य-शाला
२. धर्माधिकरण-स्थान	९. वन्दि-मागध-वेश्म
३. कोष्ठागार	१०. धर्माध्यक्ष-शाला
४. अग्नि-भवन, वसु-भवन	११. स्वर्ण-कर्मान्त-भवन
५. महानस	१२. गुप्ति
६. भारवाह-मन्दिर	१३. प्रेक्षा-गृह
७. भोजन-स्थान	१४. रथ-शाला

१५.	गज-शाला	३८.	नाट्य-शाला
१६.	वापी	३९.	चित्र शाला
१७.	अन्तः पुर	४०	भेषज-मन्दिर
१८.	क्रीडा-दोला-आलय	४१.	हस्ति-शाला (२)
१९.	महिषी-भवन	४२.	क्षीर-गृह—गोशाला
२०	राज-पत्नी-भवन	४३	पुरोहित-सदन
२१.	राजकुमार-गृह-भवन	४४	अभिषेचनक-स्थान
२२.	राजकुमारी-भवन	४५.	अश्व-शाला—मन्दुरा
२३.	अरिष्टा-गृह	४६	राज-पुत्र-वास
२४.	अशोक-वनिका	४७	राज-पुत्र-विद्याधिगम-शाला
२५.	स्नान-गृह	४८	राज-मातृ-भवन
२६.	धारा-गृह	४९	शिबिका-गृह
२७	लता-गृह	५०	शय्या-गृह
२८.	दारु-शैल, दारु-गिरि	५१	आसन-गृह—सिंहासन-भवन
२९.	पुष्प-वीथी—पुष्प-वेश्म	५२	कासार तथा तड़ाग आदि
३०.	यन्त्र-कर्मान्त-भवन	५३	नलिनी-दीर्घिका
३१.	पान-गृह	५४	राज-मातुल-निकेतन
३२.	कोष्ठागार (२)	५५	राज-पितृव्य-भवन
३३.	आयुध-मन्दिर	५६	सामन्त-वेश्म
३४.	कोष्ठागार (३)	५७	देव-कुल
३५.	उदूखल-भवन तथा *शिला-यन्त्र*	५८.	होराज्योतिषी-भवन
३६.	दारु-कर्मान्त-भवन	५९	सेनापति-प्रासाद
३७.	व्यायाम-शाला	६०.	सभा

समरांगण-सूत्रधार के मूलाध्याय (राज-निवेश) में वर्णित इन निवेशों की इतनी सुदीर्घ तालिका देखकर हम इसी निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं, कि इस राज-निवेश मे आवास-निवेशों (Domestic Establishments) तथा शासन-निवेशों (Administrative Establishments)मे पार्थक्य तथा इन दोनो का भिन्न भिन्न निवेश-क्रम अर्थात् इन दोनो की भिन्नता नही प्रतीत होती है। बात यह है कि हम किसी भी स्मारक-निबन्धनीय राज-भवन या राज-प्रासाद को देखें तो हमे ये राज-पीठ शासनोपयिक एवं निवासोपयिक दोनों

सस्थानो के मिश्रण दिखाई देते हैं। राज-स्थान के नाना राज-भवन यही परम्परा पुष्ट करते हैं। मुगलो के राज-भवन भी यही पोषण करते हैं। हम सस्कृत कवियों के काव्यो (कादम्बरी, हर्ष-चरित्र आदि आदि) का परिशीलन करें, तो उनमे भी राज-भवनो की द्विविधा निवेश-प्रक्रिया का अवलम्बन किया गया है, जिस को हम वास्तु-शास्त्रीय दृष्टि से अन्तः शाला और बहिः शाला के रूप मे परिकल्पित कर सकते हैं। मुगलों के राज-पीठो को देखिए, उनमे भी दीवाने आम तथा दीवाने-खास भी इसी अन्तः शाला और बहिः शाला के अनुगामी थे।

यहाँ पर एक और भी ऐतिहासिक तथ्य की ओर सकेत करना है। पुरा राज-भवन का श्रीगणेश दुर्गों (Fortresses) से प्रारम्भ हुआ था। इन दुर्गों मे सब से प्रमुख अंग रक्षा-व्यवस्था-निवेश थे—जैसे महा-द्वार, गोपुर-द्वार, पक्ष-द्वार, अट्टालक, प्राकार, परिखा, वप्र, कपिशीर्षक, काष्ठवारिणी आदि आदि जो समरागण-सूत्रधार के इस राज-निवेश-शीर्षक अध्याय मे भी इसी प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। पुनः कालान्तर पाकर जो राज-ऐश्वर्य तथा राज-भोग राज-शासन तथा राज-संभार विकसित हुए तो स्वतः निवेशागो की संख्या भी बढती बढती इतनी बडी निवेश-सख्या हो गई।

शास्त्रीय दृष्टि से अब हम राज-निवेश के यथानिर्दिष्ट प्रमुख अगो पर प्रकाश डालेंगे, जिसमे राज निवेश मे प्रथम स्थान आवास-भवन है, पुनः विलास-भवन आते हैं। उस के बाद अनिवार्य उपकरण-भवन यथा सभा, गज-शाला, अश्व-शाला तथा राजानुजीवियो के आयतन-विशेष भी निर्देश्य हैं। इन सब पर हमे यहा विशेष प्रस्तार की आवश्यकता नही है, जो राज-निवेश-उपकरण-शीर्षक—अनुवाद पटल मे द्रष्टव्य हैं।

यहाँ पर सबसे बडी शिल्पदिशा से जो वास्तु-महिमा विवेच्य है, उसकी ओर अब हम कदम उठाते हैं।

कक्ष्या-निवेश—अलिन्द-निवेश :—शास्त्र एवं कला दोनो दृष्टियो मे राज-भवनो की प्रमुख विशेषता कक्ष्या-निवेश है। मानसार आदि दाक्षिणात्य ग्रन्थो मे तो अन्तः शाला और बहिःशाला के विवरण प्राप्त होते हैं, परन्तु समरागण-सूत्रधार मे शालाओ एवं अलिन्दो के ही विशेष विवरण राज-भवन-विन्यास मे प्राप्त होते हैं। सौभाग्य से हम ने जब यह देखा कि प्रायः प्रत्येक राज-भवन-प्रभेद के प्रत्येक मे कम से कम चार अलिन्द अनिवार्य हैं तो जहा अलिन्द होंगे वहा खुले आगन अवश्य होगे। बृहत्संहिता मे जो मुझे अलिन्द शब्द की निम्न

टीका :—

"अलिन्दशब्देन शालाभित्तेर्बहिर्ये गमनिका जालकावृतागणसम्मुखा" मिली है, इसने पूरा का पूरा संदेह निराकरण कर दिया। अतः समरांगण-दिशा मे भी जो निदर्शन प्राप्त होते है उसका भी परिपोषण इस ग्रन्थ से प्राप्त होता है।

राज-भवन-वास्तु-तत्व :—राज-प्रासाद व राज-भवन मेरी दृष्टि मे चारो भवन-शैलियो (प्रासाद-वास्तु, सभा-वास्तु (मण्डप—वास्तु), शाला-वास्तु तथा दुर्ग-वास्तु) के मिश्रण हैं। प्रासाद-वास्तु का अनुगमन इसमे विशेषकर शृंगो मे ही आभास प्राप्त होता है। समरांगण की दिशा मे आवास-भवन यतः अट्टालकादि, प्राकारादि विशेषो से ही विशिष्ट है, परन्तु विलास-भवन यत भौमिक भी है अतः उनमे शिखरावलिया एव अग-भूषायें विशेष विभाव्य है। अब आइये सभा-वास्तु की ओर। सभा-वास्तु की सर्व-प्रमुख विशेषता स्तम्भ-बहुलता है। विश्वकर्म-वास्तुशास्त्र मे नाना सभाओ का जो वर्णन प्राप्त होता है, उन मे विशेष महत्व स्तम्भ-सख्या का है। दक्षिण की ओर मुड़िये वहा जो मण्डप-वास्तु महान् प्रकर्ष को पहुचा था, उसमे भी यही स्तम्भ-बाहुल्य-विशेषता है। वहा के मण्डपो की शत-मण्डप, सहस्र-मण्डप, इन सज्ञाओ का अर्थ स्तम्भ-सख्या का द्योतक है अर्थात् सौ खम्भो वाले मण्डप या हजार खम्भो वाले मण्डप। किसी भी प्राचीन राज-प्रासाद-निदर्शन को देखे—मुगलो के अथवा राजस्थानियो के, सभी मे सभा-मण्डप, आस्थान-मण्डप आदि जितने भी वहा दृष्टिगोचर हो रहे हैं, उन सभी मे स्तम्भ-बाहुल्य भी साक्षात् प्रतीत होता है। तीसरा वास्तु-तत्व अर्थात् शाला-वास्तु, वह भी राज-भवन के मूल न्यास के प्रतिष्ठापक है। शाल-भवनो की कहानी, शाला का अर्थ (अर्थात् कक्ष्या, कमरा, चैम्बर), शाल-भवन-विन्यास प्रक्रिया, द्रव्याद्रव्य-योजना, योज्यायोज्य-व्यवस्था आदि आदि पर हम अपने भवन-निवेश मे इस सम्बन्ध मे बहुत कुछ कह चुके है, उसकी पुनरावृत्ति यहा आवश्यक नही। यहा तो केवल इतना ही सूच्य है कि इन राज-भवनो मे भी शालाएं ही सर्वाधिक विन्यास के अग हैं। अब आइये चौथे तत्व पर जिस पर हम पहले ही कुछ निर्देश कर चुके हैं अर्थात् महाद्वार, गोपुरद्वार, पक्षद्वार, अट्टालक, प्राकार, परिखा, वप्र आदि।

इन वस्तु-तत्वो की इस अत्यन्त स्थूल समीक्षा के उपरान्त अब हमे दो महत्वपूर्ण वास्तु-तत्वो पर भी प्रकाश डालना है। पहला प्रश्न यह है अथवा पहली समस्या यह कि राज-भवन, देव-भवन के अग्रज हैं या अनुज है? इस

प्रश्न को हम यहा नही लेना चाहते, इसका उत्तर हम अन्तिम अध्ययन (प्रासाद-निवेश) मे देंगे। जब तक हम प्रासाद-वास्तु की उत्पत्ति, प्रसृति, शैली, निवेश, अगोपाग, भूषा तथा अन्य निवेश—इन सब का जब तक शास्त्रीय एवं कलात्मक विवरण न प्रस्तुत किया जाय तो इस वैमत्य अथवा ऐकमत्य का समर्थन या खण्डन कैसे किया जा सकता है। अत: यह प्रश्न वही पर विश्लेषणीय है।

अब आइये दूसरे प्रश्न पर, प्राचीन राज-भवनो मे जो वितान-वास्तु (Dome architecture) के तत्त्व एव निदर्शन मिलते हैं, वे हमारे शास्त्र और कला के निदर्शन हैं अथवा ये फारस की देन हैं? आधुनिक वास्तु-कला-विशारदो ने भारत के वितान-वास्तु को फारस का श्रेय माना है। यह धारणा मेरी दृष्टि मे भ्रामक है। समरागण-सूत्रधार के राज-गृह-शीर्षक अध्याय मे राज-गृह की नाना विच्छित्तियो पर जो प्रवचन प्रदान किये गये हैं उनमे निर्यूह, कपोत-पाली, सिंह-कर्ण, तोरण, जालक आदि के साथ साथ वितान और लुमाओ पर भी बडे पृथुल प्रतिपादन प्राप्त होते हैं। वितानो की सख्या पचीस है (दे० अनु०) और लुमाओ की विधा है सात (दे० अनु०)। अब वितान का क्या अर्थ है एव लुमा का क्या अर्थ है—यह समझने का प्रयास करें। लुमा पौष्पिक विच्छित्ति (Flower-like decorative motif) है, जो वितान (Canopy) का अभिन्न अंग है। लुमा और लूपा शिल्प-दृष्टि से एक ही हैं। दाक्षिणात्य ग्रन्थो (दे० मानसार) मे लुमा के स्थान पर लूपा का प्रयोग है। रामराज ने जो लूपा की व्याख्या दी है, वह हमारे इस तथ्य का पोषण करती है। यह व्याख्या उद्धरणीय है :—

'A sloping and projecting member of the entablature etc. representing a continued pent-roof. It is made below the *cupola* and its ends are placed as it were, suspended from the architrave and reaching the slab of the lotus below'

इस दृष्टि से ये लुमाएं (पौष्पिक विच्छित्तिया) वितान (dome) की अभिन्न अग हैं। रामराज की परिभाषा ने लुमाओ को वितान (dome) के गोद मे क्रीडा करवा दी है। अतः वितान-वास्तु (Dome Architecture) हमारे देश की ही विभूति है। अपराजित-पृच्छा में भी जो लुमाओ और वितानो के विवरण प्राप्त होते हैं, वे भी इस सिद्धान्त को दृढ करते हैं। मानकद ऐसे आधुनिक अमित-कीर्ति इंजीनियर, जिन्होंने अपराजित-पृच्छा की भूमिका लिखी है, उस मे जो उन्होने अपना मत दिया है वह भी हमारी धारणा का समर्थन करती

यद्यपि वे कुछ विशेष इस सम्बन्ध मे मुखर नही हैं।

अब अन्त में जहा तक स्मारक-निदर्शनो का प्रश्न है, उनको अब हम यहा पर विशेष-विस्तार से नही छेड़ना चाहते हैं, अत. यह शास्त्रीय अध्ययन है। सुदूर अतीत मे निर्मित अशोक का राज-प्रासाद, जो काष्ठमय था, वह भी भभा-वास्तु का प्रथम निदर्शन है। साथ ही साथ इन्हीं स्तम्भो की विच्छित्तिया आगे चलकर प्रासाद-स्थापत्य जैसे आमलक एव गुप्त-कालीन-विच्छित्तियो यथा घट-पल्लव आदि सभी के प्रारम्भक है। सर्कप-नामक प्राचीन नगरी के भग्नावशेषो मे, अमरावती तथा अजन्ता के स्मारको मे, गुप्तकालीन राज-भवनों के निदर्शनो मे—ये सब वास्तु-तत्व प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं।

आगे चलकर मध्यकालीन राज-भवनो की अभिख्या देखें एव सुषमा निहारें तो हम राज-गृहो मे बड़े विस्तार-संभार प्राप्त होते है। विशेषकर उत्तर-मध्यकाल मे राजपूताना, बुन्देलखण्ड तथा मध्यप्रदेश मे जो राज-भवन बनें जैसे—धारा और ग्वालियर एव दतिया और ओरछा, अम्बर तथा उदयपुर एवं जोधपुर और जयपुर आदि इन नगरो मे जो राज-भवन-निदर्शन प्राप्त होत हैं, वे सब राज-भवनो की एक परम्परागत अटूट शैली एव श्रेणी के उद्बोधक हैं। जहा तक राज-भवन-वर्गों की बात है वह अनुवाद मे दृष्टव्य है। राज-भवन प्रधानतया द्विविध हैं निवास-भवन तथा विलास-भवन। दोनो के नाना पारिभाषिक भेद है जैसे पृथ्वीजय आदि वे सब वही पठनीय है। इस थोड़ी सी समीक्षा के उपरान्त समरागण के शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से थोडा सा राज-निवेश-उपकरणो पर भी सकेत आवश्यक है।

राज-निवेश-उपकरण :—इस ग्रन्थ मे सभा, गज-शाला, अश्व-शाला तथा आयतन (अर्थात राजानुजीवियो के घर जो राज-भवन से न्यून प्रमाण मे विनिर्मेय हैं,) ही विशेष उल्लेख्य हैं। जहा तक सभा, गजशाला का प्रश्न है उनके विवरण अनुवाद मे ही दृष्टव्य हैं, परन्तु अश्व-शाला के सम्बन्ध मे सबसे महत्वपूर्ण प्रतिपाद्य यह है कि किसी भी वास्तु या शिल्प ग्रन्थ मे इतना वैज्ञानिक, पारिभाषिक एव पृथुल प्रतिपादन नही प्राप्त होता। इस अध्याय मे कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द भी हैं, जिनका अर्थ बड़े ऊहापोह के बाद लग सका। उदाहरण के लिए लीजिए 'स्थानानि' इसका अर्थ स्थान है। परन्तु उत्तर प्रदेश के किसी पुर, पत्तन, ग्राम मे जाइये तो वहां पर जहा घोड़े बाधे जाते हैं, उनको थाना कहते हैं और ये थाने बड़े विशाल एवं विस्तृत बनाए जाते थे। अत. वास्तु-दृष्टि से यह पद (स्थान) थाना का पूर्ण परिचायक है। जिस

प्रकार अभी तक वेसर अथवा मण्डक अथवा अन्य अनेक वास्तु-पदो के जो अर्थ अज्ञेय थे, उनको मैंने महामाया की कृपा से ज्ञेय बना दिया। भवन-निवेश के 'चय' शीर्षक अध्याय को देखें, वहा पर 'चय', 'रुचक' आदि नाना पदो की जो व्याख्या दी है, उससे हमारा यह वास्तु-शास्त्र कैसा पारिभाषिक शास्त्र म परिणत हो गया है। अभी तक आधुनिक विद्वानो ने इन वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थो को पौराणिक अथवा कपोल-कल्पित अथवा मनगढन्त के रूप मे मूल्याकन करते आए हैं। अस्तु, अश्वशाला के भी विवरण वही अनुवाद मे अवलोक्य हैं। हा यहा पर थोडा सा सभा तथा अश्वशाला के प्रमुख निवेशागो पर थोडा सा प्रकाश आवश्यक है।

सभा :—सभा भवन-वास्तु की सर्व प्राचीन कृति है। वैदिक वाङ्मय तथा विशेष कर महाभारत एव रामायण मे सभाओ के अनेक उल्लेख एव विवरण मिलते हैं। महाभारत मे तो एक पर्व सभा पर्व के नाम से प्रथित है। जिसम यम-सभा, इन्द्र सभा, वरुण-सभा, कुबेर सभा, ब्रह्म-सभा आदि प्रकीर्तित है। इन सभा-भवनो की विशेषता वैदिक काल से लेकर आज तक स्तम्भ बाहुल्य वास्तु वैशिष्ट्य है। राज-भवनो मे जो अन्त शाला एव बहि शाला हैं वे भी सभा-भवन पर बनी हैं तथा वही विच्छित्तिया दर्शनीय हैं। अनुवाद भी यही समर्थन करता है।

अश्वशाला :— अब आइये अश्व-शाला की ओर, जिसमे निम्नलिखित निवशो का प्रतिपादन आवश्यक है :—

१ अश्वशाला-निवेश अगोपाग सहित,
२ अश्वशालीय सभार,
३ घोडो के बाधन की प्रक्रिया एव पद्धति,
४ अश्वशाला के उप-भवन (Accessory Chambers)

अश्व-शाला-निवेश अनुवाद में द्रष्टव्य है; परन्तु इसके प्रमुख निवेशाग निम्न हैं :

१. यवस-स्थान (Granary) जहा पर घास जमा की जाती है।
२. खादन-कोष्ठक (Manager) अर्थात् नाँदे ;
३. कीलक अर्थात् खूटे जिनके द्वारा उनका पश्चांगो-निग्रह अनिवार्य है।

इन सब निवेशों के विवरण-प्रमाण, आयाम, उचित-स्थान सब अनुवाद मे द्रष्टव्य है।

४ अश्वशालीय सभार—अग्नि स्थान, जल-स्थान, जनूरान-निवेश-स्थान आदि के अतिरिक्त जो सम्भार अनिवार्य है उनमें निःश्रेणी (Stai case), कुम्भ,

फलव, उद्दालव, गुडक, युक्त-योग, क्षुर, कैची, सीग, कुल्हाडी, नाद, प्रदीप, हस्तवासी, शिला, दर्वी, थाल, उपानह् जिटक तथा नाना वस्तियां—ये सब अनिवार्य सभार है ।

घोडो के बाधने की प्रक्रिया एव पद्धति याने (स्थानानि) इस पद पर हम पहले ही प्रकाश डाल चुके हैं। रघुवश (पाचवा सर्ग) देखिए "दीर्घेष्वमी नियमिता पटमण्डपेषु" इन स्थानो—थानो का समर्थन करता है। इन थानो का आमुख्य, स्थापन, दिड-आमुख्य, निवेश्य पद, आदि पर जो विवरण आवश्यक है वे सब वही अनुवाद मे द्रष्टव्य है।

अश्वशाला मे उप-भवन—भेषजागार या औषधि-स्थान (Medical Home)—इसके लिए निम्नलिखित चार उप-भवन (Accessory Chambers) अनिवार्य विवेश्य है —

१ भेषजागार (Dispensary)

२ अरिष्ट-मन्दिर (The lying-in-Chamber)

३ व्याधित-भवन (The hospital and sick-ward)

४ सर्वसम्भार-कक्ष (Medical Stores)

यहा पर सब प्रकार की औषधिया, तैल, नमक, वनिया आदि आदि सग्रहणीय हैं।

इन अश्व शालाओ क निर्माण मे वास्तु शास्त्र की दृष्टि से इन्हे विशाल बनाना चाहिए तथा इनकी दीवालो को सुधा बन्ध से दृढ करना चाहिए और इनमे प्राग्रीवो की अलकृति भी आवश्यक है। इससे इन अश्व शालाओ के द्वार उत्तु ग एव अलकृत दिखाई पडते है।

शयनासन

वास्तु की व्युत्पत्ति वस्तु पर निर्धारित है। वस्तु है भूमि वास्तु हुआ भौम या भौमिक। जो भी पार्थिव पदार्थ या द्रव्य है उसको जब किसी भी क्रिया स किसी भी कृति मे हम परिणत कर देते हैं तो वह वास्तु बन जाता है। समरागण-सूत्रधार का यह निम्न प्रवचन इसी तथ्य एव सिद्धान्त को दृढ करता है : -

'अमत येन भवद द्रव्यं मेय तदपि कथ्यते'—'मय' मे वास्तु के मान का महत्व-पूर्ण स्थान विहित है । बिना प्रमाण कोई भी वास्तु निश्चित कृति मे नही परिणत हो पाता । अतएव भारतीय वास्तु-शास्त्र का क्षेत्र बडा ही व्यापक है। वह सार्वभौमिक तो है ही साथ ही साथ आधिदैविक एव

आधिभौतिक भी है । वास्तु से तात्पर्य केवल पुर, नगर, भवन, मन्दिर या प्रतिमा मात्र से नहीं। जो भी निवेशित है, जो भी मानित है वह सब वास्तु है। इस व्यापक दिशा मे तक्षण, दारुकर्म, आलेख्य-कर्म आदि भी गतार्थ हैं।

स० सू० का यह शयनासन-शीर्षक अध्याय बडा ही वैज्ञानिक, पारिभाषिक एव अनुपम है । अन्य किसी ग्रन्थ मे ऐसा पृथुल एव प्रवृद्ध शयनासन-विषयक प्रतिपादन नहीं मिलता। मानसार, मयमत आदि शिल्प ग्रन्थो मे वास्तु-क्षेत्र मे धरा यान, स्यन्दन (अथवा पर्यंक) तथा आसन ये हो चतुर्थ क्षेत्र हैं तथापि इन ग्रन्थो मे यहा सिंहासनादि एवं अन्य पजर तथा नीडादि, दोलादि दीप-दण्डादि नाना फर्नीचर के भी विवरण है तथापि वहा शय्या पर इतने वैज्ञानिक एव परिमार्जित विवरण नही मिलते।

शय्या अथवा आसन आदि इन विधानो के लिये सर्व प्रथम शुभ लग्न, शुभ मुहूर्त आवश्यक है। इन शय्याओं एव आसनो के निर्माण मे किस किस वृक्ष की लकडी लानी चाहिए—ये विस्तार बडे पृथुल हैं (दे० अनुवाद)। राजो, महाराजो के लिए जो शय्या विहित है उसमे स्वर्ण, रजत हस्तिदन्त आदि की जडावट आवश्यक है। शय्या की लम्बाई और चौडाई भी व्यक्ति-विशेष के अनुरूप विहित है। राजाओं की शय्या १०८ अगुल के प्रमाण मे बतायी गयी है चौडाई से दुगुनी सदैव लम्बाई होनी चाहिए।

एक-दारु-घटिता खट्वा प्रशस्त मानी गयी है। द्वि-दारु-घटिता शय्या अनिष्ट बतायी गयी है। तथा त्रिदारु-घटिता शय्या तो शयालु की तात्कालिक मरण बताती है :—

"त्रिदारुघटितायां तु शय्यायां नियतो वध"

शय्याओं मे जो पारिभाषिक वास्तु-पद दिये गये हैं, वे है—उत्पल, ईषा-दण्ड, कुम्भ तथा पाद। सबसे बडी विशेषता यह है कि घटिता शय्या मे ग्रन्थियां कभी नही होनी चाहियें। ग्रन्थियां अथवा छिद्र दोनो ही वर्ज्य हैं। ग्रन्थियो की निम्न षड्विधा दृष्टव्य है :—

निष्कुट	कोहनयन	कालक
कालदृक्	वत्सनाभक	बन्धक

इन सबके विवरण अनुवाद मे अवलोकनीय है । अतः यहा पर इतना सूच्य है कि शय्या कैसी वैज्ञानिक प्रक्रिया से बनती थी। इसी प्रकार आसन, पादुका, कपं आदि भी इस शयनासन-विधान मे वर्णित किये गये हैं। अब आइये यन्त्र-विधान (यन्त्र-कला अर्थात् Mechanics) की ओर।

राज-विलास
(नाना यन्त्र)

यन्त्र-घटना—महाकवि कालिदास के महाकाव्य (देखिए रघुवंश) में पुष्पक-विमान का जो उल्लेख है, उसी प्रकार से पुराणों में बहुत से संकेत प्राप्त होते हैं उनमें जो यह परम्परा विमानों की ओर संकेत करती है, वह अभी तक कपोल-कल्पना के रूप में कवलित की गई है । यन्त्र शब्द तन्त्र के समान ही बड़ा ही प्राचीन है । मेरी दृष्टि में तन्त्र वास्तव में शास्त्र अर्थात् पारिभाषिक शास्त्र की संज्ञा थी और यन्त्र एक प्रकार से पारिभाषिक कला थी । जो यन्त्र वही मशीन । मानव सब कुछ अपने हाथों से नहीं कर सकता था, अतएव प्रत्येक जाति एवं देश की सभ्यता में यन्त्रों का जन्म एवं विकास प्रादुर्भूत हुआ । वात्स्यायन ने काम सूत्र में जिन ६४ कलाओं का विलास वर्णित किया गया है, उनमें यन्त्र मातृका भी तो थी । आज तक कोई भी विद्वान् इस कला की परिभाषा न दे सका, न समझ ही सका । डा० आचार्य ने अपने ग्रन्थ में (H A I A) जिन्हों ने इस कला की निम्न व्याख्या की है —

"the art of making monographs, logographs and diagrams Yasodhara attributes this to Visvakarma and calls Chatana sastra (*Science of accidents*)"

अर्थात् जिस दृष्टि से अर्थात् यशोधर की *व्याख्या से आदरणीय डा० आचार्य जिस निष्कर्ष को पहुँचे हैं वह सर्वथा भ्रान्त है । उस काम-सूत्र के लब्ध-प्रतिष्ठ व्याख्याकार यशोधर की इसी व्याख्या से ही मैंने इस कला को* वास्तविक रूप में ला दिया है । यशोधर ने इस कला की व्याख्या में लिखा है —

"सजीवानां निर्जीवानां यानोदकसंग्रामार्थंघटनाशास्त्रं विश्वकर्मप्रोक्तम्"

इस परिभाषा से स्पष्ट है कि यान से तात्पर्य विमानादि (Conveyance and aeroplanes) यन्त्रों से है, उदक से तात्पर्य धारा तथा अन्य जलीय यन्त्रों से है तथा संग्राम से अर्थ संग्रामार्थ यन्त्रों से है, जिनकी परम्परा वैदिक, ऐतिहासिक एवं पौराणिक सभी युगों में पूर्ण रूप से प्रवृत्त थी—जैसे आग्नेयास्त्र (Fire Omitter), इन्द्रास्त्र (Anti-Agneya Rain-producer), वारुणास्त्र (Producing terrible end violent storms)। इसी प्रकार महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भुशुण्डी, शतघ्नी तथा सहस्रघ्नी को आजकल आधुनिक *मशीनगन, स्टेनगन और* टैंकों के साथ *प्रकल्पित* किये

जा सकते हैं । परन्तु यह निस्सन्देह है, जैसा हमने ऊपर संकेत किया है, उस दृष्टि से यह निष्कर्ष कि हम लोग यान्त्रिक-कला एवं यन्त्र-विज्ञान से सर्वथा शून्य थे, अपरिचित थे—यह धारणा निराधार है। अब देखें कि समरांगण-सूत्रधार का यह यन्त्राध्याय किस प्रकार से इस भ्रान्त धारणा को उन्मूलन कर देता है। इस के प्रथम थोड़ा सा और उपोद्घात् आवश्यक है।

हम बहुत बार पाठकों का ध्यान आकर्षित कर चुके हैं कि जहा वेद थे वहा उपवेद भी थे। उपवेद ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्रों के जन्मदाता एवं प्रतिष्ठापक थे। यन्त्र-विद्या, धनुर्विद्या की अभिन्न अंग थी। धनुर्विद्या, धनुर्वेद के नाम से हम मौलिक कर सकते हैं, क्योंकि जिस प्रकार ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, उसी प्रकार से यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद (Military Science) था। 'धनु' शस्त्रों एवं अस्त्रों का प्रतीक था। शस्त्र हमारे वाङ्मय में चतुर्विध वर्गीकृत किये गये हैं :—

१ मुक्त	३ मुक्तामुक्त तथा
२ अमुक्त	४ यन्त्र-मुक्त

उपर्युक्त शतघ्नी, सहस्रघ्नी, चाप आदि सब यन्त्र-मुक्त शस्त्रास्त्र बोधव्य हैं। डा० राघवन ने अपने Yantras or Mechanical Contrivances in Ancient India नामक पुस्तक में संस्कृत-वाङ्मय में आपतित यन्त्र सन्दर्भों पर पूरा प्रकाश डाला है। परन्तु उनकी दृष्टि में यन्त्र की व्याख्या उन्होंने यन्त्र-विज्ञान न मान कर यन्त्र-घटना अथवा गढ़न के रूप में परिकल्पित किया है। परन्तु समरांगण-सूत्रधार के यन्त्राध्याय के नाना प्रवचनों से यन्त्र-विज्ञान की ओर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। अतः बिना dogmatic approach के हम आगे वैज्ञानिक ढंग से कुछ न कुछ इस तथ्य का पोषण अवश्य कर सकेंगे कि हमारे देश में यन्त्र-विद्या (यन्त्र-विज्ञान) भी काफी प्रवृद्ध थी, जो महाभारत के समय की बात थी, परन्तु पूर्व एवं उत्तर मध्य-काल में इसका ह्रास हो गया। अतएव समरांगण-सूत्रधार के अतिरिक्त इसी के लेखक धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव के द्वारा ही विरचित कोदण्ड मण्डन, इन दो ग्रन्थों को छोड़कर अन्य ग्रन्थ एतद्विषयक प्राप्त नहीं हैं। अतएव यन्त्र-विद्या तथा यन्त्र-विज्ञान को आधुनिक दृष्टि से हम पूरी तरह नहीं ला सकते। यही कारण है कि डा० राघवन ने Mechanical Contrivances इस शीर्षक से यन्त्रों की खोज की। अन्यथा Science लिखना विशेष उपयुक्त था। समझने की बात है, विचारने की भी बात है कि कुसुम-भीतार के विस्तरण

अशोक का लौह-स्तम्भ किस यन्त्र के द्वारा आरोपित किया गया था और कैसे बना था—केवल यही ऐतिहासिक निदर्शन हमारे लिये पर्याप्त है कि हमारे देश मे यान्त्रिक एवं इन्जीनियरिंग कौशल किसी देश से पीछे नहीं था। समरांगण-सूत्रधार (मूल ३१.८७, परिमार्जित संस्करण ४६ ८७) का निम्न प्रवचन पढें :—

पारम्पर्यं कौशलं सोपदेशं शास्त्राभ्यासो वास्तुकर्मोद्यमो धी: ।
सामग्रीयं निर्मला यस्य सोऽस्मिश्चित्राण्येव वेत्ति यन्त्राणि कर्तुम् ॥
यन्त्रणा घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात्
तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदा. ॥

अस्तु, इस उपोद्घात के बाद हम इस स्तम्भ मे यन्त्र-विज्ञान, उसके गुण, प्रकार एवं विधा को एक एक करके विचार करेंगे, जिससे पाठक इस उपोद्घात का मूल्यांकन कर सकने मे समर्थ हो सकेंगे। अनुवाद भी पढकर कुछ विशेष आश्चर्य का अनुभव कर सकेंगे कि हमारे देश मे यह विज्ञान सर्वथा अवश्य था।

यन्त्र-परिभाषा देखिए अनुवाद
यन्त्र-बीज देखिए अनुवाद
यन्त्र-प्रकार देखिए अनुवाद
यन्त्र गुण देखिए अनुवाद

यहा पर अनुवाद-स्तम्भ की ओर तो ध्यान आकर्षित कर ही दिया, परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि यन्त्र-परिभाषा एवं यन्त्र-बीज पर जो लिखा गया है वह कितना वैज्ञानिक है इस से अधिक और क्या वैज्ञानिक परिभाषा एवं वैज्ञानिक बीज (Elements) निर्धारित किये जा सकते है। प्रकारो पर जो प्रकाश डाला गया है—जैसे स्वयंवाहक (automatic), सकृत्प्रेर्य (Requiring propelling only once), अन्तरित वाह्य (operation of which is concealed, i e the principle of its action and its motor mechanism are hidden from public view) तथा अदूर-वाह्य (the apparatus of which is placed quite distant)—यह सब कितना वैज्ञानिक एवं विकसित सा प्रतीत होता है। साथ ही साथ शायद ही आज के युग मे भी यन्त्र-गुणो की बीस प्रकर्षताओ पर जो प्रकाश इस ग्रन्थ मे डाला गया है, वह सम्भवत कही पर भी प्राप्य नहीं है। यन्त्र-गुणो की तालिका सुसम्बद्धा यहा पर अतएव अवतरणीय है :—

१ यथावद्बीज-संयोग (Proper combination of bijas in proportion),

२ सौश्लिष्ट्य Attribute of being well-knit construction.

३ श्लक्ष्णता Smoothness and fineness of appearance.

४ अलक्ष्यता Invisibleness or inscrutability.

५ निर्वहण Functional · Efficiency.

६ लघुत्व Lightness.

७ शब्द हीनता Absence of noise where not so desired.

८ शब्दाधिक्य Loud noise, if the production aimed at, is sound

९ अशैथिल्य Absence of Looseness.

१० अगाढता Absence of stiffness.

११ सम्यक्-सञ्चरण Smooth and unhampered motion in all co veyances

१२ यथाभीष्टार्थकारित्व Fulfilling the desired end i. e. production of the intended effects (in cases where the ware is of the category of curos)

१३ लयताल-अनुगामित्व Following the beating of time, the rhythmic attributes in motion (particularly in entertainment wares).

१४ इष्टकाल-अर्थदर्शित्व Going into action when required

१५ पुन. सम्यक्त्व-संवृति Resumption on the still state when so required.

१६ अनुल्वणत्व Beauty i. e. absence of an uncouth appearance

१७ ताद्रूप्य Versimilitude (in the case of bodies intended to represent birds and animals)

१८ दार्ढ्य Firmness

१९ मसृणता Softness.

२० चिर-काल-सहत्व Endurance.

यन्त्र-कार्य :—देखिए अनुवाद ।

यन्त्र-कर्म मे जो गमन, सरण, पात, पतन, काल, शब्द, वादित्र आदि जो इस ग्रन्थ मे निविष्ट किये गये हैं, उनमे आधुनिक नाना मशीनो जैसे घड़िया, रेल, मोटर, रेडियो, वारि तथा विमान (aeroplane) सभी प्रकल्प्य प्रतीत होते है ।

आधार-भौतिक क्रिया-कौशल की दृष्टि से प्रथम तो क्रिया ही मौलिमा-लायमान एवं मूर्धन्य है जिस से गमन, पतन, पात, सरण आदि विभ व्य हैं।

जहाँ तक काल का प्रश्न है, उससे आधुनिक घड़ियों की ओर संकेत है—यह तो हम ऐतिहासिक दृष्टि से पुष्ट कर सकते हैं कि उस प्राचीन एवं मध्यकालीन युग में जल-घड़िया तथा काष्ठ-घड़िया तो विद्यमान थी ही।

जहा तक शब्द-विद्या का प्रश्न है वह आधुनिक वाद्य-यन्त्र की ओर सकेत कर रही है, क्योंकि वादित्र—गीत, वाद्य एवं नृत्य के साथ जो अन्य नाना बाजो जैसे पटह, मुरज, वंश, वीणा, कास्यताल, तृमिला, करताल और नाटक, ताण्डव, लास्य, राजमार्ग देशी आदि, नृत्यो एव नाट्यो की ओर जो सकेत है, वे क्या तत्कालीन आधुनिक रेडियो की ओर सकेत अथवा मूल भित्ति (Foundation) की ओर हमे नही ले जा सकते अन्यथा यन्त्रो के द्वारा इनकी निष्पत्ति, प्रादुर्भाव या आविर्भाव की ओर व्याख्यान करने का क्या अभिप्राय है ?

यन्त्र-कर्मों मे उच्छ्राय-पात, सम-पात, समोच्छ्राय एव अनेक उच्छ्राय-प्रकारो पर, जो प्रकाश इस ग्रन्थ-रत्न मे प्राप्त होता है, उससे महावैज्ञानिक वारि-यन्त्रो तथा धारा-यन्त्रो की पूरी पूरी पुष्टि प्राप्त होती है।

इसी प्रकार नाना-विध यन्त्रो के कर्मों पर भी प्रकाश डाला गया है—जैसे रूप, स्पर्श तथा दोला एव क्रोडायें एव कौतुक एव आमोद। सेवा (Service) रक्षा (defence) आदि कार्य भी इन्ही यन्त्रो के द्वारा उल्लेख किये गये है। यह आगे के स्तम्भ यन्त्र-प्रकार से स्वत परिपुष्ट हो जाता है।

यान-मातृका की परिभाषा की हमने जो वैज्ञानिक व्याख्या सर्व प्रथम इस भारत-भारती (Indology) मे पाठको के सामने रक्खी है उसी के अनुसार यह समरागण-सूत्रधार भी उसी ओर हमे ले जा रहा है। समरागण सूत्रधार के इस यन्त्राध्याय मे जो नाना यन्त्र वर्णित किये गये है उनको हमने निम्न षड्-विधा मे वर्गीकृत किया है :—

१ **आमोद-यन्त्र** —इस वर्ग मे

(i) भूमिका-शय्या प्रसर्पण

(ii) क्षीराब्धि-शय्या

(iii) पुत्रिका-नाडी-प्रबोधन

(iv) नायिका-प्रबोधन-यन्त्र

(v) गोल-भ्रमण-यन्त्र Chronometre-like-object
(vi) नर्तकी-पुत्रिका Dancing Doll
(vii) हस्ति-यन्त्र
(viii) शुक-यन्त्र

२ सेवा एवं रक्षा-यन्त्र :—

(i) सेवक-यन्त्र
(ii) सेविका-यन्त्र
(iii) द्वार-पाल-यन्त्र
(iv) योध-यन्त्र
(v) सिंहनाद-यन्त्र

३ संग्राम के यन्त्र:—इन के केवल संकेत हैं, परन्तु घटना पर प्रकाश नही डाला गया है । इनमे चाप, शतघ्नी, उष्ट्र-ग्रीवा आदि संग्राम-यन्त्र ही सूचित हैं ।

४ यान-यन्त्र :—अम्बरचारि-विमान-यन्त्र को हम अन्त मे परिपुष्ट करेंगे ।

५ वारि-यन्त्र :—इसमें जैसा पीछे संकेत किया जा चुका है उसकी चतुर्धा कोटि है :—

(i) पात-यन्त्र
(ii) उच्छ्राय-यन्त्र
(iii) पात-समोच्छ्राय-यंन्त्र
(vi) उच्छ्राय-यन्त्र

इन चारो का मौलिक उद्देश्य द्विविध है :-

एक तो क्रीडार्थ दूसरा कार्य-सिद्धयर्थ । दूसरी कोटि पात यन्त्र की प्रतीक है और पहली कोटि दूसरो, तीसरी, चौथी से उदाहृत एवं समन्वित है । इन चारो विधाओं की विशेषता यह है कि पहले से अर्थात् पात-यन्त्र से ऊपर एकत्रित किए गए जलशाय से नीचे की ओर पानी छोड़ा जाता है । दूसरा यथानाम (उच्छ्राय-समपातयन्त्र) जहा पर जल और जलाशय दोनों एक ही स्तर पर रखकर जल छोडे जाते हैं । तीसरी विधा पात समोच्छ्राय-यन्त्र का वैशिष्ट्य यह है कि इसमे एक बड़ी मनोरञ्जक तथा उपादेय प्रक्रिया तथा पद्धति का आलम्बन किया जाता है जो गड़े हुए खम्भो (Bored Columns) के द्वारा ऊँचे स्तर से नीचे की ओर पानी इन्ही खम्भो के द्वारा लाया जाता है जो हम आधुनिक टंकियो मे भी वैसा ही देखते हैं । चौथी विधा को हम आधुनिक Boring के रूप मे विभाजित कर सकते हैं ।

समरागणके इस यन्त्राध्याय मे इन चारो वारि-यन्त्रो के अतिरिक्त और भी वारि-यन्त्र सकेतित किए गए हैं जैसे दारुमय-हस्ति-यन्त्र जिसमे कितना वह पानी पी रहा है कितना छोड रहा है—यह दिखाई नही पडता। उसी प्रकार फौहारो underground conduit) का भी इन विवरणो से ऐसे निदर्शन प्राप्त होते हैं। भारत की विख्यात नगरी चडीगढ के समीप एव अति प्रख्यात तथा अत्यन्त अनुपम जो मुगल—कालीन विलास भवन पिञ्जोर उद्यान के नाम से यहा पर पर्यटको का आकर्षक केन्द्र है, वहा पर इस प्रकार के वारि एव धारा यन्त्रो की सुषुमा देखें तो हमारे प्राचीन स्थापत्य-कौशल का पूर्ण परिपाक इन निदर्शनो से भी पूर्ण प्रत्यक्ष दिखाई पडता है।

६ धारा-यन्त्र—हम वारि-यन्त्रो के साथ इन धारा-यन्त्रो को नही लाए। धारा गृह स० सू० के इस यन्त्राध्याय मे बडे ही विवरणो एव प्रकारो से प्रतिपादित हैं। वे विवरण इतने मनोरजक, पारिभाषिक तथा पृथुल हैं जिनको हम पूर्ण स्थापत्य का विलास मानते है। स्थपति की चार श्रेणीया है :—

१ स्थपति   २ सूत्रग्राही
३ वर्द्ध कि तथा   ४ तक्षक

धारा-यन्त्रो के निर्माण मे इन चारो का कौशल एव विलास दिखाई पडता है। धारा-गृहो के निम्न पाच वर्ग प्रतिपादित किए गए हैं —

१ धारा गृह
२ प्रवर्षण
३ प्रणाल
४ जलमग्न
५ नन्द्यावर्त।

धारा-गृह—एक प्रकार से उद्यान क Shower Bower के रूप मे विभावित कर सकते है। इस प्रकार का धारा-गृह मध्यकालीन युग मे सभी राज-भवनो—प्रावास-भवनो एव विलास-भवनो के अनिवार्य अग थे। यह धारा गृह पौर्वात्य एव पाश्चात्य दोनों सस्कृतियो के प्रोल्लास माने गए है। जिस प्रकार वितान-वास्तु (Dome Architecture) को जो नवीन दृष्टि से समीक्षा की है और यह धारणा कि यह वास्तु-तत्व फारस् की देन है, वह कितनी भ्रामक धारणा है उसको स० सू० के वितान और लुमा वास्तु-शिल्प के द्वारा जो निराकरण किया वह पीछे द्रष्टव्य है उसी प्रकार जिन विद्वानों की यह धारणा है कि ऐसे धारा-गृहो का मुगलो ने यहा पर श्रीगणेश किया था, वह भी अत्यन्त

प्राप्त है। यह ग्रन्थ ग्यारहवी शताब्दी का अधिकृत ग्रन्थ है, जिसमे धारा-गृहो के नाना प्रकार एवं स्थापत्य-कौशल के जो प्रचुर प्रमाण मिलते हैं उससे यह धारणा अपने आप निराकृत हो सकती है । मध्यकालीन स्मारको में कोई भी ऐसा धारा-यन्त्र इस देश मे नहीं प्राप्त होता है जो मुगलो से पूर्व बना हो। अस्तु तथापि संस्कृत के विभिन्न प्राचीन काव्यों को देखें—कालिदास, भारवि, माघ सोमदेव-सूरि, जिनके काव्यो मे इन धारा-यन्त्रो के बडे आकर्षक और महत्वपूर्ण संदर्भ प्राप्त होते हैं । कालिदास के मेघदूत की निम्न पंक्ति पढ़ें :-

"नेष्यन्ति त्वा सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्"

सोमदेव-सूरि के टीकाकार इन धारा-गृहों में जो हमने एक प्रवर्षण की विधा दी है, इसको "कृत्रिम-मेघमन्दिरम्" नाम से प्रकीर्तित किया है। इस ग्रन्थ मे भी इस विधा को "अनुरकणमेकं जलमुचाम्" के नाम से स्वयं प्रतिपादित किया है । धारा-गृह को हम उद्यान की शोभा के रूप मे पहले ही कीर्तित कर चुके हैं। प्रवर्षण पर भी थोडा सा संकेत ऊपर कर चुके हैं। तीसरा प्रकार प्रणाल के नाम से विश्रुत है जो एक दुतल्ला धारा-गृह बनाया जाता है, जिसमे एक अथवा चार अथवा आठ अथवा सोलह खम्भे बनाए जाते हैं, तो पुष्पक-विमान के रूप मे निर्मित होता है। इस धारा-गृह के केन्द्र में जलाशय का निर्माण होता है, जिसमे एक पद्माकृति पीठ बनाया जाता है। वहीं पर राजा के बैठने की जगह बनाई जाती है और चारो ओर सुन्दर युवतियों की प्रतिमाए बनाई जाती है, जिनकी आखें इस पद्म को देखती हुई दिखाई जाती हैं। ज्यो ही ऊपर का जलाशय पानी से भर दिया जाता है और बन्द कर दिया जाता है त्यो ही इन प्रतिमा-चित्रो से पानी निकलने लगता है और एक महान् मनमोहक वातावरण उत्पन्न होता है और इस प्रकार से वहाँ पर राजा बैठा हुआ जल से भीगता हुआ आनन्द लेता है।

जलमग्न यथानाम जलाशय के भीतर वरुण अथवा नागराज के प्रासाद के समान यह प्रासाद विभाव्य है। यह एक प्रकार का अन्तःपुर है। यहा पर केवल थोडे से ही प्रधान पुरुष जैसे राजकुमार,, .राजदूत यहा पर आ सकते हैं। पाचवी कोटि नन्द्यावर्त की है, जिसके निर्माण मे स्थापत्य एवं चित्र-कौशल भी अनिवार्य हैं, क्योंकि-यह धारा-गृह नन्द्यावर्त, स्वस्तिक आदि विच्छित्तियो से अलकृत होना आवश्यक है। यह आसन्नमिचोनी-के लिए बड़ा उपादेय माना

गया है। इस स्थूल समीक्षा के उपरान्त हमारा यह संकेत है कि पाठक इस ग्रन्थ मे अनुवाद-स्तम्भ को ध्यान से पढें तो इस कारीगरी और स्थापत्य-कौशल का कितना महत्वपूर्ण मूल्यांकन प्राप्त हो सकेगा।

*७ दोला-यन्त्र—इसको रथ-दोला भी कहते हैं। धारा-गृह के समान इसके भी पांच निम्न प्रकार वर्णित किये गए है:—

१. वसन्त २ मदनोत्सव ३ वसन्त-तिलक ४ विभ्रमक तथा ५. त्रिपुर।

जहा कहीं भी हमारे देश मे मेले होते हैं वहा पर झूले अवश्य गाडे जाते है और बच्चे उन पर चढ़कर प्रसन्न होते हैं, घूमते हैं और घुमाये जाते हैं। लेकिन ये झूले स्थापत्य-कौशल की दृष्टि से कोई अर्थ नहीं रखते। स० सू० के इस यंत्राध्याय मे दोला यन्त्रो के जो विवरण प्राप्त होते हैं वे इतने प्रकृष्ट हैं कि वे साक्षात् यन्त्र है, जिन मे यन्त्र ही उनको चलाते है। जो रूप झूलों के हम आज देखते हैं, वे अति सामान्य हैं। अनुवाद को यदि आप देखें तो कोई दोला जैसे वसन्त-तिलक, वह द्विभौमिक है और त्रिपुर तो ऐसा आभास प्रदान करेगा मानो तीन नगरियां दिखाई पड रही हैं। इन सब के विवरण अनुवाद में ही द्रष्टव्य हैं। हमने अपने Vastusastra—Vol. I Hindu Science of Architecture with special reference to Bhoja's Samrangana-Sutradhara मे इस की जो विशेष समीक्षा की है और वैज्ञानिक ढग से प्रतिपादन किया है, वह इस ग्रन्थ मे विशेष द्रष्टव्य है।

विमान-यन्त्र:—अब आइये यान-यन्त्र पर। हमे उस पर विशेष रूप से कीर्तन करना है यान-यन्त्र की जो श्रेणी हमने चौथी दी थी उसको यहा पर अन्तिम विधा मे विवेच्य माना है। इस यन्त्राध्याय म यान यन्त्र अर्थात् विमान-यन्त्र पर जो प्रतिपादन है, वह इस यन्त्र की सब से बडी विभूति है, जिसका अन्य शिल्प-ग्रन्थ मे कोई भी विवरण नहीं है। कालिदास से लगाकर आगे के नाना ग्रन्थों—काव्यो, नाटको आदि मे यद्यपि सर्वत्र ही संकेत प्राप्त है, परन्तु रचना-विधि अन्यत्र अप्राप्य है। साहित्यिक सन्दर्भों की जितनी महत्ता है, उतनी महत्ता जन-श्रुतियो की भी मानी जा सकती है। बहुत दिनो तक मध्य भारत के गाव-गांव में यह जन-श्रुति थी कि महाराजाधिराज धाराधिप भोजदेव के दरबार मे अश्वमुखी नाम का एक विमान था, तो विमान-रचना भी इस काल मे अवश्य थी। परन्तु तो फिर विमान-यन्त्र की रचना मे जो पूरे के पूरे विवरण हैं उनमे

*टि० यद्यपि हमने यन्त्रों की षड्-विधा ही दी है परन्तु रक्षा और संग्राम (जो एक ही विधा है) इन दो विधाओं के विवरण की दृष्टि से सप्तधा कर दी है।

केवल दो ही तत्व प्राप्त होते हैं अर्थात् अग्नि और पारा तथा आकार और सभार भी। निम्नलिखित उद्धरण पढ़िए :—

> लघुदारुमयं महाविहङ्गं दृढसुश्लिष्टतनुं विधाय तस्य।
> उदरे रसयन्त्रमादधीत ज्वलनाधारमधोऽस्य चाग्निपूर्णम् ॥
> तत्रारूढः पूरुषस्तस्य पक्षद्वन्द्वोच्चालितप्रोज्झितेनानिलेन।
> सुप्तस्यान्तः पारदस्यास्य शक्त्या चित्रं कुर्वन्नम्बरे याति दूरम् ॥
> इत्थमेव सुरमन्दिरतुल्यं सञ्चलत्यलघु दारुविमानम्।
> आदधीत विधिना चतुरोऽन्तस्तस्य पारदभृतान् दृढकुम्भान् ॥
> अयः कपालाहितमन्दवह्निप्रतप्ततत्कुम्भभुवा गुणेन।
> व्योम्नो झटित्याभरणत्वमेति सन्तप्तगर्जद्रसराजशक्त्या ॥

जैसा हमने ऊपर संकेत किया कि इस विमान-यन्त्र-वर्णन मे सारे विवरण प्राप्त नही होते, तथापि रचना-प्रक्रिया अज्ञात नही थी, चूकि यह काल सामन्त-वादी (Aristocratic Age) था, अतः प्राकृत जनों के लिए यह भोग और विलास नही प्रदत्त किए गए। अतएव इनका एक-मात्र राज-भोग मे ही सतार्थ किया गया। अतः इन विद्याओ एवं कलाओ का संरक्षण एक-मात्र राजाश्रय ही था। अतः शास्त्रीय ढंग से जब इनकी व्याख्या अथवा प्रतिपादन आवश्यक था तो ग्रन्थ-कार ने इसी मूलभूत प्रेरणा के कारण बहाना दिया जो निम्न श्लोक को पढने से प्राप्त होता है :—

> "यंत्राणां घटना नोक्ता गुप्त्यर्थं नाज्ञतावशात्।
> तत्र हेतुरयं ज्ञेयो व्यक्ता नैते फलप्रदाः ॥

यह हम अवश्य स्वीकार करते हैं कि पारम्पर्यं कौशल, सोपदेश शास्त्राभ्यास वास्तुकर्मोद्यमा बुद्धि—यह सभी इस प्रकार की यान्त्रिक घटना और पारिभाषिक ज्ञान के लिए अनिवार्य अंग हैं, तथापि यह बहाना भी तार्किक नही है। तथ्य यह है कि प्राचीन वाङ्मय के रहस्य की कुंजी रहस्य गोपन है। अन्त मे इस यंत्राध्याय की समीक्षा म यह अवश्य हमे स्वीकार करना है कि हमारे देश मे यन्त्र विद्या की कमी नही थी।

भारत की प्राचीन सस्कृति मे मन्त्र, तन्त्र और यन्त्र तीनो ही अपनी अपनी दिशा में विकास एवं प्रोल्लास की ओर जाते रहे, परन्तु जिस प्रकार वैदिक युग मे मन्त्रो का प्राबल्य था, फिर कालान्तर में विशेष कर मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल में तन्त्रों का इतना प्राबल्य हुआ कि मन्त्रो ने भौतिक विकास को

प्रश्रय न देकर एक-मात्र इनको चित्र मे चित्रित कर दिया। अतएव तान्त्रिक लोगो ने मन्त्र-बीज, तन्त्र-बीज, यन्त्र-बीज—इन्ही उपकरणो मे एव उपलक्षणों से भौतिक यन्त्रो को एक-मात्र नाम-मात्र की अभिधा मे गतार्थ कर दिया।

बात यह है कि समरागण-सूत्रधार के यंत्राध्याय के प्रथम श्लोक (मंगला-चरण) को पढ़ें, साथ ही साथ गीता के श्लोक को भी पढ़ें जो नीचे उद्धृत किए जाते हैं, तो हमारे इस उपर्युक्त मत का अपने आप पोषण हो जाता है। अर्थात् यन्त्रो को अध्यात्म-विभूति मे पर्यवसित कर दिया अन्यथा हमारा देश इस यान्त्रिक विज्ञान से पीछे न रहता :—

जडाना स्पन्दने हेतु तेषा चेतनमेककम् ।
इन्द्रियाणामिवात्मानमधिष्ठातृतया स्थितम् ॥
भ्राम्यद्दिनेशशशिमण्डलचक्रशस्तमेतज्जगत्त्रितययन्त्र मलक्ष्यमध्यम् ।
भूतानि बीजमखिनान्यपि सप्रकल्प्य यः सन्तत भ्रमयति स्मरजित्सवोऽव्यात् ॥
ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

राजसी कलायें

चित्र-कला

हमने अपने उपोद्घात में पहले ही यह संकेत कर दिया है कि चित्र का अर्थ एकमात्र आलेख्य नहीं, चित्र का अर्थ वास्तव में प्रतिमा है, अतएव इस अध्ययन में चित्र को हम निम्न दो दृष्टि-कोणों से देखेंगे और साथ ही सार दो वर्गों में विभाजित करेंगे। लौकिक दृष्टि से आलेख्य चित्र का प्रथम उपन्यास करेंगे। पूर्वोक्त चित्र की विधा—कोटि को अब हम दो में कवलित कर सकते हैं १. चित्राभास अर्थात् आलेख्य, २. चित्रार्ध एवं चित्र अर्थात् प्रतिमा आविद्ध अथवा पूर्ण।

सर्व-प्रथम आलेख्य चित्र पर जितने ग्रन्थ प्राप्त होते हैं, थोड़ा सा संकेत करना आवश्यक होगा, पुनः आलेख्य-कला का ललित कलाओं में क्या स्थान है यह भी प्रतिपाद्य होगा। पुनः चित्र-कला का जन्म कैसे हुआ और उसका विस्तार (क्षेत्र अथवा विषय) कैसा है—इस पर भी समीक्षण आवश्यक है। पुनः चित्रकला के अंगों (विभाग) तथा विधाओं (Types) का सविस्तार वर्णन करना होगा। शिल्प-ग्रन्थों की दृष्टि से वर्तिका-निर्माण, वर्तिका-वर्तन एवं वर्ण-संयोग (colouring) तो चित्र-विद्या में सबसे प्रमुख कौशल है। परन्तु इस कौशल को प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार हस्त भी चित्र-विद्या का प्रमुख अंग है। वास्तु, शिल्प, एवं चित्र की दृष्टि से मान तीसरी प्रमुख विशेषता है। कोई भी शिल्प बिना मान के कला के रूप में नहीं परिणत की जा सकती। इस लिए चित्र के विभिन्न मापनों में प्रमाण भी उतने ही प्रशस्त प्रकल्पित किए गए हैं। Pictorial Pottery और Pictorial Iconometry दोनों ही एक स्तर पर अपनी महत्ता रखते हैं। मध्यकालीन चित्रकार

क्षय वृद्धि है। बिना इस क्षय वृद्धि-प्रक्रिया के वर्ण विन्यास, वर्णोज्ज्वलता एवं वार्णिक वैशिष्ट्य सम्पन्न नहीं होता। चित्र-कौशल में शास्त्र ने जो प्रतीकात्मक रूढ़ियां (Conventions) प्रदान की हैं, उनके बिना चित्र दर्शन-मात्र से उसकी पूर्ण पहिचान और उसकी व्याख्या तथा पूरी समझ असम्भव है। अपराजित-पृच्छा में चित्र के सद्भाव का इतना व्यापक दृष्टिकोण प्रकट किया गया है जिसमें स्थावर और जंगम सभी पदार्थ सम्मिलित हैं, तो इनके रूप, उनके कार्य, उनकी चेष्टाएं तथा उनकी क्रियाएं अथवा उनका प्राकृतिक सौन्दर्य एवं याथातथ्य चित्रण कैसे सम्भव हो सकता है जब तक हम इन रूढ़ियों (Conventions) का सहारा न लें। चित्र-कौशल का अन्तिम प्रकर्ष भावाभिव्यक्ति एवं रसानुभूति है। चित्र-शास्त्र के जितने भी ग्रन्थ प्राप्य हैं उनमें एकमात्र समरांगण-सूत्रधार ही है, जिसमें चित्र के रसों एवं चित्र की दृष्टियों का वर्णन किया गया है। धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव से बढ़कर हमारे देश में इतना उद्भट और प्रसिद्ध-कीर्ति, शृंगारिक अर्थात् काव्य-तत्व-वेत्ता (Aesthetician) नहीं हुआ है। जहां उसने शृंगार-प्रकाश की रचना की वहां उसने वास्तु में ऐसे अप्रतिम ग्रन्थ समरांगण-सूत्रधार की भी रचना की। इस महायशस्वी लेखक ने चित्र को भी काव्य की गोद में खेलता हुआ प्रदर्शित कर दिया। इस प्रकार मेरी दृष्टि में यह ग्रन्थ विष्णु धर्मोत्तर से भी आगे बढ़ गया और बाजी मार ले गया। विष्णु-महापुराण के परिशिष्टांग विष्णुधर्मोत्तर के चित्र-सूत्र को देखें तथा परिशीलन करें तो वहां पर यह पूर्ण रूप से प्रकट है कि बिना नृत्य के चित्र दुर्लभ है —

> विना तु नृत्य-शास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।
> यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता ॥
> दृष्टयश्च तथा भावा अङ्गोपाङ्गानि सर्वशः।
> कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ॥
> त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्रं परं मतम् ॥

यद्यपि इस अवतरण में नाट्य हस्त, नृत्य-हस्तों के साथ दृष्टियों का भी संकेत अवश्य है, परन्तु उसमें प्रतिपादन नहीं। अतः इस कमी को समरांगण-सूत्रधार ने पूर्ण कर दी। इस ग्रन्थ में चित्र के ग्यारह रस और अठारह रस-दृष्टियां प्रतिपादित की गयी हैं, जिनकी हम आगे व्याख्या करेंगे। हमने अपने चित्र-लक्षण में चित्रकला को नाट्य और काव्य से और आगे बढ़ाकर रस-सिद्धान्त एवं ध्वनि-सिद्धान्त में लाकर परिणत कर दिया है। अस्तु

राजसी कलायें

चित्र-कला

हमने अपने उपोद्घात मे पहले ही यह सकेत कर दिया है कि चित्र का अर्थ एकमात्र आलेख्य नही, चित्र का अर्थ वास्तव मे प्रतिमा है, अतएव इस अध्ययन मे चित्र को हम निम्न दो दृष्टि-कोणो से देखेंगे और साथ ही साथ दो वर्गों मे विभाजित करेंगे। लौकिक दृष्टि से आलेख्य चित्र का प्रथम उपन्यास करेंगे। पूर्वोक्त चित्र की विधा—कोटि को अब हम दो मे कवलित कर सकते है १. चित्राभास अर्थात् आलेख्य, २. चित्रार्ध एव चित्र अर्थात् प्रतिमा आंशिक अथवा पूर्ण।

सर्व-प्रथम आलेख्य चित्र पर कितने ग्रन्थ प्राप्त होते है, थोडा सा सकेत करना आवश्यक होगा, पुनः आलेख्य-कला का ललित कलाओ मे क्या स्थान है यह भी प्रतिपाद्य होगा। पुनः चित्र-कला का जन्म कैसे हुआ और उसका विस्तार (क्षेत्र अथवा विषय) कैसा है—इस पर भी समीक्षण आवश्यक है। पुनः चित्रकला के अगो (चित्राग) तथा विधाओ (Types) का सविस्तार वर्णन करना होगा। शिल्प-ग्रन्थो की दृष्टि से वर्तिका-निर्माण, वर्तिका-वर्तन एव वर्ण-संयोग (colouring) तो चित्र-विद्या के सबसे प्रमुख कौशल हैं। परन्तु इस कौशल को प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार लक्षण भी चित्र-विद्या का प्रमुख अग है। वास्तु, शिल्प, एव चित्र की दृष्टि से माप तीसरी प्रमुख विशेषता है। कोई भी शिल्प बिना माप के कला के रूप मे नही परिणत की जा सकती। इस लिए चित्र के विभिन्न साधनो मे प्रमाण भी उतने ही प्रशस्त प्रकल्पित किए गए है। Pictorial Pottery और Pictorial Iconometry दोनो ही एक स्तर पर अपनी महत्ता रखते है। मध्यकालीन चित्रकार विशेषकर मुगलो के दरबार मे जो चित्रकार अपनी ख्याति से इतिहास मे आज भी विद्यमान हैं, वे बिना अंडर-वर्तना (बादाम) के कोई चित्र नही बनाते थे। इस प्रकार विष्णु-धर्मोत्तर, समरागण-सूत्रधार तथा मानसोल्लास इन तीनों ग्रन्थों की दृष्टि से अंडर-वर्तना चित्र-कौशल मे बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है। भारतीय चित्र-शास्त्र की दृष्टि मे सबसे बड़ा सूक्ष्मेक्षिका-कौशल

क्षय-वृद्धि है। बिना इस क्षय-वृद्धि-प्रक्रिया के वर्ण-विन्यास, वर्णोज्ज्वलता एव वार्णिक वैशिष्ट्य सम्पन्न नही होता। चित्र-कौशल मे शास्त्र ने जो प्रतीकात्मक रूढियां (Conventions) प्रदान की हैं, उनके बिना चित्र दर्शन-मात्र से उसकी पूर्ण पहिचान और उसकी व्याख्या तथा पूरी समझ असम्भव है। अपराजित-पृच्छा मे चित्र के सद्भाव का इतना व्यापक दृष्टिकोण प्रकट किया गया है जिसमें स्थावर और जगम सभी पदार्थ सम्मिलित है, तो इनके रूप, उनके कार्य, उनकी चेष्टाए तथा उनकी क्रियाए अथवा उनका प्राकृतिक सौन्दर्य एव याथातथ्य चित्रण कैसे सम्भव हो सकता है, जब तक हम इन रूढियो (Conventions) का सहारा न लें। चित्र-कौशल का अन्तिम प्रकर्ष भावाभिव्यक्ति एव रसानुभूति है। चित्र-शास्त्र के जितने भी ग्रन्थ प्राप्य हैं उनमे एकमात्र समरागण-सूत्रधार ही है, जिसमे चित्र के रसो एव चित्र की दृष्टियो का वर्णन किया गया है। धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव से बढकर हमारे देश मे इतना उद्भट और प्रसिद्ध-कीर्ति, शृगारिक अर्थात् काव्य-तत्व-वेत्ता (Aesthetician) नही हुआ है। जहा उसने शृगार-प्रकाश की रचना की वहा उसने वास्तु के ऐसे अप्रतिम ग्रन्थ समरागण-सूत्रधार की भी रचना की। इस महायशस्वी लेखक ने चित्र को भी काव्य की गोद मे खेलता हुआ प्रदर्शित कर दिया। इस प्रकार मेरी दृष्टि मे यह ग्रन्थ विष्णु धर्मोत्तर से भी आगे बढ गया और बाजी मार ले गया। विष्णु-महापुराण के परिशिष्टाग विष्णुधर्मोत्तर के चित्र-सूत्र को देखे तथा परिशीलन करें तो वहा पर यह पूर्ण रूप से प्रकट है कि बिना नृत्य के चित्र दुर्लभ है :—

> विना तु नृत्य-शास्त्रेण चित्रसूत्र सुदुर्विदम् ।
> यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृति स्मृता ।।
> दृष्टयश्च तथा भावा अङ्गोपाङ्गानि सर्वश ।
> कराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ।।
> त एव चित्रे विज्ञेया नृत्त चित्र परं मतम् ।।

यद्यपि इस अवतरण मे नाट्य-हस्त, नृत्य-हस्तो के साथ दृष्टियो का भी सकेत अवश्य है, परन्तु उसमे प्रतिपादन नही। अत इस कमी को समरागण-सूत्रधार ने पूर्ण कर दी। इस ग्रन्थ मे चित्र के ग्यारह रस और अठारह रस-दृष्टियां प्रतिपादित की गयी हैं, जिनकी हम आगे व्याख्या करेंगे। हमने अपने चित्र-लक्षण मे चित्रकला को नाट्य और काव्य से और ऊपर उठाकर रस-सिद्धान्त एव ध्वनि-सिद्धान्त मे लाकर परिणत कर दिया है। मम्मट ने अपने

काव्य-प्रकाश मे काव्य की त्रिविधा से जो चित्र-काव्य को तीसरी कोटि दी गयी है, उसका आशय एक मात्र व्यंग्याभाव एवं शब्द-चित्रता तथा अर्थ-चित्रता से ही तात्पर्य नही है, उसमे इस इस शब्द के प्रयोग मे एक बड़ा मर्म भी छिपा है। मेरी दृष्टि म जिस प्रकार काव्य मे शब्दो एव अर्थों के द्वारा व्यंग्य की अभिव्यक्ति होती है, क्योंकि व्यंजना के लिए व्यंजको की आवश्यकता है, तो क्या व्यंजक व्यंग्य की ओर सहृदयो को नही ले जा सकते। जिस प्रकार कोई युवती अभिरमणीय होते हुए यदि वह नाना शृ गारो से सुसज्जित, नाना विलासों से मंडित, अनेक नेपथ्यो से विलसित क्या वह कई व्यंग्यो की ओर इशारा नही कर सकती? किसी कुशल चित्रकार के चित्र को देखें, उसमें कितने व्यंग्य छिपे हैं जो एकमात्र वर्णों एव आकारो तथा कुछ बन्धनो (Back grounds) के साथ साथ अन्य नाना कितने आकूत अपने आप आपतित हो जाते हैं।

अस्तु, अब इस उपोद्घात के अनन्तर हमे अपने इस अध्ययन मे अध्ययन की रूपरेखा की कुछ अवतारणा अवश्य करनी है जो निम्न तालिका से द्रष्टव्य है :—

१ चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ,
२ चित्र-कला का ललित कलाओं मे स्थान, उद्देश्य, जन्म और विस्तार,
३ चित्रांग (Elements-Constituents and Types),
४ वर्तिका तथा भूमि-बन्धन,
५. अण्डक-प्रमाण,
६. लेप्य-कर्म,
७. आलेख्य—रेखा-कर्म-वर्ण एवं कूर्चक, कान्ति एव विच्छित्ति तथा क्षय-वृद्धि सिद्धान्त,
८. आलेख्य-रुढिया (Conventions),
९. चित्र-कला तथा काव्य-कला, नाट्य-कला, नृत्य कला आदि।
भावाभिव्यक्ति—ध्वनि एव रसास्वाद,
१०. चित्र-शैलिया-पत्र एव कण्टक,
११. चित्रकार,
१२. चित्रकला पर ऐतिहासिक विहंगम दृष्टि :—
(अ) पुरातत्वीय,
(ब) साहित्य-निबन्धनीय।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थ :—संस्कृत मे केवल चित्र पर निम्नलिखित पाच ग्रन्थ ही प्राप्य हैं :—

१. विष्णुधर्मोतर —तृतीय भाग चित्रसूत्र ;
२. समरांगण-सूत्रधार—देखिए इस अध्ययन मे चित्र-शास्त्रीय प्रध्याय-तालिका ;
३ अपराजित-पृच्छा ;
४ अभिलषितार्थ-चिन्तामणि (मानसोल्लास) ;
५ शिल्प-रत्न ।

इन ग्रन्थो (पूर्व एव उत्तर मध्यकालीन कृतियो) के अतिरिक्त सर्वप्राचीन-कृति नग्नजित् का चित्र-लक्षण है । नग्न-जित् के सम्बन्ध मे ब्राह्मणो (ब्राह्मण-ग्रन्थो)मे भी सकेत मिलते हैं । यह मौलिक कृति अप्राप्य है । सौभाग्य से तिब्बती भाषा मे इसका अनुवाद हुआ था, जिसका रूपान्तर अब भी प्राप्य है। डा० राघवन ने (देखिए Some Sanskrit texts on Painting I H.O Vol. X 1933) जिन दो अन्य चित्र-सम्बन्धी शिल्प-ग्रन्थो की सूचना दी है, वे हैं

१ सारस्वत-चित्र-कर्म-शास्त्र,
२ नारद-शिल्प ।

इन ग्रन्थो के अतिरिक्त बासवराज-कृत शिवतत्व-रत्नाकर नामक ग्रन्थ सत्रहवी शताब्दी के उत्तर अथवा अठारहवी शताब्दी के पूर्व भाग मे कन्नड भाषा मे संस्कृत मे रूपान्तरित किया गया था । शिवराम मूर्ति ने भी चित्र-शास्त्रीय कृतियो के सम्बन्ध मे खोज की है । परन्तु मेरी दृष्टि मे ये ही सात ग्रन्थ अधिकृत माने जा सकते है ।

जहा तक चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो के अध्ययन का प्रश्न है उनका सर्वप्रथम श्रेय डा० कुमारी स्टला क्रेमरिश को है, जिन्होने विष्णु-धर्मोत्तर के इस चित्र सूत्र का अंग्रेजी मे अनुवाद किया तथा एक भूमिका भी लिखी । उसके बाद आधुनिक भारतीय विद्या (Indology) मे सब प्रथम सारे ग्रन्थो को लेकर अनुसधानात्मक एवं शास्त्रीय अध्ययन जो मैंने अपने Hindu Canons of Painting or चित्रलक्षणम् १९५८ मे प्रस्तुत किया था उसकी विद्वानो ने बडी प्रशसा की। यह प्रबन्ध मेरी डी० लिट० थीसिस—Foundations and Canons of Hindu Iconography and Painting का अग था । महामहोपाध्याय डा० वासुदेव विष्णु मिराशी, डा० जितेन्द्रनाथ बॅनर्जी तथा स्वर्गीय वासुदेव शरण अग्रवाल,

इन विद्वानो की भूरि प्रशसा से मुझे बडा प्रोत्साहन मिला । यह ग्रन्थ अंग्रेजी मे लिखा गया था। वैसे तो हिन्दी मे मैंने प्रतिमा-विज्ञान Iconography पर एक वृहद् ग्रन्थ लिख ही चुका हू, जो मेरे इस दश-ग्रन्थ-आयोजन का वह प्रमुख अग था। चित्र पर अभी तक हिन्दी मे शास्त्रीय विवेचन नही हुआ। अत. अब मैं अपने इस ग्रन्थ मे प्रतिपादित शास्त्रीय विवेचन का जहा तक समरागण-सूत्रधार के चित्र-सम्बन्धी विषयो से मेल खाता है, उसी को लेकर मैं अब इस अध्ययन में सक्षेप रूप मे नवीन दृष्टिकोण मे रखने का प्रयास करूंगा।

हमने चित्र-शास्त्रीय प्राप्य ग्रन्थो पर पहले ही सकेत कर दिया है। उनके विषय-विवेचन अथवा उनके अध्यायो की अवतारणा की यहा पर संगति सार्थक नही। अत. समरागण के चित्र-सम्बन्धी अध्यायो के सम्बन्ध मे थोडा सा विवेचन आवश्यक है।

इसमे सन्देह नही कि समरागण-सूत्रधार का भवन-खड, प्रासाद-खड, राज-भवन-खड ये सभी खड सम्बद्ध एव परिपुष्ट हैं, परन्तु चित्र-खड मलिन तथा भ्रष्ट भी है। चू कि चित्र का अर्थ हमने प्रतिमा माना है और प्रतिमाए जो पाषाणी हैं अथवा धातुज्या हैं, वे इस सन्दर्भ मे अविवेच्य नही हैं। चित्र पर (मृन्मयी, काष्ठमयी पाषाणी, धातुजा, रत्नजा तथा आलेख्य) केवल १४ अध्याय हैं, जिसमे केवल एक ही अध्याय आलेख्य-चित्र मे परिगणनीय नही है वह है :—

लिंग-पीठ-प्रतिमा-लक्षण

अतः इसको हम प्रासाद-शिल्प मे प्रासाद-प्रतिमा के रूप मे व्यवस्थापित करेंगे। इन अध्यायो की तालिका की ओर संकेत करने के पूर्व हमे यह भी बताना है कि लगभग निम्नलिखित सात अध्याय, आलेख्य-चित्र तथा पाषाणादि-द्रव्यजा चित्र इन दोनो मे सर्व-सामान्य (Common and Complimentary) अङ्ग हैं —

१ देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण ;
२ दोष-गुण-निरूपण ;
३ ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण ;
४ वैष्णवादि-स्थानक-लक्षण,

५ पच-पुरुष-स्त्री-लक्षण,

६ रस-दृष्टि-लक्षण,

७ पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण,

जहां तक इन अध्यायों की विवेचना है, वह अनुवाद से स्वतः प्रकट है, अतः वही द्रष्टव्य हैं और यहां पर उनका विस्तार अनावश्यक है।

अस्तु, जो आलेख्य (Painting) से ही एक-मात्र सम्बन्धित हैं, उन अध्यायों की तालिका निम्न है :—

चित्रोद्देश,
भूमि-बन्धन,
लेप्य-कर्म,
अण्डक-प्रमाण,
मानोत्पत्ति तथा
रस-दृष्टि

चित्रकला का उद्देश्य, उद्भव तथा विषय (Scope)

चित्र-कला के उद्भव में हमारे देश में दो दृष्टि-कोणों ने इस ललित-कला को जन्म दिया। वैसे तो कला, संस्कृति एवं सभ्यता का अभिन्न अंग माना गया है। जिस देश की जैसी सभ्यता एवं संस्कृति होगी वैसी ही उस देश की कलाएं होंगी। भारतीय संस्कृति और सभ्यता में अध्यात्म और भौतिक अभ्युदय दोनों को ही माप-दण्ड के रूप में परिकल्पित किया गया है। वैदिक दृष्टि (यज्ञ-संस्था) के बाद जब पूर्त-धर्म (देवालय-निर्माण एवं देव-पूजा) ने अपने महान् प्रकर्ष से इस देश में पूरी तरह से पैर फैला दिए, तो प्रतिमा-पूजा अनायास विकसित और प्रवृद्ध हो गई। हमने अपने उपोद्घात में चित्र पद की परिभाषा में प्रतिमा शब्द की ओर पूर्ण रूप से परिचय दे ही दिया है—चित्र, चित्रार्ध, चित्राभास। अतः जहाँ पाषाण-निर्मिता तथा मृण्मयी (पार्थिवा, जैसे पार्थिव लिंग) एवं धातुजा प्रतिमाएं पूजा के लिए बनाई जाती थीं, क्योंकि ज्ञानी और योगी तो बिना प्रतिमा के भी ब्रह्म-चिन्तन एवं ईश्वराराधन कर सकते थे; परन्तु महान् विशाल समाज सारा का सारा ज्ञानी और योगी नहीं परिकल्पित किया जा सकता, अतएव इसी दृष्टि को रखकर हमारे आचार्यों ने स्पष्ट उद्घोष किया :—

"अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिता"

"सगुण-ब्रह्म-विषयक-मानस-व्यापार उपासनम्"

"चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप-कल्पना ॥

"आदित्यमम्बिकां विष्णुं गणनाथं महेश्वरम् ।
पञ्च-यज्ञ-परो नित्यं गृहस्थः पञ्च पूजयेत ॥"

जहां प्रासादों में प्रतिष्ठापित प्रतिमाएं पूज्य हैं, उसी प्रकार पट्ट, पट, कुड्य चित्र भी उसी प्रकार पूज्य बने । हयशीर्ष-पञ्चरात्र वैष्णव आगमों और तन्त्रों में एक प्रमुख स्थान रखता है। उसका यह निम्न प्रवचन पढ़ें तो उपरोक्त हमारा सिद्धान्त पूर्ण रूप से पुष्ट हो जाता है :—

यावन्ति विष्णुरूपाणि सुरूपाणीह लेखयेत ।
तावद् युगसहस्राणि विष्णुलोके महीयते ॥
लेख्ये चित्रे हरिर्नित्यं सन्निधानमुपैति हि ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन लेख्यचित्रगतं यजेत् ॥
कान्तिभूषणभावाद्यैश्चित्रं यस्मात् स्फुटं स्थितः ।
अतः सन्निधिमायाति चित्रजास् जानर्दनः ॥
तस्मच्चित्रार्चने पुण्य स्मृत शतगुणं बुधैः ।
चित्रस्थं पुण्डरीकाक्ष सविलास सविभ्रमम् ॥
दृष्ट्वा मुच्यते पापैर्जन्मकोटिसमर्जितैः ।
तस्माच्छुभादिभिर्वीरैः महापुण्यजिगीषया ॥
पटस्थः पूजनीयस्तु देवो नारायणः प्रभुः ।
—हयशीर्षपञ्चरात्रात्—

यह तो हुआ धार्मिक उद्भव, जहां तक भौतिक दृष्टि-कोण का सम्बन्ध है, उसमें वात्स्यायन के काम-सूत्र में प्रतिपादित चतुष्षष्टि-कला (६४ कलाओं) का जो महान् प्रोल्लास प्राप्त होता है, उसका पूरा का पूरा सम्बन्ध नागरिक सभ्यता, नागरिकों के जीवन के अभिन्न अंग की प्रतीकात्मता को दृढ करता है। हम पहले ही लिख चुके हैं कि दो हजार वर्ष से भी अधिक पुरानी बात है कि प्रत्येक नागरिक के घर में रंग का प्याला और रंगने की लेखा (bowl and brush) दोनों गृहस्थी के अनिवार्य अंग थे। आप महाकवि कालिदास के काव्यों को पढ़ें, महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी देखें—कितना चित्र-कला का विलास था। हमने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) में यह सब पूरी तरह से समीक्षा प्रदान की है। वह वहां विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

चित्र-कला के उद्भव में चित्र-शास्त्र की सर्वप्रथम कृति एवं अतिप्राचीन प्रांधकृत ग्रन्थ नग्न-जित् के 'चित्र-लक्षण' में जो चित्रोत्पत्ति की मनोरञ्जक कहानी है वह यहां अवतार्य है :—

"पुरानी कहानी है कि एक बड़ा ही उदार, धर्मात्मा तथा पूतात्मा राजा था, जिसका नाम था भयजित्। सभी प्रजाएं सानन्द थीं। अकस्मात् एक दिन एक ब्राह्मण उसके दरबार में आ पहुंचा और जोर से चिल्लाता हुआ बोला 'ऐ राजन्, सत्यत: आपके राज्य में पाप है, नहीं तो मेरा पुत्र अकाल-मृत्यु के गाल में कैसे कवलित हो गया? कृपा करके मेरे पुत्र को मृत्यु के पंजों से छुड़ाओ और उस लोक से पुनः इसी लोक में लाओ। राजा ने तत्क्षण ही यमराज से प्रार्थना की—हे यमराज जी महाराज! इस बालक को लाओ अन्यथा घोर युद्ध होगा। यमराज ने जब प्रार्थना अनसुनी कर दी, तो फिर दोनों में घनघोर युद्ध हो गया और अन्ततोगत्वा यम हार गया। विधाता ब्रह्मा किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये। तत्क्षण वे वहां आविर्भूत हो गये और राजा से कहा राजन्! जीवन एवं मरण तो कर्म पर आश्रित है। यम का अपना व्यक्तिगत तो कोई हाथ नहीं। तुम इस बच्चे का चित्र बनाओ। वहां की आज्ञा शिरोधार्य कर उसने चित्र बनाया और ब्रह्मा ने उसमें जीवन डाल दिया और राजा को सम्बोधित कर कहा :—

"अतः तुमने इन नग्नों—प्रेतों को भी जीत लिया—अतः तुम आज से हे राजन्! नग्न-जित् के नाम से विश्रुत हो गये। तुम इस ब्राह्मण बालक का चित्र मेरी ही कृपा या आशीष से बना सके हो। संसार में यह प्रथम चित्र है। तुम जाओ दिव्य शिल्पी विश्वकर्मा के पास। विश्वकर्मा जी वास्तु-शिल्प-चित्र में

आचार्य हैं, वे तुम को सारा चित्र-शास्त्र एवं चित्र-विद्या पढ़ायेंगे।"

विष्णु-धर्मोत्तर अति प्राचीन एवं अधिकृत ग्रन्थ है उसका भी यहां चित्रोत्पत्ति वृतान्त उद्धरणीय है :—

नर-नारायण की कथा से हम परिचित ही हैं। जब भगवान् नारायण बदरिकाश्रम में मुनिवेष-धारी तपश्चर्या करने लगे तो उन्हें हठात् चित्र-विद्या को जन्म देना पड़ा। कहानी है कि नर एवं नारायण दोनों ही इसी आश्रम में साथ साथ तपस्या कर रहे थे। अप्सराओं की अति प्राचीन समय से यह परम्परा रही है कि जब कोई मुनि या योगी तप करते हैं तो वे आकर बाधा डालती हैं, रिझाती हैं। विश्वामित्र-मेनका की कहानी से सभी परिचित हैं। ऐसी बाधा में भगवान् नारायण ने कमाल कर दिया। तुरन्त ही आम्र-रस लेकर तथा अन्य वन्य-ओषधियों को मिलाकर एक इतनी कमाल की खूबसूरत अप्सरा की रचना कर दी जो कोई भी देवी, गान्धर्वी, आसुरी, नागी या मानवी सुन्दरी उसका मुकाबला कर सके। अतः ये सारी की सारी दसों अप्सरायें इस नारायण-निर्मिता सुन्दरी अप्सरा को देख कर शर्मिन्दा हो कर सदा के लिये विलीन हो गयीं। यही अप्सरा पुनः सर्व-सुन्दरी अप्सरा ऊर्वसी के नाम से विश्रुत हो गयी।

विष्णु-धर्मोत्तर के एक दूसरे सन्दर्भ को पढ़ें, तो वहां पर शास्त्रीय उद्भव पर बड़ा मार्मिक एवं प्रबल प्रवचन प्राप्त होता है। मार्कण्डेय और वज्र के प्रश्न और उत्तर के रूप में विष्णु-धर्मोत्तर में चित्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बड़ा ही मौलिक एवं सार्वभौमिक उद्देश्य एवं क्षेत्र की ओर सुन्दर एवं महत्वपूर्ण संकेत प्राप्त होता है। विष्णु-धर्मोत्तर में निराकार की कल्पना एवं उसकी साकार रूप में पूजा बिना चित्र के असम्भव है। निराकार यथा-निरञ्जन न कोई रूप रखता है न गंध, न रस, न शब्द, न स्पर्श, तो फिर इसको रूप में कैसे परिणित किया जा सकता है—वज्र की इस जिज्ञासा में मार्कण्डेय का उत्तर है कि प्रकृति और विकृति वास्तव में परब्रह्म को लौकिक दृष्टि से दोनों भिन्न होते हुए भी, उसी के परिवर्तन-शील रूप हैं। ब्रह्म प्रकृति है और विश्व विकृति है। ब्रह्म की उपासना तभी सम्भव है जब उसे रूप प्रदान किया जाए। अतएव उसकी रूप-कल्पना के लिये चित्र के बिना यह सम्भव नहीं। जैसा कि हमने पहले ही रामोपनिषद् का प्रवचन पाठकों के सामने रख दिया है (चिन्मयस्येत्यादि)।

मध्यकालीन अधिकृत शिल्प-शास्त्रीय कृति अपराजित-पृच्छा में चित्र के उद्देश्य, उत्पत्ति एवं क्षेत्र अथवा विस्तार पर जो प्रवचन है वह बड़ा ही मार्मिक

है और समस्त स्थावर एवं जंगम को चित्र की कोटि में केन्द्रित करा रहा है। निम्न अवतरण पढ़िये :—

चित्रमूलोद्भवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
ब्रह्मविष्णुभवाद्याश्च सुरासुरनरोरगाः॥
स्थावरं जंगमं चैव सूर्यचन्द्रौ च मेदिनी।
चित्रमूलोद्भवं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम्॥
वृक्षगुल्मलतावल्ल्यः स्वेदजाण्डजरायुजाः।
सर्वे चित्रोद्भवा वत्स भूधरा द्वीपसागराः॥
चतुरशीतिलक्षाणि जीवयोनिरनेकधा।
चित्रमूलोद्भवाः सर्वे संसारद्वीपसागराः॥
श्वेतरक्तपीतकृष्णा वर्णा ये चित्ररूपकाः।
ततो च नखकेशादि चित्ररूपमिवाम्भसाम्॥
भगवान् भवरूपश्च पश्यतीदं परात्परम्।
आत्मवत् सर्वमिदं ब्रह्मतेजोऽनुपश्यताम्॥
पश्यन्ति भावरूपेश्च जले चन्द्रमसं यथा।
तद्वच्च मम सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मवादिनः॥
विश्वं विश्वावतारश्च रचनाद्यन्तश्च सम्भवेत्।
आदि चित्रमयं सर्वं पश्यन्ति ब्रह्मचक्षुषा॥
शिवशक्तेर्यथारूपं संसारे सृष्टिकोद्भवः।
चित्ररूपमिदं सर्वं दिनं रात्रिस्तथैव च॥
निमिषश्च कलं घट्यो यामः पक्ष एव च।
मासाश्च ऋतवश्चैव वासः संवत्सरादिकः॥
चित्ररूपमिदं सर्वं संवत्सरयुगादिकम्।
कल्पादिकोद्भवं सर्वं सृष्ट्याद्यं सर्वकर्मणाम्॥
ब्रह्माण्डादिसमुत्पत्तौ रचितारचिता तथा।
तेषां चित्रमिदं सर्वं नानारूपं विचित्रकर्मणाम्॥
ब्रह्माण्डादिगणाः सर्वे तद्रूपाः चित्रसम्भवाः।
मायया आत्मरूपस्थेन चित्रवत् सृष्टिकर्मणि॥
आत्मरूपमिदं पश्येद् दृश्यमानं चराचरम्।
चित्रावतारे भावं च विद्यापूर्वावतरणैः॥
आत्मनः च दिवं पश्येद् ब्रह्म सनातनाः।

तद्वच्चित्रमयं सर्वं शिवशक्तिमयं परम् ॥
ऊर्ध्वमूलमधः शाखं वृक्षं चित्रमयं तथा ।
शिवशक्त्यालयं चैव चन्द्रार्कपवनात्मकम् ॥
सूर्यपीठोद्भवा शक्तिः संलग्ना ब्रह्ममार्गतः ।
लीयमाना चन्द्रमध्ये चित्रकृत् सृष्टिकर्मणि ॥
चित्रावताररूपं तु कथितं च परात्परम् ।
यतस्तु वर्तते चित्रे जगत्स्थावरजंगमम् ॥
देवो देवी शिवः शक्तिः व्याप्तं यतश्चराचरम् ।
चित्ररूपमिदं ज्ञेयं जीवमध्ये च जीवकम् ॥
रूपो जले जन्म रूपे विधिपर्य्यायतस्तथा ।
तद्वच्चित्रमयं विश्वं चित्रं विश्वे तथैव च ॥

यह नहीं कहा जा सकता और न धारणा ही बनाई जा सकती है कि चित्र की उत्पत्ति अथवा उसका उद्देश्य एकमात्र धार्मिक था। चित्र-कला और चित्र-विद्या का, भौतिक सेवन से भी बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। हम पहले ही इस सम्बन्ध में थोड़ा सा संकेत कर चुके हैं (देखिए वात्स्यायन का युग और उस समय की ६४ कलाएं)। गुप्त-कालीन इतिहास को पढ़े और उसके बाद के साहित्य काव्य नाटक आदि को पढ़ें तो ऐसा प्रतीत होता है कि नागरिकों के जीवन में चित्र-कला एक अभिन्न अंग थी। पुनः वास्तु-शास्त्रीय एवं शिल्प-शास्त्रीय दृष्टि से एक आधार-भौतिक सिद्धान्त यह भी है कि कोई भी वास्तु अथवा शिल्प कृति (Architecture or Sculpture), आलेख्य अथवा लेप्य (Paintings) के बिना पूर्ण कृति नहीं मानी जा सकती। जन-भवनों (Secular Architecture-Civil Architecture-Residential Houses) में भी चित्र-सम्बन्धी योज्यायोज्य-व्यवस्था (Decorative Motifs) पर स० सू० में बड़ा ही वैज्ञानिक विवेचन है (दे भवन-निवेश)। शिल्परत्न का निम्नलिखित प्रवचन कितना इस दृष्टि से वास्तु-शिल्प चित्र का अन्योन्याश्रय एवं अभिन्नता प्रदर्शन करता है :

"एवं सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा पुनः ।
मनोहरतरं कुर्यान्नानाचित्रैर्विचित्रतम् ॥"

अस्तु, इस थोड़ी सी समीक्षा में उद्देश्य, उत्पत्ति एवं विषय—सभी पर कुछ प्रकाश पड़ चुका। अब आइये—चित्रांगों पर।

अंग अवयव तथा विधा :—

षडङ्ग-चित्र :—वात्स्यायन के काम-सूत्र के लब्ध-प्रतिष्ठ टीका-कार यशोधर ने निम्न कारिका में चित्र के प्रधान अंगों का करामलकवत् प्रतिपादित

किया है :—

"रूपभेदाः प्रमाणानि लावण्य भावयोजनम्
सादृश्य वर्णिकाभंग इति चित्र षडङ्गकम् ॥"

अर्थात् चित्र-कला के हमारे प्राचीन प्राचार्यों की दृष्टि मे निम्न विभाग न केवल कला की दृष्टि से वलि रसास्वाद की दृष्टि से भी ये अग प्रतिपादित किए गये हैं, लेकिन चित्र को हम दो दृष्टियो से समीक्षा करेंगे एक दर्शक और दूसरा चित्रकार। पहले से सम्बन्ध चित्र-कौशल से नहीं है चित्रालोकन अथवा चित्रास्वाद से है, परन्तु चित्रलेखन तो निम्नलिखित अष्टाग उपकरणो पर प्राश्रित है। इस प्रकार हम दोनो तालिकाओ को पाठको के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। चित्राङ्ग—(१) रूप-भेद—नाना आकार, (२) प्रमाण, (३) लावण्य (सौन्दर्य); (४) भावयोजन अर्थात् भावाभिव्यक्ति जो रसाभिव्यक्ति पर आश्रित है (देखिए रस और रसदृष्टियां—अनुवाद), (५) सादृश्य अर्थात् चित्र और चित्रय दोनो साक्षात् एक प्रतीत हो रहे हैं, (६) वर्णिक भग अर्थात् वर्ण-विन्यास (Colours and Reliefs) ये क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त एवं प्रक्रिया के मौलिमालायमान चित्र-कौशल हैं।

ब—चित्र-उपकरणः—

(१) वर्तिका अर्थात् लेखनी—लेखा अथवा ब्रुश,
(२) भूमि-बन्धन (Canvas or Background)
(३) लेप्य-कर्म (Drawing the Sketch),
(४) रेखा-कर्म (Delineation and Articulation of form)
(५) वर्ण-कर्म—नानाविध रग,
(६) वर्तना—छाया और कान्ति की उद्भावना,
(७-८) टि० दोनो उपकरण मूल मे भ्रष्ट है।

स—चित्र-विधा —

अब आइये चित्रो की विधाओ पर। विष्णुधर्मोत्तर मे चित्रों के चार प्रकार प्रतिपादित किये गये हैं :—

(१) सत्य, (३) नागर तथा
(२) वैणिक, (४) मिश्र।

सत्य से तात्पर्य लोक-सादृश्य से है अर्थात् जैसा लोक वैसा ही चित्र, जिस को हम True, Realistic, Oblong frame के रूप मे परिकल्पित कर सकते

हैं; वैणिक की व्याख्या में विद्वानों में मतभेद है। पदार्थ की दृष्टि से यह पद वीणा से बना है तो हम इसको चतुरस्र अर्थात् चौकोर आकृति में भी विभावित कर सकते हैं। इस चित्र-प्रकार के वर्णन में वि० ध० ने दीर्घांग, सप्रमाण, सुकुमार, सुभूमिक, चतुरस्र तथा सुसम्पूर्ण—इन विशेषणों से विशिष्ट किया है। जहां तक तीसरे चित्र-प्रकार का सम्बन्ध है यथानाम उनको हम Gentry pictures in round frames में परिकलित कर सकते हैं और यह एक प्रकार के सादे चित्र माने जाते हैं। जहां तक चौथा अर्थात मिश्र-प्रकार का सम्बन्ध है उसकी कोई विशेषता नहीं। वह इन सब विधाओं का मिश्रण ही कहा जा सकता है। डा० राघवन, डा० कुमारस्वामी की इस व्याख्या का खण्डन करते हैं (vide Sanskrit Texts on Paintings I. H Q. Vol. X, 1933)। पाठक उस को वहीं पर पढ़ें और समझें। मैंने जो ऊपर साधारण संकेत किया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक है। विष्णु-धर्मोत्तर लगभग दो हजार वर्ष पुराना है। आगे चल कर पूर्व मध्यकाल तथा उत्तर मध्यकाल में चित्र-विद्या में विशेषकर शास्त्र की दृष्टि से बड़ी उन्नति हुई, तो अनायास चित्रों की विधा पर काफी शास्त्रीय एवं कलात्मक स्वतः प्रशंसा प्राप्त हो गई। समरांगण-सूत्रधार में, बड़े ही वैज्ञानिक एवं क्रमिक दिशा से चित्रों की विधा को चित्र-बन्धन पर आधारित कर रक्खा है। अतः इस अभिहृत ग्रन्थ की दृष्टि से चित्र के प्रकार केवल तीन हैं।—

(१) पट्ट-चित्र (Paintings on Board),

(२) पट-चित्र (Paintings on Cloth), तथा

(३) कुड्य-चित्र (Paintings on Wall—Mural Paintings) देखिए अजन्ता आदि।

मानसोल्लास (अभिलषितार्थ-चिन्तामणि) में चित्रों की विधा पंचधा बताई गई है :—

(१) विद्ध, जो वास्तव में यह विद्ध शि. ब. के शब्द से अनुपोषित करता है। यहां पर लोक-सादृश्य अर्थात् दर्पण-सादृश्य चित्रकार का कौशल अभिप्रेत है;

(२) अविद्ध—इस को हम एक प्रकार से आधुनिक Outline Drawing के समान परिकलित कर सकते हैं,

(३) भाव से तात्पर्य भावव्याप्ति से है। मानसोल्लास की दृष्टि से इस चित्र के उन्मेष में श्रृंगार आदि रसों का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

(४) रस-चित्र—इस चित्र से सम्बन्ध उपर्युक्त भाव से नहीं, यहा रस का अर्थ द्रव है, जो वर्ण-भग एव वर्ण-विन्यास एव वर्ण-चित्रण अर्थात् वर्ण-लेप पर आश्रित है ;

(५) धूली-चित्र—यह एक प्रकार से प्रोज्ज्वल वर्णों का आधायक है।

टि० *यह वर्गीकरण बहुत वैज्ञानिक नहीं है, कुछ थोडा सा भ्रमात्मक प्रतीत होता है।*

शिल्प-रत्न मे चित्रो की विधा केवल तीन दी गई है :—

(१) रस चित्र, जो मानसोल्लास के भाव चित्र मे परिगणित किया जा सकता है,

(२) धूली-चित्र तथैव दे० अभि० चि०

(३) चित्र—यह एक प्रकार का वि० ध० का सत्य और मानसोल्लास का विद्ध माना जा सकता है।

चित्र-प्रकारो का यह स्थूल समीक्षण यहा पर्याप्त है, विशेष विवरण मेरे अग्रेजी ग्रन्थ Royal Arts—Yantras and Citras म दखिये।

वर्तिका—भूमि-बन्धन चित्र-कला का प्रथम सोपान है। बिना भूमि-बन्धन *बन्धन के आलेख्य असम्भव है। भूमि का अर्थ यहा पर कैनवास है।* आलेख्य मे इस साध्य के लिए जो साधन विहित है उसको हम वर्तिका की सज्ञा देते है। इस प्रकार वर्तिका और भूमि-बन्धन दोनो को एक दूसरे के साधन-साध्य के रूप मे परिकल्पित कर सकते है। वर्तिका को हम ब्रुश नही कह सकते। *यह वर्तिका विशेषकर भूमि-बन्धन मे ही उपयोगी मानी जाती है।* चित्र-कला के अष्ट विध उपकरणो मे वर्तिका का सकेत हम कर ही चुके हैं। कुछ आधुनिक विद्वानो ने वर्तिका का अर्थ ठीक तरह से नहीं समझा। डा० मोती चन्द्र ने (*Cf Technique of Mughal Painting Page 45*) वर्तिका को वर्तना के रूप मे समझा है। यह भ्रान्त है। वर्तना एक प्रकार से वर्ण-विन्यास है और वर्तिका उपकरण है। इस प्रकार वर्तिका को हम आधुनिक चित्र के पारिभाषिक पदो मे (Crayon) के रूप मे विभावित कर सकते हैं। इस समीक्षा से हम यह सिद्ध कर देते हैं कि प्राचीन भारत मे आलेख्य चित्रो की रचना मे (Crayon) के द्वारा जो चित्र के लिए पहला स्केच बनाया जाता था, वह वास्तव में उस अतीत मे भी यह प्रक्रिया पूर्ण रूप से प्रचलित थी। *सयुत्त निकाय (द्वितीय, ५) में इस प्रक्रिया का पूर्ण स्केच है, जो आलेख्य चित्रों* और (Panels) मे भी प्रयुक्त होती थी। इसी प्रकार दश-कुमार-चरित एव

प्रसन्न-राघव मे भी क्रमशः इसे वर्ण-वर्तिका तथा शलाका के नाम से निर्दिष्ट किया है। मुगल-कालीन चित्रकार चित्रो के बनाने मे जो खाका खींचने थे वे इमली के कोयले को लेकर यह क्रिया करते थे। आगे आधुनिक काल मे जब पैंसिलो का प्रयोग प्रारम्भ हुआ तो यह परम्परा समाप्त हो गई।

अस्तु, शास्त्रीय दृष्टि से आलेख्य-चित्रो मे चित्र-विन्यास के लिए तीन प्रकार की लेखनिया अनिवार्य थीं—वर्तिका, तूलिका, लेखनी। वर्तिका का प्रयोग भूमि-बन्धन अर्थात् Canvas or Background के लिए होता था। पुनः वर्ण-विन्यास (Colouring) के लिए तूलिका और लेखनी। पुनः चित्र के उन्मीलन के लिए एव उसमे प्रोज्ज्वलता के साथ कान्ति और छाया (Light and Shade) के लिए प्रयुक्त होती थी। आगे आलेख्य चित्र मे जो सर्वमौलिमान्यायमान प्रकर्ष शास्त्रीय दृष्टि से सिद्धान्त है वह है "*क्षय-वृद्धि का सिद्धांत*" अर्थात् कहा पर किस अग मे भाव-व्यक्ति के लिए, लावण्य लाने के लिए एव सौन्दर्य की स्थापना करने के लिए तथा लोक-सादृश्य एव विनिर्मेय चित्र के द्वारा क्या क्या सूच्य है, प्रदर्श्य है विभाव्य है—यह सब इसी सिद्धान्त के द्वारा चित्र स्फुटता और चित्रकार का अभीप्सित उद्देश्य भी सम्पन्न हो जाता था। चित्र-कला और चित्र-कार का यही परम कौशल था। मानसोल्लास मे जो वर्तिका की परिभाषा दी गई है वह हमारे इस उपर्युक्त सिद्धान्त को दृढ करती है :—

कज्जल भक्तसिक्थेन मृदित्वा कर्णिकाकृतिम्।
वर्ति कृत्वा तया लेख्यं वर्तिका नाम सा भवेत्॥

यह वर्तिका-व्याख्या समरागण जैसे अधिकृत शिल्प-ग्रन्थ से भी पुष्ट होती है (दे० अनु० म० ७१) मानसोल्लास—अभिलषितार्थ-चिन्तामणि-नामापर शीर्षक-ग्रन्थ मे जो हमने आलेख्य-चित्र मे तीन लेखनियो (वर्तिका, तूलिका तथा लेखनी) का जो सकेत किया है, उनमे तूलिका (Paint-Brush) भी एक प्रकार से द्विविध कीर्तित की गई है। तूलिका यथानाम कलरपेन है जो रेखाओ के लिए है और इसकी दूसरी विधा बिन्दु के नाम से निर्दिष्ट की गई है। इन दोनो की रचना-प्रक्रिया मे भी बडे कौशल की आवश्यता होती थी। विशेषकर वशवृक्ष से यह बनती थी, क्योकि वंश ही इन लखनियो के लिये उस समय बडा उपयुक्त माना जाता था और उस म ताम्र की यवमात्रिक निब लगाई जाती थी।

जहा तक वर्तिका-निर्माण का प्रश्न है उसकी प्रक्रिया समरागण-सूत्रधार (मूलाध्याय ७२, १–३, तथा परिमार्जित समरागण ४६, १-३) मे देखिये और साथ ही इस का अनुवाद भी देखिये वहा पर इस वर्तिका-बन्धन मे कितने अध्यवसाय की आवश्यकता होती थी—कहा से, किस क्षेत्र से, गुल्म, वापी, वृक्ष-मूल आदि आदि स्थानो से—मृत्तिका लानी चाहिये। फिर उसमे कौन कौन से द्रव्य चूर्ण, औषधिया आदि मिलाई जाती थी और किस पारिभाषिक प्रक्रिया से इस को वर्तिका (वर्ति) बनाई जाती थी—यह सब हमारे प्राचीन शिल्प एव चित्र की प्रौढ प्रक्रिया एव परम्परा पर प्रकाश डालती है।

भूमि-बन्धन—वैसे तो अन्य चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो मे चित्रो के जो प्रकार बताये जाते हैं, वे कुछ मौलिक एवं निर्भ्रान्त नही हैं। सत्य, वैणिक, विद्ध, अविद्ध, धूलि, रस आदि सब मेरी दृष्टि मे वर्गानुरूप स्पष्ट नही हैं, परन्तु समरागण की दृष्टि मे यह दिशा बडी वैज्ञानिक है, क्योकि पुरातत्वीय-अन्वेषणो मे प्राप्त जो निदर्शन मिलते है, वे भी समरागण के चित्र-प्रकारो की पूरी पुष्टि करते हैं। प्राचीन, पूर्व एव उत्तर मध्य-कालीन जो स्मारक-निबन्धनीय चित्र मिलते हैं वे या तो कुडय-चित्र (Mural Paintings) हैं अथवा पट्ट-चित्र (Panels) अथवा पट-चित्र जैसे पुरी मे भगवान् जगन्नाथ के पट-चित्र—''पटस्थो नारायणो हरिः''—(दे० हृ० प०)। इसी प्रकार नाना भाण्डागारो मे ऐसे चित्र-स्मारक-रूप मे बडी मात्रा मे मिलते हैं। अतएव स० सू० मे जो चित्र की त्रिविधा है वही चित्रानुकूल भूमि-बन्धन भी त्रिविध है।

(१) कुडय-भूमि-बन्धन (The Mural Canvas);
(२) पट्ट-भूमि-बन्धन (The Board Canvas);
(३) पट-भूमि-बन्धन (The Cloth Canvas)।

इन भूमि-बन्धनो के निर्माण की प्रक्रिया बडी ही एक प्रकार की अनचर्या-रूप है। समरागण-सूत्रधार (दे० अनु०) का आदेश है कि भूमि बन्धन के लिये कर्ता अर्थात् चित्रकार, भर्ता अर्थात् सरदार, शिक्षक अथवा आचार्य या गुरु—इन सब को पहले व्रत रखना चाहिये। फिर जो भूमि-बन्धन के पूर्व वर्तिका निर्मित हो चुकी है, उसकी पूजा करनी चाहिए। पुन. यथाभिलषित भूमि-बन्धन खर अथवा मृदु—तदनुरूप पिण्डादि, वल्कादि, चूर्णादि एव द्रवादि इन सबों से रोमकूर्चक से लेप, प्लास्टर करना चाहिए। यह एक प्रकार की प्रारम्भिका प्रक्रिया है, जिसकी संज्ञा शिक्षिका-भूमि दी गई है। अस्तु अब हम इन तीनो भूमि-बन्धनो की अलग-अलग समीक्षा करेंगे।

कुड्य-भूमि-बन्धन—भित्तिक-चित्रों के लिये लेप्य-प्रक्रिया आवश्यक है। पहले तो दीवाल को सम बनाना चाहिये, पुन क्षीर-द्रुमों जैसे स्नुही-वास्तुक, कुष्माण्डक, कुद्दाली, अपामार्ग अथवा इक्षु आदि के क्षीर-रस को एक सप्ताह तक रखा जाये। शिंशपा, आमन, निम्बा, त्रिफला, व्याधिघात, कुटज आदि वृक्षों के रस में उपर्युक्त क्षीर-द्रुमों के रसों को मिश्रित द्रव्य बना कर उसके द्वारा समतलीय भित्ति पर सिंचन करना चाहिये। पुन दूसरी प्रक्रिया पर आना चाहिये जो मृत्तिका-लेपन से उस का लिम्पन करना चाहिये। मृत्तिका मार्दवी होनी चाहिये और उसमें ककुभ, माष, शाल्मली, श्रीफल वृक्षों के द्रवों को लेकर मिलाना चाहिये। इस तरह से प्लास्टर बनाकर गज-चर्म प्रमाण मे दीवाल पर लेप करना चाहिये। तीसरी प्रक्रिया अर्थात् अन्तिम प्रक्रिया के द्वारा कडि-शर्करा-चूर्णों के द्वारा इस पर दूसरा प्लास्टर करना चाहिये। इस प्रक्रिया से वर्ण-विन्यास अपने आप उभर आता है और छाया-कान्ति भी इसी के द्वारा प्रस्फुटित हो जाती है।

अजन्ता के चित्रों को देखिये तो Frescos चित्र ही वहा के सब से अधिक अनुपम एव समृद्ध निदर्शन हैं। वे इसी समरागण-सूत्रधार की कुड्य-भूमि-निबन्धन के निदर्शन हैं। ग्रिफिथ (देखिये The Paintings in the Buddhist Cave Temples of Ajanta Vol. I, Page 18) ने भी इस प्रक्रिया का समर्थन किया है। अजन्ता के इन कुड्य-भूमि-बन्धनों मे मृत्तिका, गोबर, चावल की भूसी और चूर्ण (कडि-शर्करा) आदि सभी चूर्ण एव द्रव यथा-पूर्व-प्रतिपादित प्रक्रिया के द्योतक एव समर्थक हैं। तन्जोर के बृहदीश्वर मन्दिर के आलेख्य-चित्रों को देखें तो वहा पर भी कडि-शर्करा और बालुका का प्रयोग भी इन भित्तिक-चित्रों मे साक्षात् प्रतीत हो रहा है। दक्षिण का यह अति-प्रसिद्ध मन्दिर ११वीं शताब्दी का स्मारक-प्रासाद है और समरागण-सूत्रधार भी इसी शताब्दी मे लिखा गया था। अतएव शास्त्र एव कला दोनो का यह ग्रन्थ प्रतिनिधित्व करता है। श्री परम शिवन (देखिये The Mural Paintings on Brhadisvara Temple at Tanjore—an Investigation into the method and Technical studies in the Field of Fine Arts) ने भी इस प्रक्रिया की समीक्षा से इस प्रतिपादित शास्त्रीय प्रक्रिया का समर्थन किया है।

जहा तक मुगल चित्रो एव राजस्थानी चित्रो, जिन को हम उत्तर मध्य-कालीन कृतियो के रूप में विभावित कर सकते है, उनमे भी इसी प्रकार का

भूमि-बन्धन-प्रक्रिया का आश्रय लिया गया था। वैसे तो आधुनिक विद्वानो ने मुगल-कालीन भित्तिक-चित्रो के भूमि-बन्धन को इटली के समान उसको Fresco Buono की संज्ञा दी है।

अस्तु, हमे यहा पर विशेष विस्तृत समीक्षा म जाने की आवश्यकता नही। हम तो समरागण-सूत्रधार की लेप्य-क्रिया की प्रक्रिया को पाठको के सामने रखना था, जो हमारे चित्र-शास्त्र और चित्र-कला के पारिभाषिक एव लौकिक दोनों दृष्टियो का विकास कितना उस समय हो चुका था, यह प्रतिपादित करता है।

अब हम इन तीनो भूमि-बन्धनो मे कुड्य भूमि-बन्धनो के बाद पट्ट भूमि-बन्धन पर आ रहे हैं।

पट्ट-भूमि-बन्धन —इस प्रक्रिया मे निम्बा बीजों को लाकर उनकी गुठलियो को निकाल कर पुन उनको विशुद्ध कर उनका चूर्ण बनाना चाहिए फिर किसी बर्तन मे रखकर पकाना चाहिए। इसी द्रव से फलको पर प्लास्टर करना चाहिए। यदि निम्बा-बीज न मिल रहे हो तो शालि-भक्त का प्रयोग करना भी उपादेय प्रतिपादित किया गया है।

पट-भूमि-बन्धन—वैसे तो अन्य चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थो क अनुसार इस पर भूमि-बन्धनो की प्रक्रिया के नाना अवान्तर भेद प्राप्त होते हैं, परन्तु समरागण-की दिशा मे यह पट्ट-भूमि-बन्धन के ही समान है।

प्राचीन भारत मे तथा पूर्व एव उत्तर मध्यकालीन भारत मे पट चित्रों का बड़ा प्रसार था। बौद्ध ग्रन्थो जैसे सयुत्त-निकाय विशुद्धि मग्ग महावश, मञ्जुश्री मूलकल्प, ब्राह्मण ग्रन्थो मे जैसे वात्स्यायन काम-सूत्र मे भास के दूत-वाक्य मे, माधवचार्य की पचदशी मे इस प्रकार के नाना सदर्भ प्राप्त होते हैं।

उडीसा, पट-चित्रो का प्राचीन काल से केन्द्र रहा है। पुरी के भगवान् जगन्नाथ के पट-चित्रो का सकेत हम कर चुके हैं। वैष्णव धर्म मे वास्तव में पट-चित्रों का *बड़ा माहात्म्य है*। इस का भी हम पहले ही हयशीर्ष पचरात्र के प्रवचन के उद्धरण से इस के प्रोल्लास की ओर सकेत कर ही चुके हैं। जिस प्रकार उडीसा में इस वैष्णव पीठ (जगन्नाथपुरी) पर पट चित्रों की बड़ी महिमा है उसी प्रकार राजस्थान के वैष्णवी पीठ श्रनाथद्वार मे भी इन पट-चित्रो की महिमा है।

हमने अपने Hindu Canons of Painting or Citra-Laksanam" तथा Royal Arts—Yantras and Citras मे इस समरागणीय भूमि-बन्धन की जो तुलनात्मक समीक्षा और चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों, तथा स्मारको के सम्बन्ध म विश्लेषण किया है, वह विस्तार से वहीं द्रष्टव्य है।

चित्राधार एवं चित्र-मान :—भूमि-बन्धन के उपरांत बिना आधार एवं प्रमाण के चित्र की रचना असंभाव्य है । समरांगण-सूत्रधार में इस विषय पर दो अध्याय हैं (देखिए अण्डकप्रमाण एवं मानोत्पत्ति) । अण्डक का अर्थ चित्र-शास्त्र की दृष्टि से लगाना मेरे लिये बड़ा ही कठिन था। अन्ततोगत्वा जो मैंने इसकी व्याख्या की उसको देख कर इस देश के विद्वद्रत्नों यथा म० म० वासुदेवविष्णु मिराशी, उन्होंने इस पर बड़ी प्रशंसा प्रकट की जो शब्द बिलकुल अपरिज्ञेय में उनको सूझ-बूझ के द्वारा जो व्याख्या दी गई है, उससे पारिभाषिक शास्त्रों के अनुसन्धान एवं अध्ययन में बड़ा योग-दान मिला है। अण्डक का अर्थ हम ने बादामा माना क्योंकि अण्डा और बादाम एक ही आकार के दिखाई पड़ते हैं। वैसे तो अण्डक का अर्थ वास्तु-कला की दृष्टि से Cupola है, लेकिन लक्षण एवं मूर्तिकला अर्थात् चित्रकला में मेरी दृष्टि में यह एक प्रकार का खाका (Outline) है। जिस प्रकार से प्रासाद का अण्डक अर्थात् शृंग या शिखर प्रासाद-कला का सूचक एवं द्योतक है, उसी प्रकार से यह अण्डक अर्थात् बादामा नयैव प्रतिष्ठापक है।

समरांगण-सूत्रधार में नाना अण्डकों के मान पर विवरण दिये गये हैं जैसे पुरुष, स्त्री, शिशु राक्षस, दिव्य, देवता, दिव्यमानुष, प्रमथ, यातुधान, दानव, नाग, यक्ष, विद्याधर आदि आदि।

अस्तु अब इनकी तालिका प्रस्तुत करते हैं :—

क्रम सं०	संज्ञा	प्रमाण लम्बाई	चौड़ाई	विवरण
१	पुरुषाण्डक	६	५	नारिकेलफलोपम
२	वनिताण्डक	—	—	....
३	शिशुकाण्डक	५	४	....
४	राक्षसाण्डक	७	६	चन्द्रवृत्तोपम
५	देवाण्डक	८	६	....
६	दिव्य-मानुषाण्डक	६½	५½	मानुषाण्डक से ½ अधिक
७	प्रमथाण्डक	५	४	शिशुकाण्डक-सम
८	यातुधानाण्डक	७	६	दे० राक्षसाण्डक
९	दानवाण्डक	८	६	दे० देवाण्डक
१०	गन्धर्वाण्डक	८	६	..

११	नागाण्डक	८	६	,,
१२	यक्षाण्डक	८	६	,,
१३	विद्याधराण्डक	६½	५½	दे० दिव्यमानु०

अण्डक-प्रमाणो के बाद काय-प्रमाण भी चित्र-शास्त्र मे अत्यन्त उपादेय माने गये हैं। उनके भी प्रमाण निम्न तालिका से सूच्य हैं :

व्यक्ति-विशेष	प्रमाण लम्बाई	चौडाई	विवरण
१ देव	३०	८	
१ असुर	२६	७½	
३ राक्षस	२७	७	
४ दिव्य मानुष	—	—	
५ मानव			
अ. पुरुषोत्तम (उत्तम)	२४½	६	
ब. मध्यम-पुरुष (मध्यम)	२३	५½	
स. कनीय-पुरुष (कनिष्ठ)	२२	५	
६ कुब्ज (कूबड)	१४	५	
७ वामन (बौना)	७½	५	
८ किन्नर	७½	५	
९ प्रमथ	६	४	

समरागण-सूत्रधार मे नाना रूपो के भी बडे ही मनोरजक प्रकार, वर्ग, एव विधायें प्राप्त होती हैं। उन सब की निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है।—

जातियाँ	विधा
१ देव	त्रिविध—सुरश्र, कुम्भक, ...
२ दिव्य-मानुष	एकमात्र—दिव्यमानुष
३ असुर	त्रिविध—चक्र, सुत, तीर्णक
४ राक्षस	त्रिविध—दुर्दर, शकट, कूर्म
५ मानव	पच-विध—हस, शश, रूचक, भद्र, मालव्य
६	द्विविध—मेष, वृत्ताकर
७ वामन	त्रिविध—पिण्ड, स्थान, पद्यक
८ प्रथम	त्रिविध—कूष्माण्ड, कर्वट, तिर्यक्
९ किन्नर	त्रिविध—मयूर, कुक्कुट, काय

१०	स्त्री	पंचविधा—बलाका, पौरुषी, वृत्ता, दडा, ...
११	गज—जन्मत.	चतुर्विध—भद्र, मन्द, मृग, मिश्र
	जीवनाश्रय	त्रिविध—पर्वताश्रय, नद्याश्रय, ऊपराश्रय
१२	अश्व (रथ्य)	द्विविध—पारस, उत्तर
१३	सिंह	चतुर्विध—शिखराश्रय, बिलाश्रय, गुल्माश्रय, तृणाश्रय
१४	व्याल	षोडश विध —
	हरिण	गण्डक
	गृध्रक	गज
	शशक	क्रोड
	कुक्कुट	अश्व
	सिंह	महिष
	शार्दूल	श्वान
	वृक	मर्कट
	अजा	खर

टि० :—यह रूप-तालिका समरांगण-सूत्रधार को छोडकर अन्य, किसी भी चित्र ग्रन्थ मे प्राप्य नहीं। विष्णु धर्मोत्तर, जो इस चित्र-विद्या का सर्व प्राचीन एव प्रतिष्ठापक ग्रन्थ है, उसमे केवल सकेत-मात्र है, तालिका एव विवरण नहीं मिलते।

यह अण्डक एव काय प्रमाणादि सब एक प्रकार से शास्त्रीय रूढियां (Conventions) हैं। अण्डक आदि प्रमाण तथा काय आदि प्रमाण यह सब एक प्रकार से चित्र मे शि प के उद्भावक हैं। यदि हम किसी महापुरुष जैसे भगवान् बुद्ध तथा मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् राम को हम चित्र में चित्रित करना चाहते हैं, तो उन्हें हम आजान-बाहु तथा अन्य महापुरुष-लाञ्छनो से लाञ्छित यदि नहीं करते हैं, तो कैसे ऐसे महापुरुषो के चित्र चित्र्य हो सकते हैं? सभी महाराजे, अधिराज भी, इसी प्रकार के महापुरुषो तथा दिव्य देवो के सदृश तेजो-मडल से विभावित किए जाते हैं। रेखाओ से भी इन्हें लाञ्छित किया जाता है। मुखाकृति, शरीराकृति आदि के अतिरिक्त, कुन्तल, केश, वेष, वस्त्र, आयुध—अस्त्र-शस्त्र भी तो यथा पुरुष वैसा ही चित्र—उसी मे यह सब चित्र्य हैं।

इसी प्रकार किस पुरुष अथवा नारी या पशु और पक्षी, देवता अथवा देवी के अंगो, प्रत्यंगो, उपांगो का निर्माण किस प्रकार करना चाहिए, और उसका आकार कैसा होना चाहिए प्रमाण—लम्बाई, ऊंचाई, मोटाई, गोलाई कैसी करनी चाहिए ? किस चित्र मे अक्षि धनुषाकार अथवा मत्स्योदर-सन्निभा बनाना चाहिए या पदमाकृति में बनानी चाहिए इन सब की प्रक्रिया विषय पर आश्रित है। यदि प्रेमी और प्रेमिका के अक्षियो का चित्रण करना है तो उनकी आख मत्स्योदर-सन्निभा विहित है। शान्त-मुद्रा, ध्यान-मुद्रा मे अक्षि का आकार धनुषाकार बताया गया है। विष्णुधर्मोत्तर मे, राजाओ, महाराजाओ, पितरो, मुनियो ऋषियो आदि की किस प्रकार की वेष भूषा करनी चाहिए—यह सब उस ग्रन्थ मे विशेष रूप से दृष्टव्य है। हमने अपने ग्रन्थ मे समरागण-सूत्रधार के लक्षणो मे इन विवरणो की पूर्ण रूप से समीक्षा की है जो हमारे Hindu canons of Painting or Citralaksanam तथा Royal Arts—Yantras and Citras मे विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं।

अस्तु अब मानाधार—इस स्तम्भ के अर्ध-शीर्षक व क्षेत्र पर हमने थोडा प्रकाश डाल दिया है, अब चित्र मान पर विचार करना है। भारतीय स्थापत्य की दृष्टि से चित्र के षडग म रूप-भेदो के बाद प्रमाणो का महत्वपूर्ण स्थान आता है। वैसे तो समरागण-सूत्रधार विष्णु-धर्मोत्तर तथा अपराजित-पृच्छा ऐसे वृहद ग्रन्थो मे चित्र-मान पर काफी विवरण प्राप्त होते हैं, परन्त मानसोल्लास में चित्र प्रमाण प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) पर बडा ही पारिभाषिक, वैज्ञानिक तथा प्रौढ विवरण प्राप्त होता है। मानसोल्लास की सबसे बडी देन फलक चित्र (Portrait Paintings) हैं। इन चित्रो के निर्माण के लिए मान-सूत्रों का बडा महत्वपूर्ण स्थान है—ब्रह्मसूत्र (Plumb lines) तथा दो पक्ष-सूत्र। ब्रह्मसूत्र यथा नाम केशान्त अर्थात् मस्तक से यह रेखा प्रारम्भ होती है और दोनो आखो की भौहो के मध्य से, नासिकाग्र भाग से, चिबुकमध्य, वक्ष.स्थल-मध्य तथा नाभि से गुजरती हुई दोनो पादो के मध्य तक अवसानित हो जाती है। इस प्रकार यह रेखा एक प्रकार से शरीर के केन्द्र को अंकित करती है, जो सिर से लगाकर पाद तक खिचती है। जहा तक दो पक्ष-सूत्रो का प्रश्न है वे भी यथानाम शरीर के पार्श्वों से प्रारम्भ होते हैं। यह आवश्यक है कि ब्रह्मसूत्र की रेखा से दोनों ओर छं अगुल के अवकाश पर इन दोनो सूत्रो का प्रयोग करना चाहिए। ये दोनो कर्णान्त से प्रारम्भ करते हैं और चिबुक के पार्श्वों से

गुजरते हुए, जानुम्रो के मध्य मे पुन: खाल तथा पाद की दूसरी अंगुली, जो अगूठे के निकट होती है, वहा पर प्रत्यवसानित होती है।

इस अत्यन्त पारिभाषिक मान-प्रक्रिया (Pictorial Iconometry) मे स्थानक-मुद्रायें अर्थात् पाद-मुद्राए बडा महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। अतएव इन्ही सूत्रो के द्वारा जो समरागण-सूत्रधार मे ऋज्वागतादि नौ स्थानो का प्रतिपादन किया गया है, उनमे मानसोल्लास की दृष्टि से निम्नलिखित पाच स्थानक-मुद्राओं को इन सूत्रों के द्वारा विहित बताया गया है:—

इस ग्रन्थ मे इन स्थानक मुद्राओ को ऋजु, अर्धर्जु, साची, अर्धाक्ष तथा भित्तिक की सज्ञाओं मे प्रतिपादित किया गया है।

ऋजु स्थान :—सम्मुखीन मुद्रा-स्थिति से वेद्य है जिस में ब्रह्म-सूत्र (Central and Plumb Line) जैसा ऊपर सकेत है, यहा पर भी छै अगुल का अवकाश बताया गया है।

अर्द्धर्जुक-स्थान :—इसका वैशिष्ट्य यह है कि ब्रह्मसूत्र से पार्श्व पर एक पक्ष-सूत्र का अवकाश आठ अगुल का है और दूसरे पार्श्व पर चार अगुल का।

साची-स्थान :—इस मे विशेषता यह है कि ब्रह्म-सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर दस अगुलो का मध्यावकाश बताया गया है और दूसरे पार्श्व पर केवल दो अगुलो का;

अर्धाक्षिक स्थान :—इस की अन्य सूत्रो के समान वैसी ही व्यवस्था दी गई है। यहा पर ब्रह्म-सूत्र से एक पार्श्व पर पक्ष-सूत्र की ओर एकादश अगुल आवश्यक है और दूसरे पार्श्व पर केवल एक अगुल।

भित्तिक-स्थान :—यहा पर ज्यो ही हम पहुचते हैं तो ब्रह्म-सूत्र उड गया और पक्ष-सूत्रों का आधिराज्य हो गया।

अभी तक हम चित्राधार एव मान विग्रह पर कुछ प्रतिपादन करते रहे। अब मानाधारो पर आकर पुनः ग्रन्थ मे समलम्बित मानों (Vertical Measurements) की तालिका भी रक्खेंगे, जिससे यह पता लगेगा कि प्राचीन भारत मे और पूर्व एव उत्तर मध्यकाल मे चित्र विद्या एव कला कितनी प्रौढ़ थी और चित्र-शास्त्र का कितना प्रवृद्ध पारिभाषिक विकास हो चुका था। यह सब हमारे स्थापत्य-कौशल के ही सूचक नही हैं वरन् हमारे प्राचीन पारिभाषिक एव वैज्ञानिक शास्त्रो का भी प्रतिबिम्बन करते हैं।

समरांगण सूत्रधार के मानोत्पत्ति का अनुवाद देखें, उसी के अनुरूप हम यहां पर चित्र-तालिका की उपस्थापना करते हैं :—

८ परमाणु—१ त्रसरेणु	८ यूका—१ यव
८ त्रसरेणु—१ बालाग्र	८ यव—१ अंगुल या मात्रा
८ बालाग्र—१ लिक्षा	२ अंगुल—१ गोलक या कला
८ लिक्षा—१ यूका	२ कला या गोलक—१ भाग

सारा शरीर शिर से पैर तक ऊंचाई मे नौ ताल है केशान्त से हनु तक मुख एक ताल का होता है।

ग्रीवा	४ अंगुल	ग्रीवा से हृदय	१ ताल
हृदय से नाभि	१ ताल	नाभि से मेढ़ू	१ ताल
ऊरु	२ ताल	जानु	४ अंगुल
जंघा	२ ताल	चरण	२ अंगुल

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र के अनुसार शरीर की ऊंचाई ९ ताल है और मौलि केशान्त चार अंगुल है। इस प्रकार वास्तविक ऊंचाई नौ ताल और ४ अंगुल है अथवा साढे नौ ताल।

समलम्बित मान (Vertical Measurements)

१ मस्तक-सूत्र (Line of the Crown)

२ केशान्त-सूत्र :—यह सूत्र मस्तक से चार अंगुल नीचे से, कर्णाग्र से तीन अंगुल ऊंचे उठकर, शिर के चारों ओर जाती है ;

३ ललनोद्देश-सूत्र उपर्युक्त रेखा के नीचे दो अंगुल से प्रारम्भ होती है और ताल-मध्य से जाती है और कर्णाग्र के ऊपर एक अंगुल से प्रारम्भ होती है ;

४ कक्षोत्सन्न सूत्र :—एक अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर जब भौंहों के निकट से जाती है तो शीर्ष-कर्म के अन्त मे प्रत्यवसानित होती है ,

५ कनीनिका सूत्र :—जो अपांग-पार्श्व से प्रारम्भ होकर पिप्पली की धार जाती है वह एक अंगुल नीचे से प्रारम्भ होती हैं ;

६ नासा-मध्य-सूत्र :—दो अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर कपोल के ऊर्ध्व-प्रदेश से गुजरती हुई कर्ण मध्य में अवसानित होती है ,

७ नासाग्र-सूत्र :—दो अंगुल नीचे से प्रारम्भ होती है। यह कपोल-मध्य जाता हुआ कर्ण-मूल पर के श्रोतपत्ति-प्रदेश तथा पृष्ठ पर अवसानित होती है ;

८ वक्त्र-मध्य सूत्र :—आधे अंगुल नीचे से प्रारम्भ होकर स्पृक्का अथवा स्फाटिका से गुजरता है ;

९ अधरोष्ठ-सूत्र :— यह भी आधे अंगुल नीचे होता है; पुन वह चिबुक हड्डी से गुजरती हुई ग्रीवा पृष्ठ पर पहुंच जाती है ;

१० हन्वग्र-सूत्र :—तो दो अंगुल नीचे से शुरू होती है । यह ग्रीवा से गुजरती हुई कन्धे की हड्डी पर पहुंचती है ;

११ हिक्का-सूत्र :—यह कधो के नीचे से पास होता है ,

१२ वक्षःस्थल-सूत्र :—सात अंगुलो से नीचे से प्रारम्भ होता है ;

१३ विभ्रमांग-सूत्र :—पाच अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H.C.P.

१४ जठर-मध्य-सूत्र —छै अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C. P.

१५ नाभि-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C P.

१६ पक्वाशय-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H .C P.

१७ काञ्ची पाद-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C P

१८ लिंग शिरः-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C P

१९ लिंगाग्र सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C. P.

२० ऊरु-सूत्र :—आठ अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C P.

२१ मान-सूत्र (ऊरु-मध्य-सूत्र):—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H C.P.

२२ जानुमूर्ध-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होता है—वि० वि० दे० H. C. P.

टि० :—ये तीनों (२०—२२) सूत्र जघाओं (Thighs) के अगल से गुजरते चाहिये ।

२३ जानुमध्य-सूत्र :—चार अंगुल नीचे से प्रारम्भ होते हैं । यह भी जानु के चारों ओर से गुजरना चाहिए ।

२४ हाक्रयस्ति-सूत्र :—बारह अगुल अर्थात् एक ताल से नीचे पास होना चाहिये ।

२५ नलकान्त सूत्र :–दश अगुल नीचे से प्रारम्भ होना चाहिए ;

२६ गुल्फान्त-सूत्र :—दो अंगुल नीचे से प्रारभ होना चाहिए ;

२७ भूमि-सूत्र —चार अगुल से नीचे प्रारम्भ होता है ।

इस प्रकार इस ब्रह्म-सूत्र की लम्बाई का टोटल १०८ अगुल हो जाता है।

विशेष सूच्य यह है कि मानसोल्लास की दिशा मे भित्तक चित्र—कुड्य-चित्रो (Mural Paintings) मे केवल उपर्युक्त चार स्थानो अर्थात् ऋजु आदि प्रथम चार ही उपादेय हैं। पाचवा भित्तिक-स्थान यहा पर कोई महत्व नहीं रखता, क्योकि वहा पर कोई भी अगभाग यहा पर प्रकाश्य एव प्रदर्श्य नही होता ।

लेप्य-कर्म

लेप्य-कर्म चित्र-शास्त्र का पारिभाषिक शब्द है। इससे हम रगो अर्थात् वर्ण-विन्यास तथा पेंटो को नही गतार्थ कर सकते। लेप्य कर्म का प्रयोग भूमि-बन्धन मे है, जिसका साहचर्य वर्तिका से है। और वर्ण-विन्यास, जैसा हम आगे देखेंगे, उसका साहचर्य लेखनी या तूलिका से है। पीछे भूमि-बन्धन-स्तम्भ मे लेप्य-प्रक्रिया पर प्रकाश डाला ही जा चुका है, अब यहा पर विशेष शातव्य एव प्रतिपाद्य यह है कि लेप्य किस प्रकार से निर्मित होता है। प्राचीन भारतीय चित्रकला की सर्व-प्रमुख विशेषता समस्त स्थावर-जगमात्मक ससार का प्रतिबिम्बन ही एक मात्र उद्देश्य था। अपराजित-पृच्छा का निम्न उद्धरण इस पृष्ठ-भूमि का कितने सुन्दर ढग से समर्थन करता है :—

> कूपो जलं जल कूपे विधिपर्यायतस्तथा ।
> तद्विच्चित्रमय विश्वं चित्र विश्वे तथैव च ॥

अब थोडा सा संकेत आधुनिक चित्र-कला के स्वरूप और उद्देश्य पर करना है, जिससे हमारी प्राचीन चित्र-विद्या का मूलाधार विषयीगत चित्रण (Objective representation) था वह बोधव्य हो सके; परन्तु आजकल जिन भी चित्रो को देखें उनमे चित्रकारो की अपनी subjective विषयगत भावना के द्वारा यह चित्र निर्मित होने लगे हैं, जिनको subjective representations विषयगत चित्र कह सकते हैं। मेरी दृष्टि मे यह आधुनिक चित्र-कला अपनी मूल भित्ति को ही छोड दी है। चित्र का नैरुक्तिक अर्थ प्रतिबिम्बन है; अतः चित्र और अग्रजी क पद painting शास्त्रीय दृष्टि से कभी भी

पर्यायवाची नहीं हो सकते। अंग्रेजी के इस शब्द Painting के लिए पूरी छूट है जो चाहो Paint करो परन्तु चित्र के लिए तो प्रतिमा के लिए तो इस समस्त स्थावर-जंगात्मक संसार से किसी भी पदार्थ अथवा द्रव्य को लें तो उसका तब ही चित्रण हो सकता है जब उसमें प्रतिबिम्बन पूर्ण रूप से मुखरित हो जाए। अस्तु, इतनी सूक्ष्म समीक्षा पर्याप्त है। अब आइये लेप्य-कर्म की ओर।

लेप्य-कर्म—समरांगण-सूत्रधार के लेप्य-कर्म-शीर्षक अध्याय में लेप्य-प्रक्रिया का बड़ा ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक विधान प्रतिपादित किया गया है। पहले तो लेप्य के लिए किस प्रकार की मृत्तिका अपेक्षित होती है, उसके बड़े पुष्कल विवरण दिए गये हैं कि यह मिट्टी किन किन स्थानों, स्थलों एवं तटों से लाई जाए। पुनः जैसा हम ऊपर संकेत कर चुके हैं वर्तिका और भूमि-बन्धन एक दूसरे के क्रमशः साधन एवं साध्य हैं। किस प्रकार से वर्तिका बनाई जाती है और किस प्रकार से लेप्य बनाया जाता है यह सब विवरण इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड-अनुवाद में देखें।

स० सू० में लेप्य एक मात्र मार्तिक प्लास्टर अर्थात् मार्तिक लेप्य के विवरण दिए गए हैं; परन्तु वि० ध० में तो ऐष्टिक प्लास्टर (Brick Plaster) अर्थात् शैलेय प्लास्टर की विशेष महत्ता दी गई है। यह लेप्य-कर्म वि० ध० में वज्र-लेप के समान दृढ़ बताया गया है। डा० कुमारी स्टैला क्रैमरिश ने वि० ध० के इस चित्र-प्रकरण का अनुवाद किया है उसका अवतरण विशेष संगत नहीं है।

मानसोल्लास में भी इसी प्रकार के लेप का प्रतिपादन है जिसकी संज्ञा वज्रलेप के नाम से दी गई है।

स्निग्धानुलेपन (Ointment)—जहां तक Ointment का प्रश्न है वह एक प्रकार से किसी भी आलेख्य के लिए जो भूमि-बन्धन (कुड्य-भूमि बन्धन, पट्ट-भूमि-बन्धन अथवा पट-भूमि-बन्धन) लेप्य-कर्म के द्वारा बनता है, उसका दूसरा सोपान स्निग्धानुलेपन (Ointment) है। वह एक प्रकार से अपनी भाषा में मर्दन एवं प्रोज्ज्वलन के नाम से प्रनीनित किया जा सकता है। इस प्रकार से लेप्य-कर्म में पहला सोपान मृत्तिका-बन्धन है। दूसरा सोपान जो ointment के नाम से हम पुकारते हैं वह एक प्रकार का सुधा-बन्धन अथवा रस बन्धन अथवा वर्ण-बन्धन है। प्रथम बन्धन तो मौलिक है और ये तीनों बन्धन एक प्रकार से उस बन्धन में वैशिष्ट्य सम्पादन के लिए प्रकीर्तित किए गए हैं जो भूमि बन्धन

की प्रोज्ज्वलता सम्पादनार्थ हैं। अतएव शिल्प-रत्न का निम्न प्रवचन इसी तथ्य का प्रतिष्ठापक एवं पोषक है —

एवं धवलिते भित्तौ दर्पणोदरसन्निभे,
फलकादौ पटादौ वा चित्रलेखनमारभेत्"

वर्ण और लेखनी तथा छाया और कान्ति

(क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त)

स० सू० के चित्राध्यायों मे वर्णों अर्थात् रगों के प्रवचन नही प्राप्त होते। इसमे एक मात्र सामान्य सन्दर्भ प्राप्त होता है। वि० ध० मे तथा शिल्प-रत्न मे वर्णों के सम्बन्ध मे विशेष विस्तार है और जहा तक मानसोल्लास की बात है वहा तो यह वर्ण-विन्यास-प्रक्रिया और भी अधिक प्रकृष्ट रूप मे परिणत हो गई है।

वि० ध० मे वर्णों की दो कोटिया प्रतिपादित की गई है, पहली कोटि मे, रक्त, शुभ्र, पीत, कृष्ण तथा हरित रगो को प्रधान रग Primary Colours माना है। दूसरी कोटि मे शुभ्र, पीत, कृष्ण नील तथा तैरिक (Myrobalam) ये जो भरत के नाट्य-शास्त्र मे प्रधान रग प्रतिपादित किए गये हैं, वे ही वि० ध० मे पाए गए हैं। शिल्प-रत्न और मानसोल्लास मे जिन पाच रगो का वर्णन किया गया है, उनमे भी कुछ वैमत्य है। शिल्प-रत्न मे शुभ्र, रक्त, पीत (Suit) तथा श्याम माने गये है। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि मे शुभ्र शव से निर्मित, रक्त सीसा अथवा अलक्तक द्रव अर्थात् लाख अथवा लाल खड़िया यानी गेरू से बनता है। हरिताल (Green Brown) तथा श्याम ये ही इस ग्रन्थ मे माने गए हैं।

जहा तक वर्णों का मिश्रण है वह तो चित्रकार पर आश्रित है। वर्णों के विन्यास मे छाया, कान्ति एवं प्रोज्ज्वलता तथा आकर्षण प्रदान करने के लिए स्वर्ण, रजत, ताम्र, पीतल, रक्ताभ, सीसा, ईंगर, सिंदूर, टिन इत्यादि नाना द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार इस उपोदघात् के अनन्तर अब इस विषय पर विशेष विवरण प्रस्तोत्य हैं क्योंकि यह सब कुछ आ जाए तो आलेख्य चित्र के लिए वर्ण-विन्यास ही मौलि-मालायमान कर्म है। वर्ण-विन्यास मे मूल रग अथवा शुद्ध वर्ण, अन्तरित रग, अथवा मिश्र वर्ण-वर्ण द्रव्य, स्वर्ण-प्रयोग— ये सब विवेच्य हैं। पुनः हम तूलिका, लेखनी एवं वर्तना, जो वर्ण-विन्यास (सा०१) के साधन हैं, उनपर भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

मूल-रंग (शुद्ध-वर्ण)—हमने इस उपोद्घात् मे विष्णु-धर्मोत्तर आदि की वर्ण-तालिकाओ का संकेत किया ही है तथापि जहा विष्णु-धर्मोतर मे पांच मूल रगो की तालिका मिलती है, वहां अन्य ग्रन्थो मे मूल रगो की सख्या केवल चार ही मिलती है। पाश्चात्य चित्र-कला मे मूल रगो की सख्या तीन ही है अर्थात् रक्त, पीत, नील। हमारे यहां शुक्ल को जोडकर चार की तालिका बना दी है। एक बात और विवेच्य है कि काला और नीला एक जैसा नही माना जा सकता। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि मे जो नीली की परिभाषा दी गई है वह इस विभेद को हमारे सामने साक्षात् उपस्थित कर देती है —

"केवलैव च या नीली भवेदिन्दीवरप्रभा"

इस लिए यह नीली कृष्ण से एक प्रकार से बिल्कुल विभिन्न है, क्योंकि कृष्ण कज्जल-सम कहलाता है। इस प्रकार इन पाच मूल रगो अर्थात् शुद्ध वर्णों के पृथक् पृथक् चषक (प्याले) रक्खे जाते थे। इनका प्रयोग शुद्ध वर्णों तथा मिश्रित वर्णों दोनो के लिए किया जाता था।

वैसे तो अपराजित-पृच्छा मे भी चार ही मूल रग है, परन्तु उसकी नवीनता अथवा उद्भावना यह है कि ये वर्ण नागर, द्राविड आदि चारो शैलियो पर आश्रित हैं। अत. यह विवरण यहाँ पर न लेकर आगे के स्तम्भ (चित्र-शैलियो) मे लेंगे। अब आइये अन्तरित रगो अथवा मिश्र-वर्णों पर।

अन्तरित-रंग (मिश्र-वर्ण) —ये वर्ण वर्णो के परस्पर सयोजन अथवा मिश्रण से उत्पन्न होते हैं। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि का निम्न उद्धरण पढ़िये तो हमे इन मिश्रित वर्णों की कैसी सुषमा निखरती हुई देख पडेगी। शिल्प-रत्न तथा शिव-तत्त्व-रत्नाकर मे भी मिश्र वर्णों के बडे ही सुन्दर विवरण प्राप्त होते हैं। बाण की कादम्बरी पढ़िए, तो यहां पर ऐसा मालूम पडता है कि सारे के सारे पन्ने मूल रंग तथा मिश्रवर्ण दोनो से रगे पडे हैं। आज तक शायद ही किसी ने परम्परागत उक्ति— "बाणोच्छिष्ट जगत्सर्वम्" का ठीक ठीक अर्थ लगाया हो। बाण के मस्तिष्क मे सम्पूर्ण स्थावर-जंगमात्मक ससार करामलकवत् था। अतएव यह उक्ति इस पारिभाषिक एव वैज्ञानिक चित्र-शास्त्र के परिशीलन से परिपुष्ट प्राप्त होती है। बाण ने तो गजब ढा दिया कि काले, पीले, हरे भूरे, लाल, नीले, सुनहरे, गेरूए, सफेद, कपोताभ आदि आदि शतशः रगो की कांति इस कादम्बरी-क्रीडास्थली में देखने को मिलती है। आगे इस अध्ययन के

परिशिष्ट भाग में हम महाकवि कालिदास, बाण, श्रीहर्ष आदि आदि अनेक कवियों के काव्यों की संदर्भ-तालिका का उद्धरण देंगे, जिस से इस वर्ण-महिमा पर लक्षण एवं लक्ष्य से पूरी पूरी समीक्षा हो सकेगी। अब हम यथा-प्रतिज्ञात

यहां पर अभिलषितार्थ-चिन्तामणि का उद्धरण प्रस्तुत करते हैं

शुद्धवर्णा :—पूर्येद्वर्णकैः पश्चात् तत्तद्रूपोचितैस्स्फुटम्।
उज्ज्वलं प्रोन्नते स्थाने श्यामलं निम्नदेशतः॥
एकवर्णार्पितं कुर्यात्तारतम्यविभेदतः।
अथवचेदुज्ज्वलो वर्णो घनश्यामलता व्रजेत्॥
भिन्नवर्णेषु रूपेषु भिन्नो वर्णः प्रयुज्यते।
मिश्रवर्णेषु रूपेषु मिश्रो वर्णः प्रयुज्यते॥
श्वेतेषु पूरयेच्छङ्ख शोणेषु दरदं तथा।
रक्तेष्वलक्तकरसं लोहिते गैरिकं तथा।
पीतेषु हरितालं स्यात्कृष्णे कज्जलमिष्यते।
शुद्धा वर्णा इमे प्रोक्तास्चत्वारश्चित्रकर्मणः।

मिश्रवर्णा:—मिश्रान् वर्णानतो वक्ष्ये वर्णसंयोगसम्भवान्।
दरदं शंखसम्मिश्रं भवेत्कोकनदच्छविः॥
अलक्तं शङ्खसम्मिश्रं धूम्रच्छायं निरूपितम्।
हरितालं शङ्खयुतं मेरमात्व? सदृशप्रभम्॥
कज्जलं शंखसम्मिश्रं धूमच्छायं निरूपितम्॥
नीली शङ्खेन संयुक्ता कपोताभा विराजते।
राजावर्तस्य एवायमतसीपुष्पसन्निभः॥
केवलैव हि या नीली नीलेन्दीवरप्रभा।
हरितालेन मिश्रा चेज्जायते हरितच्छविः॥
गैरिकं हरितालेन मिश्रितं गैरिकाभं व्रजेत्।
कज्जलं गैरिकोपेतं श्यामवर्णं निरूपितम्।
अलक्तकेन संसृष्टं कज्जलं पाटलं भवेत्।
अलक्तं नीलिकायुक्तं कवुं वर्णं भवेत् स्फुटम्॥
एवं शुद्धाश्च मिश्राश्च वर्णभेदाः प्रकीर्तिताः।

रंग-द्रव्य :—विष्णु-धर्मोत्तर में नाना-विध रंग द्रव्यों का प्रतिपादन है—कनक, रजत, ताम्र, अभ्रक, राजावर्त (हीरक—अर्थात् हीरे की विराट-

देशोद्भवा विधा), त्रपु, हरिताल, सुधा, लाक्षा, हिंगुलक तथा नील और लोहा। विष्णु-धर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढ़ें जिससे न केवल रग-द्रव्यो की तालिका ही नही मिलेगी, प्रत्युत ये रग-द्रव्य किन किन अन्य द्रवो के सयोग एव मिश्रण से उत्पन्न होते हैं, यह भी यहा पर परशीलनीय है :—

रगद्रव्याणि कनकं रजत ताम्रमेव च।
अभ्रक राजवन्त च सिन्दूर त्रपुरेव च॥
हरिताल सुधा लाक्षा तथा हिंगलुक नृप।
नील च मनुजश्रेष्ठ तथान्ये सन्त्यनेकश॥
देशे देश महाराज कार्यास्ते स्तम्भनायुताः।
लोहाना पत्रविन्यास भवेद्यापि रसक्रिया॥
सकट लोहविन्यस्तमभ्रकं द्रावणं भवेत।
एव भवति लोहाना लेखने कर्मयोग्यता॥
अभ्रकद्रावण प्रोक्तं सुरसेन्द्रजभूमिजे।
चम्पाकुयोऽय वकुला निर्यासस्तम्भनाद्भवेत्॥
सर्वेषामेव रंगाणां सिन्दूरक्षीर इष्यते।
मातगदूर्वारसप,वर्द्धैः सस्तम्भित चित्रमुदारपुष्ठं।
धौत जलेनापि न नाशयेत् तिष्ठत्यनेकान्यपि वत्सराणि॥

अब यहा पर जो विशेष विवेचनीय विषय है वह यह है कि विष्णु-धर्मोत्तर का राजावन्त क्या चीज है—कौन सा रग है ? परशियन चित्र-पदावली मे एक लाजवर्दी नाम बड़ा विश्रुत है। डा मोती चन्द्र ने इस रंग को परशिया की देन माना है, परन्तु मेरी दृष्टि मे यह धारणा भ्रान्त है। राजावन्त अथवा राजावर्त जो सस्कृत तत्सम शब्द है उसी का तद्भव एवं अपभ्रंश लजावर है जो आज भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी इलाको मे विशेषकर गोरखपुर मे नील (Blue par-Excellence) माना जाता है। अजन्ता के चित्रो में जो इस राजावन्त (नीलो) का प्रयोग प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है वह हमारे देश की ही विभूति है। उसमें परशिया (फारस) का कोई श्रेय नही। इसी प्रकार बगाल के दसवीं तथा दशमोत्तर शताब्दियो के प्रज्ञापारमिता-चित्रों मे भी इस राजावन्त का ही परम-कौशल है। कल्प-सूत्र तथा कालकाचार्य-कथा जो हस्त-लिखित ग्रन्थ हैं और जो इस नीले रग (राजावन्त) से रगे गये हैं वे भी सब हमारी इस रग-परपरा के निदर्शन हैं। अब आइये वर्ण-विन्यास में स्वर्ण-प्रयोग पर।

स्वर्ण-प्रयोग :—चित्र, जैसा हम ने पहले ही प्रतिपादित किया है, वह आलेख्य और तक्षण दोनों का प्रतिनिधित्व करता है। हमारे प्रतिमा-विज्ञान में प्रतिमा-द्रव्य-वर्ग पर दृष्टिपात करें तो धातुजा अथवा धातुत्था प्रतिमाओं का कितना विलास था। अतः प्राचीन भारत में प्रतिमा और आलेख्य दोनों में धातु का प्रयोग बड़े परिमाण में किया जाता था। जहां तक चित्र का सम्बन्ध है, वहां स्वर्ण (The metal par excellence) का प्रयोग प्राचीन चित्रकारों की एक गहरी हाबी थी जिस से चित्रों की अभिख्या, प्रोज्ज्वलता, कान्ति, दीप्ति, वर्ण-प्रकर्षता अपने आप निखर उठती थी। स्वर्ण-प्रयोग के द्वारा इन सभी चित्रों—कुड्य, फलक तथा पट में चित्र्य की वेष-भूषा, आकृति—अपांग सभी अपने आप निखर उठते थे।

गान्धार की बुद्ध-प्रतिमाओं में स्वर्ण-प्रयोग सिद्ध होता है। कहां तक अजन्ता, एलोरया, बाघ, बादामी आदि चित्र-पीठों में स्वर्ण का प्रयोग हुआ कि नहीं यह एक समीक्ष्य विषय है। अब आइये स्वर्ण-प्रयोग की प्रक्रिया पर। यह प्रक्रिया द्विविधा है :—

१. पत्र-विन्यास तथा

२. रस-क्रिया।

पत्र-विन्यास :—पुराने चित्रों को देखेंगे तो उनमें स्वर्ण-पत्रों का प्रयोग होता आया है।

रस-प्रक्रिया :—स्वर्ण को पहले तपाया जाता था, एवं जब वह द्रव रूप में परिणत हो जाता था, तो उसमें फिर अभ्रक के साथ कुछ क्वाथ एवं निर्यास भी मिलाये जाते थे जैसे—चम्पा-क्वाथ, बकुल-क्वाथ।

अभिलषितार्थ-चिन्तामणि तथा शिल्प-रत्न में वर्णों में स्वर्ण-योग तथा स्वर्ण-लेख्य-विधि के बड़े सुन्दर विवरण प्राप्त होते है, जो यहां पर उद्धरणीय है—

शुद्ध सुवर्णमत्यर्थं शिलाया परिपोषितम् ॥
कृत्वा कास्यमये पात्रे मालेयेत्तन्मुहुर्मुहुः।
क्षिप्त्वा तोय तदालोड्य निर्हरेत्तज्जल मुहुः ॥
यावच्छिलारजो याति तावत्कुर्वीत यत्नतः।
अनत्वान्मसृण हेम न याति सह वारिणा ॥
आस्तें तदमल हेम बालार्करुचिरच्छवि ॥
तरत्नकं हेमज स्वल्पवज्रलेपेन मेलयेत्।

मिलित वज्रलेपेन लेखिन्यग्रे निवेशयेत् ॥
लिखेदाभरण चापि यत्किञ्चिद्हेमकल्पितम् ॥
चित्रे निवेशितं हेम यदा शोषं प्रपद्यते ।
वाराहदंष्ट्रया तत्तु घट्टयेत्कनक शनैः ॥
यावद्वत्कान्ति समायाति विद्युच्चकितविग्रहम् ।
सर्वचित्रेषु सामान्यो विधिरेष प्रकीर्तितः ॥
प्रान्ते कज्जलवर्णेन लिखेल्लेखा विचक्षणः ।
वस्त्रमाभरण पुष्प मुखरागादिकं सुधीः ॥
अलक्तेन लिखेत्पश्चाच्चित्रवर्णं भवेत्तत ।

अब आइये तूलिका की ओर।

तूलिका–लेखनी–विलेखा (ब्रुश) :—समरागण-सूत्रधार में विलेखा अर्थात् ब्रुश के अर्थात् कूर्चक के पाच प्रकार बताये गये हैं। पुनः उनकी आकृति एवं निर्माण-दारू पर भी विवरण हैं। जहा तक निर्माण द्रव्य का सम्बन्ध है वह प्राय: वश-वृक्ष (बास) की लकडी का प्रयोग होता था। जहा तक इन की कोटियो और आकृतियो का प्रश्न है, वे निम्न तालिका में निभालनीय हैं:—

	संज्ञा	आकार
१	कूर्चक	वटाकुराकार
२	हस्त-कूर्चक	अश्वत्थाकुराकार
३	भास-कूर्चक	प्लक्ष-सूची-निभ
४	चल-कूर्चक	उदुम्बराकार
५	वर्तनी	?

के. पी. जायसवाल ने (Cf. A Hindu Text on Painting—Modern Review XXX Page 37) मे नवधा कूर्चकों का सकेत किया है। अभिलषितार्थ-चिन्तामणि में विलेखा के सम्बन्ध मे बड़े ही सूक्ष्म विवरण प्राप्त होते हैं। यह लेखनी इस ग्रन्थ के अनुसार त्रि-विधा है :—

१ स्थूला
२ मध्या तथा
३ सूक्ष्मा।

पहली से लेपन, दूसरी से अकन, तीसरी से सूक्ष्मा-रेखा-विन्यास। शिल्प-रत्न मे इन तीनों लेखनियों की नव-विधा है, जो मूल, मिश्र आदि रगो पर

आश्रित है। जहां तक इनके विवरणों का प्रश्न है, उनको निम्न उद्धरण में पढ़िये :—

लेखनी त्रिविधा ज्ञेया स्थूला सूक्ष्मा च मध्यमा ।
तद्दण्डमृदुमात्रं वा विष्कम्भ षड्यव स्मृतम् ॥
मुखे पुच्छे तदष्टांशमष्टांश वाथ वर्तुलम् ॥
वृत्ताग्रे विन्यसेच्छंकु दीर्घमर्धांगुलोन्नतम् ।
यथाकार च सुदृढं तत्र संयोजयेत् पुनः ।
स्थूलाया वत्सकर्णोत्थमजोदरभव परे ।
पिक्रोडपुच्छजं सूक्ष्मायामरोम तृणाग्रकम् ॥
तन्तुना लाक्षया वाथ दण्डाग्रस्तत्ताकृत् ॥
वर्तनात् लेखनीः सम्यक् प्रतिवर्णं त्रिधा त्रिधा ।
आकृत्या च त्रिधा स्थूला सूक्ष्मा मध्येति सा पुनः ॥
प्रत्येकं नवधा चैवं प्रतिवर्णं तु लेखनी ।
अथ मध्यमलेखन्या पीतवर्णरसेन तु ॥
किट्टलेखावहिर्भागे लिखित्वाव्यक्तमालिखेत् ।
मार्जयेत् किट्टरेखा ता पुनः सुव्यक्तमालिखेत् ॥
रक्तवर्णरसेनाथ सर्वं सम्यक् समालिखेत् ।

अब आइये वर्तना पर।

वर्तना (Delineation) :—वर्तना से तात्पर्य वर्ण-विन्यास में कान्ति एवं छाया अर्थात् दीप्ति एवं अदीप्ति (Light and Shade) से है। यह वर्तना वास्तव्य चित्रों का प्रमुख कौशल है। जिस प्रकार रेखाकर्म (Delineation and Articulation of the form) भी वास्तव्य चित्रों की परम कला है, उसी प्रकार यह वर्तना तो चित्र को कलाओं एवं शिल्पों का मुख बना देती है। वर्तना के लिए निम्नलिखित तीन सिद्धान्त परमावश्यक एवं अनिवार्य हैं :—

१ क्षय घटाव)
२ वृद्धि बढ़ाव) "क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त
३ प्रमाण माप)

डा० स्टेला क्रेमरिश की निम्न समीक्षा (Cf. V. D. Translation—Introduction, p. 14) "Fore-shortening (Ksaya and Vrdhi) and proportion (pramana) constitute with regard to single figures the working of observation and tradition. The law of Ksaya and

Vrdhi was as intensely studied by the ancient Indian painters as was perspective by the early Italian masters Pramana on the other hand, was the standardized canon, valid for the upright standing figure and to be modified by every bent and turn."

वर्तना की इस मौलिक पृष्ठ-भूमि के विश्लेषण के उपरान्त अब हम उसके प्रकारों पर उतरते हैं।

वर्तना-प्रभेद—त्रिविधा

१ पत्रजा (Cross-lines)

२ ऐरिक (Stumping)

३ बिन्दुज (Dots)

कोई भी चित्रकार चित्र्य के लिए प्रथम रेखा–वर्तन करता है। प्रथम रेखा या तो पीताभ या रक्ताभ में खींची जाती है। विष्णुधर्मोत्तर तथा भरत-नाट्य-शास्त्र दोनों ही यही समर्थन करते हैं। विष्णुधर्मोत्तर का निम्न प्रवचन पढ़िये—

'स्थान प्रमाणं भूलम्बो मधुरत्वं विभक्तता'

इससे यह पूर्ण सिद्ध होता है कि चित्र में चित्र्य के सभी अवयवों आदि की प्रोज्ज्वलता के लिए ये सब प्रमाण, लावण्य, विभक्तता आदि विन्यास अनिवार्य हैं। महाकवि कालिदास की निम्न उपमा-उत्प्रेक्षा (दे० कुमार सम्भव) को पढ़िए।

'उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं वपुर्विभक्तं नवयौवनेन'

यहाँ पर 'विभक्त' शब्द कितना मार्मिक है—जो चित्र-सिद्धान्त को कितना ऊँचे उठाता है। अन्त में यह भी समीक्ष्य है कि वर्तना के द्वारा वर्ण-विन्यास ही चित्र्य का वैषयिक एवं विषयिक (Subjective and Objective) प्रस्फोटन कर देता है। आकाश का चित्रण प्राकृतिक अर्थात् विषयिक अथवा आनुमानिक अर्थात् वैषयिक दोनों सम्भव हैं—यह सब वर्तना पर ही आश्रित है।

चित्र-निर्माण-रूढ़ियाँ
(Conventions in Painting)

प्रतीकात्मक-रूढ़ि-अवलम्बन-परम्परा :—चित्र्य को कैसे चित्रित किया जाय ? इस प्रश्न के उत्तर में आदर्शवाद (Idealism) तथा यथार्थवाद (Realism) दोनों का सहारा लिए बिना शास्त्रीय चित्र-निर्माण-रूढ़ियों पर पूर्ण प्रतिपादन असम्भव है। सभी ललित कलायें काव्य, नाटक, संगीत, नृत्य एवं चित्र आदर्शवाद के उत्तुंग प्रकर्ष से ही नहीं प्रभावित हैं, वरन् सांस्कृतिक

परम्पराओ एव रूढियो का भी वहां पूर्ण प्रभाव प्रत्यक्ष दिखाई पडता है। जिस देश की जैसी संस्कृति एवं सभ्यता, जैसा जीवन एव रहन-सहन, जैसी विचार-धारा तथा परम्परायें एव रूढिया, वैसी ही उस देश की कलायें। यथार्थवाद कोई फोटोग्राफिक अर्थात् प्रातिबिम्बिक प्राभास नही, न तो आदर्शवाद यथार्थवाद का पूर्ण घातक या विरोधक। इन ललित कलाओ मे यथार्थवाद भी अपनी अपनी कलाओ के द्वारा अवश्य प्रभावित रहता है और आदर्शवाद उनको ऊपर उठाता है, तभी इन दोनो के मिश्रित प्रभाव से ये कलाए वास्तव मे प्रोल्लसित एवं प्रवृद्ध बनती है। लक्षण का कौशल (देखिए सजीव-प्रतिमाए), चित्रकार का दाक्ष्य (देखिये सजीव चित्र) सब उपर्युक्त उपोद्घात का समर्थन करते हैं। शिशुपाल-वध (३ ५१) का श्लोक पढिये—जहा, मार्जार-प्रतिमा वास्तव मे संजीव मार्जार का सा वर्णन प्राप्त होता है।

इसी प्रकार रघुवश (१६.१६) का श्लोक पढिये वहा भी सिंह हाथियो को मानो सजीव सा मार रहे हैं। इसी प्रकार अन्य नाना साहित्यिक एव पुरातत्त्वीय सन्दर्भ एव निदर्शन भी कलायें यथार्थवाद का प्रत्यक्ष दर्शन करा देते हैं। चित्रो के विद्ध, अविद्ध, सत्य, वैणिक आदि वर्गो पर हम ऊपर लिख चुके हैं। इनमे विद्ध या सत्य एक प्रकार से दर्पणवत् यथार्थता का प्रतिबिम्बन करते हैं। इस प्रकार के चित्र्य-चित्रण वास्तव मे प्रमाण, भू-लम्ब, सादृश्य, भाव-योजन, वर्णिका-भग एव रूप-भेद इन षडगो से ही यह प्रोल्लास प्रथित होता है। शिल्परत्न-रत्नाकर तथा महाभारत के निम्न प्रवचन पढे तो इस उपोद्घात का अपने आप पूर्ण समर्थन प्राप्त हो जाता है :—

पूरयेद्वर्णैत पश्चात्तद्रूपोचितं यथा।
उज्ज्वलं प्रोन्नते स्थाने श्यामल निम्नदेशत'।
एकवर्णेऽपि तं कुर्यात्तारतम्यविशेषतः। शि० र०
प्रकीर्णो चित्रपरिचयो यथा भ..नो व्यासस्य—
''अतथ्यान्यपि तथ्यानि दर्शयन्ति विचक्षणाः।
समे निम्नोन्नतानीव चित्रकर्मविदो जनाः॥''

इसी प्रकार के काव्य-लक्ष्योदाहरण जैसे हेमचन्द्र के काव्यानुशासन मे धनपाल की तिलक-मञ्जरी मे भी यही चित्र-धारणा है। ति० म० का निम्न पद पढ़ें :—

"दिनकरप्रभेव प्रकाशितव्यक्तनिम्नोन्नतविभागा"

इसी प्रकार जैसा ऊपर कहा है अन्य साहित्यिक सन्दर्भों में भी ऐसे अनेक और उदाहरण मिलते हैं। इस लक्षण का काव्य-मय विलास ही नहीं, स्थापत्य-निदर्शनों में जैसे अजन्ता, बाघ, सित्तनवसल अथवा तजोर आदि प्राचीन प्रासाद-चित्र-पीठों पर भी यह महा विलास एवं प्रोल्लास प्राप्त होता है। अतः शिल्प-ग्रन्थों में क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त का जो प्रतिपादन है, वही स्थापत्य में भी पूर्ण प्रतिबिम्बन है।

अब प्रश्न यह है कि बिना रूढ़ि-अवलम्बन (Adopting the Technique of Conventions) यह क्षय-वृद्धि, सादृश्य, भूलम्ब एवं प्रमाण आदि षडङ्ग-चित्र का पूर्ण विधान कैसे सम्भव हो सकता है ? बिना रूढ़ि-अवलम्बन (Conventions) के यह सर्व-प्रमुख अंग (क्षय-वृद्धि) मुखरित ही नहीं होता। सत्य तो यह है कि रूढ़ि-अवलम्बन ही क्षय-वृद्धि का प्राण है, जिस से यथार्थवादी चित्र पनप सका। बिम्ब प्रतिमा के केश कैसे दिखायें, आंखों का स्पन्दन कैसे विलसित हो, शरीर का घेरा, मोटाई, ऊंचाई, विशालता आदि प्रमाण कैसे अङ्कित हो सकते हैं—इन सब के लिए यह सिद्धान्त सापेक्ष्य-रूढ़ि-अवलम्बन से तात्पर्य प्रतीकत्व-कल्पन है। जिस प्रकार काव्य में ध्वनि को Suggestion कहते हैं, उसी प्रकार यह प्रतीकात्मक रूढ़ि-अवलम्बन चित्र में ध्वनि ही है। जिस प्रकार काव्य में शब्दालङ्कारादि की चमक केवल उसकी कान्ति तो दे सकती है परन्तु व्यञ्जना नहीं। व्यञ्जना ही उसे नीचे से उठा कर उत्तुंग शिखर पर केलि करा देती है। इसी प्रकार चित्र में यह प्रतीकात्मक रूढ़ि-अवलम्बन एक प्रकार की व्यञ्जना ही है, जो चित्र को एक-मात्र मृदुता ही नहीं प्रदान करती वरन् नाना व्यङ्ग्यों या प्रेक्षकों को आभास भी दिलाती है।

विद्वान् स्मरण करें कि जिस प्रकार काव्य में व्यङ्ग्यव्यञ्जक-कामिनी-कुच-कलश के समान अलंकार एवं ध्वनि की विशिष्ट-समीक्षा है, उसी प्रकार प्रतीकात्मक-रूढ़ि-अवलम्बन-परम्परा चित्र में भी यही विलास उपस्थित करती है।

प्रतिमा-स्थापत्य को भी देखें, जिनमें मुद्राओं (शरीर, पाद, हस्त मुद्राओं) के द्वारा समस्त ज्ञान, वैराग्य, उपदेश, आशीष, भर्त्सन, मंगल, वरदान आदि सभी इन्हीं प्रतीकात्मक रूढ़ि-अवलम्बन से सब अङ्कित हो जाता है। अस्तु, इस उपोद्घात् का, इस विष्णु-धर्मोत्तर तथा स० सू० के चित्र प्रवचन से पूरा का पूरा समर्थन स्वतः प्राप्त कर जाता है:—

यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता।

दृष्टयश्च तथा भावा ग्रगोपाङ्गानि सर्वशः ॥
कराश्च ये महा (मया?) नृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ।
त एव चित्रे विज्ञेया नृत्तं चित्र परं मतम् ॥
हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन् ।
सजीव इति दृश्येत् सर्वाभिनयदर्शनात् ॥
प्रागिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते ।

इस उपोद्घात् के अन्त मे हमे पुनः चित्र के सार्वभौमिक क्षेत्र पर पाठकों का ध्यान ग्राकर्षित करना है :—

जगमा स्थावराश्चैव ये सन्ति भुवनत्रये ।
तत्तत्स्वभावतस्तेषा करण चित्रमुच्यते ॥

जब चित्र का इतना बड़ा विस्तार है तो बिना रूढियो के अवलम्बन, बिना प्रतीकत्व-कल्पन यह सब कैसे चित्र्य हो सकता है ?

रूप-निर्माण :—विष्णुधर्मोत्तर मे रूढि-निर्माण का बड़ा ही बहुल प्रतिपादन है। दैत्य, दानव, यक्ष किन्नर, देव, गन्धर्व, ऋषि, राजे महाराजे, ग्रमात्य, ब्राह्मण किस प्रकार से चित्र्य हैं ग्रौर उनके चित्रण मे कौन कौन से सिद्धान्त जैसे प्रमाण, सादृश्य, क्षय-वृद्धि एव प्रतीकात्मक रूढि-ग्रवलम्बन ग्रावश्यक हैं—यह सब विधान निम्न तालिका से स्वतः स्पष्ट हो जाता है :—

चित्र	वैशिष्ट्य
१. ऋषि-गण	जटाजूटोपशोभित, कृष्ण-मृग-चर्म धारण किए हुए, दुर्बल एव तेजस्वी ;
२. देव तथा गन्धर्व	शेखर-मुकुट धारण किए हुए ; टि० श्री शिव राममूर्ति ने वि० ध० के 'शिखिरै रूपशोभिताः" को नहीं समझा ; ग्रतएव ग्रर्थ नहीं लगा सके। यह पद भ्रष्ट है ग्रत यह 'शेखरैरूपशोभिता' होना चाहिए—देखिए मानसार वहा पर शेखरो की नाना विधाग्रों मे शेखर-मुकुट भी एक विधा है।
३. ब्राह्मण	ब्रह्मवर्चस्वी एवं शुक्लाम्बरधारी।
४. मन्त्री, साम्वत्सर तथा पुरोहित	ये मुकुट-विहीन एवं सर्वालंकारों से युक्त तथा ठाठ बाठ के कपड़ो से परिवेष्टित हों, इनके साफ़ा जरूर बधा हुग्रा होना चाहिए ;

५. दैत्य तथा दानव	भृकुटि-मुख, गोल-मटोल तथा गोल आँख वाले, भयानक एवं उद्धत-वेश-धारी,
६. गन्धर्व तथा विद्याधर	सपत्नीक, रुद्र-प्रमाण, माल्यालंकार-धारी खड्ग-हस्त, भूमि पर अथवा गगन में;
७. किन्नर—द्विविध	नृवक्त्र (नरमुख) तथा अश्वमुख—दोनों ही रत्न-जटिल, सर्वालंकार-धारी एवं गीत-वाद्य-समायुक्त तथा द्युतिमान,
८. राक्षस	उत्कच, विकलाक्ष एवं विभीषण;
९. नाग	देवाकार, फण-विराजित,
१०. यक्ष	सर्वालंकारालंकृत,
	टि० सुरों के प्रमथ-गण तथा पिशाच ये दोनों प्रमाण-विवर्जित हैं।
११. देवों के गण	नाना-सत्त्व-मुख, नाना-वेश-धारी, नाना आयुध-धारी नाना-क्रीडा-प्रसक्त, नाना कर्म-कारी,
	टि० वैष्णव-गण एक ही कोटि के चित्र्य हैं। विशेषता यह है कि वैष्णव गण चतुर्धा हैं:— वासुदेव-गण वासुदेव को, संकर्षण-गण संकर्षण को, प्रद्युम्न-गण प्रद्युम्न को तथा अनिरुद्ध-गण अनिरुद्ध को अनुगमन करते हुए चित्र्य हैं। ये सब अपने देवता का विक्रम प्रदर्शित करें। इनकी कान्ति नीलोत्पल-दल के समान हो और चन्द्र के समान शुभ्र हो, इनके आकार मरकत-सदृश हों और प्रभा सिन्दूर के सदृश हो;
१२. वेश्यायें	वेश उद्भट एवं शृङ्गार-सम्पन्न,
१३. कुल-स्त्रियाँ	लज्जावती;
	टि० दैत्यों, दानवों और यक्षों की पत्नियाँ रूपवती बनानी चाहिए। विधवायें पलित-संयुक्ता, शुक्ल-वस्त्र-धारिणी, सर्वालंकार-वर्जिता;
१४. कञ्चुकी	वृद्ध;
१५. वैश्य तथा शूद्र	यथोचित वेश-धारी,

१६	सेनापति	महाशिर, महोरस्क, महानास, महाहनु, पीन-स्कन्ध, भुज-ग्रीव, परिमाणोच्छ्रित, त्रिसरग-ललाट, व्योम-दृष्टि, महाकटि एव दृप्त ;
१७.	योधा-गण	भृकुटी-मुख, किञ्चत् उद्धत-वेश एव उद्धत-दर्शन ;
१८	पदाति	उछलती हुई गति से चलने वाले और आयुधो को धारण किए हुए—विशेषकर खड्ग-चर्म धारण किए हुए चित्र्य हैं। विशेष विशेषता यह है कि उनका कर्णाटक कोटि का होना चाहिए ;
१६	धनुर्धारी	नग्न जघा वाले, उत्तम बाण लिए हुए, जूते पहने हुए ;
२०	पीलवान	श्यामवर्ण, अलङ्कृत, जूटधारी;
२१.	घुड़सवार	उदीच्य-वेश ;
२२.	बन्दि-गण	शाही वेष वाले, परन्तु सिरा-दर्शित-कंठ तथा उन्मुख दृष्टि ,
२३.	आह्वानक	कपिल एव केकर के समान आख वाले ;
२४.	दण्ड-पाणि (द्वार-पाल)	प्रायः दानव-सकाश ;
२५.	प्रतीहार	दण्ड-धारी, आकृति एव वेश न अधिक उद्धत न शान्त, बगल मे खड्ग तथा हाथ मे दण्ड ,
२६.	वणिक्	ऊंचा साफा बाधे हुए;
२७.	गायक एव नर्तक	शाही वेष-धारी ;
२८.	नागरिक (पौरजानपद)	शुभ्र-वस्त्र-विभूषित, पलित-केश एव निज भूषणों से विभूषित, स्वभाव से प्रिय-दर्शन, विनीत एव शिष्ट ;
२६.	मजदूर (कर्मकर)	स्व-स्वकर्म-व्यग्र;
३०.	पहलवान	उग्र, नोच-केश, उद्धत, पीन-ग्रीव, पीन-शिरोधर, पीन-गात्र तथा लम्बे ,
३१.	वृषभ एव सिंह आदि तथा अन्य सत्व-जातियां	ये सब यथा-भूमि-निवेश विलेख्य हैं ;
३२.	सरितायें	स-शरीर-चित्रण मे वाहन-प्रदर्शन अनिवार्य है, पुनः हाथो मे पूर्ण कुम्भ लिये हुए तथा घुटनों को नचाए हुए ;

३३. शैल	मूर्धा पर शिखर-प्रदर्शन आवश्यक है;
३४ पृथ्वी (भू-मण्डल)	सशरीरा, सद्वीप-हस्ता;
	टि० श्री शिव राममूर्ति एवं डा० क्रैमरिश दोनों इन विद्वानो ने विष्णु-धर्मोत्तरीय इस लक्षण को नही समझा क्योंकि हमारी परम्परा मे पृथ्वी, देवी के रूप मे विभावित है, प्रत जब वह चतुर्भुजा या अष्ट-भुजा गौरी, लक्ष्मी या अष्टमंगला के रूप मे विभाव्य है, तो उसके सातो हाथो मे सातो द्वीप करामलकवत् स्वयं प्रदर्श्य हैं ।
३५. समुद्र	रत्न-पात्रों से उसके शिखर-रूपी हाथ प्रदर्श्य हैं, प्रभा-मंडल बनाकर सलिल-प्रदर्शन विहित हो जाता है;
३६. निधियाँ	कुम्भ, शंख पद्म आदि लाछनो सहित इसके दिव्य (शंख पद्म, निधि आदि) अवयव प्रदर्श्य हैं;
३७ आकाश	विवर्ण (Colourless), खगाकुल;
३८ दिव (Heavens)	तारका-मंडित;
३९. धरा—त्रिविधा	१ जागल-(जंगली), २ अनूपा (दलदली), ३ मिश्रा यथा-नाम तथा-गुणा ।
४०. पर्वत	शिला-जाल, शिखर, धातु, द्रुम, निर्झर, भुजग आदि चिन्हो से चिन्हित;
४१ वन	नाना-विध वृक्ष-विहग-श्वापद-युक्त;
४२. जल	अनन्त-मत्स्यादि-कच्छपो एवं जलीय जन्तुओं के द्वारा विभावित;
४३. नगर	चित्र-विचित्र-देवतायतनों, प्रासादो, आपणो (बाजारो) एवं भवनो तथा राज-मार्गों से सुशोभित;
४४. ग्राम	उद्यानो से भूषित और चारों ओर राहों से युक्त
४५. दुर्ग	वप्र, उत्तुंग अट्टालक आदि से परिवेष्टित;
४६. आपण-भूमि	पण्य-युक्त—दुकानो से घिरी हुई;

४७	आपान-भूमि	पीने वाले नरों से आकुल;
४८.	जुवारी	उत्तरीय-विहीन एवं जुआ खेलते हुए;
४६.	रण-भूमि	चतुरंग सेना से युक्त, भयानक लड़ाई लड़ते हुए योधा-गणो से, और उनके अंगो मे रुधिर की धारा बहती हुई और शवों से पूरित;
५०.	श्मशान	जलती हुई चिता से प्रदर्श्य हैं, जहा पर लकड़ी के ढेर और शव भी पड़े हो;
५१.	मार्ग	सभार उष्ट्रो सहित;
५२.	रात्रि (अ)	चन्द्र, तारा, नक्षत्र, चौर, उलूक आदि से एवं सुप्तो से;
	(ब)	प्रथमार्ध-रात्रि अभिसारिकाओ से;
५३.	उषा	सारुणा, म्लान-दीपा, कुक्कुट-रुता;
५४.	सन्ध्या	नियमी ब्राह्मणो से;
५५.	अंधेरा	घर जाते हुए मनुष्यो की गति से;
५६.	ज्योत्स्ना	कुमुदो के विकास एवं चन्द्रमा से;
५७	सूर्य	क्लेश-तप्त प्राणियो से;
५८	वसन्त	फुल्ल-वृक्षो से, कोकिलाओ, भ्रमरो, प्रहृष्ट नर-नारियो से;
५६.	ग्रीष्म	क्लान्त नरो से, छायागत मृगो से, पंकमलिन महिषों से, शुष्क-जलाशय-चित्रण से;
६०	वर्षा	द्रुम-सलीन पक्षियो से गुहा-गत सिंह-व्याघ्रादि श्वापदो से, जल-घन बादलों से, चमकती हुई बिजली से;
६१.	शरद्	फलो से लदे हुए वृक्षो से, पके हुए खेतों से, हंसादि पक्षियो से सुशोभित सलिलाशयो से;
६२.	हेमन्त	सारी की सारी सूनी (सूनी) धरती से, धुंधले वातावरण से (सनीहार-दिगन्तकम्);
६३.	शिशिर	हिमाच्छिन्न दिग-दिगन्त से, वृक्षो में पुष्प और फलो से और ठिठुरते हुए प्राणियो से।

टि० :—विशेष प्रवचन यह है कि वृक्षों के फलो-फूलो पर एकमात्र दृष्टिपात एवं जनो का आन्दातिरेक—यही चित्र्य ऋतुओ के लिये काफी है।

इस तालिका के उपरान्त अब इस स्तम्भ से यह भी अन्त में समीक्ष्य एवं विवेच्य है कि यह प्रतीकात्मक रूढि-अवलम्बन एक-मात्र क्षय-वृद्धि एवं सादृश्य तथा भूलम्बादि विभागों पर ही आश्रित नहीं है; प्रमाण भी उसी प्रकार अनिवार्य है।

देव, ऋषि, गन्धर्व, दैत्य, दानव, राजे-महाराजे, अमात्य तथा सांवत्सर, पुरोहित आदि सब भद्र-प्रमाण (दे० अनुवाद एवं मूल—पंच-पुरुष-स्त्री-लक्षण) में चित्र्य हैं। विद्याधरों को रुद्र-प्रमाण में, किन्नर, नाग, एवं राक्षस मालव्य-प्रमाण में करना चाहिए। जहा तक वेश्याओं एवं लज्जावती महिलाओं का प्रश्न है, वे रुचक एवं मालव्य-प्रमाण में क्रमशः चित्र्य हैं। वैश्य भी रुचक मान में प्रदर्शित हैं। शूद्र-मान शशक-मान विहित हैं। यह क्रम भी कुछ विशेष क्रमिक नहीं है। जहा तक अन्य शिल्प ग्रन्थ जैसे कामिकागम आदि, वहा मान-प्रमाण ताल-मान पर आश्रित है।

चित्र रस एवं दृष्टियां

पीछे के स्तम्भों में रेखा-करण, वर्तना-करण एवं वर्ण-विन्यास इन सब पर कुछ न कुछ प्रतिपादन हो चुका है। निम्न लिखित प्रवचन पढ़िए:—

"रेखा प्रशसन्त्याचार्याः वर्णाढ्यमितरे जनाः
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्तना च विचक्षणाः॥"

तथापि वर्ण-विन्यास एक प्रकार से चित्र-कार और चित्र-द्रष्टा दोनों के मन को अवश्य अभिभूत करता है। इसी मन स्थिति में चित्र-कार एवं चित्र-द्रष्टा दोनों की कल्पनाओं का स्वतः जन्म हो जाता है। अतः काव्य और चित्र में विशेष अन्तर नहीं है।

वैसे तो चित्र की विधाओं पर हमने मानसोल्लास और शिल्प-रत्न में रस-चित्रों का भी वहा पर प्रस्ताव किया है तथापि इन ग्रन्थों की दृष्टि में रस-चित्र या तो द्रव-चित्र हैं या भाव-चित्र हैं। भरत के नाट्य-शास्त्र में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि कोई भी रस, यदि किसी चित्र में चित्रित करना है, तो उस को अभिव्यञ्जक वर्ण-विन्यास से प्रवीन करना चाहिए। शृंगार का अभिव्यञ्जक श्याम वर्ण है; हास्य का शुभ्र, करुण का ग्रे (Gray), रौद्र का रक्त, वीर का गौराभ शुभ्र, भयानक का कृष्ण, अद्भुत का पीत तथा बीभत्स का नीला है।

चित्र-शास्त्रीय ग्रन्थों में समरांगण-सूत्रधार ही एक मात्र ग्रन्थ है जिसमें चित्र-रसों एवं चित्र-दृष्टियों का वर्णन है। इस ग्रन्थ के लेखक भोजदेव के शृंगार

प्रकाश से हम परिचित ही है और संस्कृत-साहित्य मे महाराज भोजदेव की बडी देन है और ये एक ऊचे साहित्य-शास्त्री (Aesthetician) थे । अतएव यह अध्याय उसी दिशा मे उनकी देन है । इस अध्याय का निम्न प्रवचन पढिए :—

> रसानामथ वक्ष्यामो दृष्टीना चेह लक्षणम् ।
> तदायत्ता यतश्चित्रे भावव्यक्तिः प्रजायते ॥

अस्तु, इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम इन रसों एवं रस-दृष्टियो की तालिका पाठकों के सामने रखते हैं । यद्यपि अनुवाद-खड मे रस-दृष्टि-लक्षण-शीर्षक अध्याय मे इन सभी रसो एव रस-दृष्टियो का प्रतिपादन वहा है ही तथापि रस का सरलीकरण एव नवीन-रूप देकर यह दो तालिकाए उपस्थित की जाती है :

एकादश चित्र रस

संज्ञा		शारीरिक वृत्ति	मानसिक वृत्ति
१	शृगार	स-भ्रूकम्प, प्रेमातिरेक '	ललित चेष्टायें
२	हास्य	अपाग विकसित, अधर स्फुरित ;	लीला
३	करुण	अश्रुविलन्न कपोल, आखे शोक-सकुचित,	चिन्ता एव सताप
४	रौद्र	आखे लाल, ललाट निर्मीलित, अधरोष्ठ दन्त-दष्ट ,	
५.	प्रेमा	हर्षातिरेक सम्पूर्ण शरीर पर—अर्थलाभ, सुतोत्पत्ति एव प्रिय-दर्शन से ,	
६	भयानक	लोचन उद्भ्रान्त, हृदय-सक्षोभ, यह सब वैरि-दर्शन एवं त्रास से ,	
७	वीर	....	धैर्य एव वीर्य
८.	...	....	....
९.	बीभत्स	....	....
१०.	अद्भुत	तारकायें स्तमित अथवा प्रफुल्लित किसी असभाव्य वस्तु अथवा दर्शन से,	
११.	शान्त	समस्त शरीरावयव अविकारि ,	अराग एव विराग

अष्टादश चित्र-रस-दृष्टियां

क्रम सं०	संज्ञा	आश्रय रस
१.	ललिता	शृंगार
२.	हृष्टा	प्रेमा
३.	विकसिता	हास्य
४.	विकृता	भयानक
५.	भृकुटी	......
६.	विभ्रान्ता	श्रगार
७.	सकुचिता	श्रगार
८.	......	......
९.	ऊर्ध्वगता	......
१०.	योगिनी	शान्त
११	दीना	करुण
१२.	दृष्टा	वीर
१३.	विह्वला	भयानक तथा करुण
१४.	शकिता	भयानक तथा करुण

इस स्तम्भ मे यह भी सूच्य है कि ये रस तथा रस-दृष्टिया सस्कृत काव्य-शास्त्र की कापी नही हैं। इन रसो और रस-दृष्टियों के लक्षण से अपने आप सिद्ध है कि ये लक्षण बहुत काफी परिमार्जित एव परिवर्तित सस्करण मे रक्खे गये हैं, जिससे भाव-चित्र-प्रतिमाओ मे भी विहित हो सकें। यह हम जानते ही हैं कि काव्य मे भावों का स्थान गौण है और रसो का स्थान मूर्धन्य है। बात यह है कि चित्र मे भावो पर ही शारीरिक एव मानसिक दोनों ही स्फूर्तिया क्रीडा करती है और यही चित्र का परम कौशल है।

अस्तु, अब हमे चित्र-कला मे इस साहित्य-सिद्धान्त (Aesthetics) के परिवृत्त मे दो प्रश्नों को लेना है। यद्यपि सस्कृत-साहित्य शास्त्रीय अथवा सस्कृत-काव्य-शास्त्रीय दृष्टि से रसो का साक्षात् सम्बन्ध मानवो (नर, नारी एवं शिशु) से ही है और उन्ही के दिव्य रूपों यथा देव, दानव, दैत्यो से ही है, परन्तु इस चित्र-कला मे रसो को इस परिमित कोटि से बहुत आगे बढ़ा दिया गया है और इसका एक-मात्र श्रेय इसी ग्रन्थ को है। पाठक इस स० सू० के अध्याय का निम्न प्रवचन पढें —

दृश्यते चित्र-संयोगे रसाः प्रोक्ताः मनस्विना: ।
मानुषाणि पुरस्कृत्य सर्वसत्वेषु योजयेत ।।

मेरे लिए इस वाक्य ने इस अध्याय में बड़ी प्रेरणा प्रदान की। अतएव मैंने अपने अंग्रेजी ग्रन्थ (Hindu Canons of Painting) में इस वाक्य की सराहना करते हुए निम्न समीक्षा की है जो पाठकों के लिए पठनीय है। यहां पर वह उद्धृत की जाती है :—

"Two important points in relation to the aesthetics in the pictorial art still need to be expounded. Firstly all these rasas, though characteristic of only human beings—men, women, and children and in their likeness, the anthropomorphic forms of the gods and demi-gods and demons—they have an application to all sentient creations–Manusani Puraskrtya Sarvasatvesu Yojayet' 82.13. This statement goes to the very core of the art and shows that if birds and animals in paints could be shown manifesting the sentiments, it is realy the master-piece, the supreme achivement of the artist. It becomes a new creation, a superio creation to that of Brahma, the Primordial Creator Himself, If it is through the symbolism of Mudras—hand poses, bodily poses and the postures of the legs the mute gods speak to us,giving their vent to the sublimest of thoughts and noblest of expressions, these so-called brutes can also become our co sharers in the aesthetic experience. It is the marvel of the art. If poetry can create an idealistic world full of beauty and bliss alone, the plainting, her sister must also follow the suit."

अब आईये एक तुलनात्मक समीक्षा की ओर जिसमें हम नाट्य, काव्य, रस और ध्वनि सभी को लेकर इस चित्र-कला की समीक्षा करेंगे।

चित्र-कला नाट्य-कला पर आश्रित है :—विष्णु-धर्मोत्तर में मार्कण्डेय और वज्र के संवाद में चित्र-कला की मौलिक भित्ति वास्तव में नाट्य-कला है जो इस संवाद से स्वतः प्रकट :—

मार्कण्डेय उवाच—नृत्य-शास्त्र के ज्ञान के बिना, चित्र-विद्या के सिद्धान्तों को समझ ना बड़ा ही कठिन है, इस लिए हे राजन् इस पृथ्वी का कोई भी कार्य इन दोनों विद्याओं के बिना असम्भव है"

वज्र उवाच—ओ ब्राह्मण ! नृत्य-कला और चित्र-कला के सम्बन्ध में मुझे पूरी तरह से समझाइये क्योंकि मैं भी यह मानता हूँ कि नृत्य-कला के सिद्धान्तों में चित्र-कला के सिद्धान्त स्वयं गतार्थ हैं।

मार्कण्डेय पुनरुवाच—राजन् ! नृत्य का अभ्यास किसी के भी द्वारा दुष्कर है, जब तक वह संगीत को नहीं जानता तो फिर बिना संगीत के नृत्य का आविर्भाव ही असम्भव है।

अतएव इस विष्णुधर्मोत्तरीय महान् विभूति का अनुगमन करते हुए महाराजाधिराज भोजराज इस समन्वय-दृष्टि से नृत्य-नाट्य-संगीत की भूमि पर पल्लवित, पुष्पित एवं फलित चित्र-विद्या को काव्य और साहित्य के प्लेट-फार्म पर लाकर खड़ा कर दिया है। इस रसाध्याय के निम्न प्रवचन पढ़िये :—

हस्तेन सूचयन्नर्थं दृष्ट्या च प्रतिपादयन्।
सजीव इव दृश्येत सर्वाभिनयदर्शनात् ॥
आङ्गिके चैव चित्रे च प्रतिमासाधनमुच्यते।
(भवेदत्रायत ?) स्मरसादनयोश्चित्रमाश्रितम् ॥
प्रोक्त रसानामिदमत्र लक्ष्म दृशा च संक्षिप्ततया तत्।
विज्ञाय चित्रं लिखतां नराणां न संशयं याति मनः कदाचित् ॥

इस प्रकार इन दोनों ग्रन्थों की अवतारणा से यह प्रकट हो गया है कि चित्र नाट्य पर आधारित है। मेरी दृष्टि में तो नाट्य तथा चित्र दोनों ही अन्योन्याश्रयी हैं। चित्र नाट्य का एक दृश्य है और नाट्य चित्रों की कड़ी (Succession of citras) है।

विष्णुधर्मोत्तर का पूर्वोक्त प्रवचन (विना तु नृत्य शास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदमित्यादि) पढ़ें तो जिस प्रकार नाट्य 'अनुकरण' पर आधारित है उसी प्रकार चित्र भी अनुकरण पर ही आधारित है। पुनः जिस प्रकार नाट्य में हस्त-मुद्राएं अनिवार्य हैं, उसी प्रकार चित्र-शास्त्र एवं प्रतिमा-शास्त्र में भी इन मुद्राओं—शरीर-मुद्राओं (ऋज्वागतादि), पाद-मुद्राओं (वैष्णवादि-स्थानक आदि) तथा हस्त-मुद्राओं (पताका आदि) का भी इस चित्र-कला एवं प्रतिमा-कला में सामान्य अंग है (दे० समरांगण-सूत्रधार का परिमार्जित संस्करण एवं अनुवाद षष्ट पटल)। यथाप्रतिज्ञात अब विष्णु-धर्मोत्तरीय प्रवचन को सामने रखता हूँ :—

विना तु नृत्यशास्त्रेण चित्रसूत्रं सुदुर्विदम्।
यथा नृत्ते तथा चित्रे त्रैलोक्यानुकृतिः स्मृता ॥
दृष्टयश्च तथा भावा अंगोपांगानि सर्वशः ।

मराश्च ये महानृत्ते पूर्वोक्ता नृपसत्तम ॥
त एव चित्रे विज्ञया नृत्तं चित्रं परं मतम्

इन दोनों सदर्भों की अवतारणा के उपरान्त यह स्वतः सिद्ध हो गया है कि चित्र जिस प्रकार से मुद्राओं के द्वारा बहुत कुछ व्यक्त अवश्य होते हैं परन्तु रसों और रस-दृष्टियों से वे साक्षात् सजीव हो उठते हैं। जिस प्रकार व्याख्यान, वरद आदि मुद्राओं में प्रतिमाएं व्याख्यान देने लगती हैं, उपदेश देने लगती हैं, वरदान देने लगती हैं, उसी प्रकार से ये मुद्रायें चित्रों और प्रतिमाओं को अपने पूर्ण व्यक्तित्व में अभिव्यक्त कर देती हैं। भाव-व्यक्ति जब रसाभिव्यक्ति में परिणत हो जाती है तो यह कला न रह कर रसशास्त्र (Aesthetics) बन जाती है। अब आइये चित्रों को काव्य के रूप में देखें :—

काव्य एवं चित्र :—वामन अलंकारिक-परम्परा के प्रौढ़ आचार्य माने जाते हैं, उनके काव्यालंकार-सूत्र में बहुत से अलंकार एवं वृत्तियां चित्र के रूप में व्याख्यापित हैं। इसी महती दृष्टि से काव्य की परिभाषा को चित्र में परिणत कर दिया है :—

रीतिरात्मा काव्यस्य

और रीति को उन्होंने जो वृत्ति से व्याख्या की है वह भी कितनी मार्मिक है :—

"एतासु तिसृषु रेखास्विव चित्रं काव्यं प्रतिष्ठितम्"

अतः उन्होंने काव्य की आत्मा 'रीति' मानी है उसी प्रकार से चित्र की आत्मा रेखायें हैं। विष्णु-धर्मोत्तर के ऊपरि-उद्धृत 'रेखां प्रशंसन्त्याचार्या' भी यही परिपुष्ट करता है। पुन. वामन अपने काव्यालंकार-सूत्र-वृत्ति ३।१ में रेखा से आगे बढ़ कर गुण में आ जाते हैं —

यथा विच्छिद्यते रेखा चतुरं चित्र-पण्डितैः।
तथैव वागपि प्राज्ञैः समस्तगुणगुम्फिता ॥

यह उक्ति पुनः विष्णुधर्मोत्तर की उक्ति का स्मरण कराती है :—

'वर्णाढ्यमितरे जनाः'

निम्नलिखित थोड़े से और उद्धरण पढ़िए, जिससे काव्य एवं चित्र में क्या कोई अन्तर है—यह सब अपने आप बोध-गम्य हो जावेगा :—

"औज्ज्वल्यं कान्तिः :—यह काव्य के दश गुणों में से कान्ति भी प्राचीन आलंकारिकों के द्वारा माना गया है; अतः कान्ति अर्थात् औज्ज्वल्य यथा पूर्व-

स्तम्भों मे चित्र गुणों में औज्ज्वल्य की समीक्षा कर ही चुका हूं वही वामन के मत मे औज्ज्वल्य काव्य-गुण है। पुन उनके लक्षण एवं वृत्ति को देखें :—

" औज्ज्वल्य कान्तिः का सू० ३.१ २५

"यथा विच्छिद्यते रेखा चतुर चित्रपण्डितैः।

तथैव वागपि प्राज्ञः समस्तगुणगुम्फिता। 'का. सू० ३.१

" औज्ज्वल्य कान्ति "　　का. सू. ३ २५

"बन्धस्य उज्ज्वलत्व नाम यत् असौ कान्तिरिति, तदभावे पुराणच्छायेत्युच्यते"

' औज्ज्वल्य कान्तिरित्याहुर्गुण गुणविशारदा.।

पुराणचित्रस्थानीयं तेन बन्ध्य कवेर्वच.॥

वामन अपने काव्यालंकार सूत्र (१ ३.३०-३१) मे भी विष्णुधर्मोत्तर के समान ही नाट्य एवं चित्र को क ही कोटि मे लाकर रख देते हैं :-

"सन्दर्भेषु दशरूपक नाटकादि श्रय. तद्धि चित्र चित्रपटवत् विशेषसाकल्यात्"

यही भरत के नाट्य-शास्त्र तथा भाव-प्रकाश से भी समर्थित है—

"अवस्थानुकृतिर्नाट्य रूप दृश्यतयोच्यते" भ० ना० शा०

"रूपक तद् भवेद् रूप दृश्यत्वात् प्रेक्षकैरिदम्' भा० प्र०

(स) अतएव वामन ने जो" रीति-रात्मा काव्यस्य"

कहा है उसी की सुन्दर टीका हमे रत्नेश्वर के द्वारा भोज देव के सरस्वती-कण्ठाभरण मे प्रदत्त इस वामन के सूत्र की जो वहा व्याख्या मिलती है वह भी कितनी मार्मिक है :

"यथा चित्रस्य लेखा प्रत्यङ्गलावण्योन्मीलनक्षमा, तथा रीतिरिति द्वितीये विस्तर :"

भट्टतौत के शिष्य अभिनवगुप्त ने भी अपनी अभिनव-भारती मे वामन के इस नाट्य एव चित्र के सन्दर्भ को भी समर्थित किया है, जो वहीं पर पठितव्य है।

(II) राजशेखर की अपने बाल-भारत (प्रचण्ड-पाण्डव) मे प्रदत्त निम्न सक्ति को पढ़िये और समझने की कोशिश कीजिये—

"किञ्च स्लोकतमः कलापकलनश्यामायमान मनाक्

धूमश्यामपुराणचित्ररचनारूप जगज्जायते"

(III) राजानक कुन्तक के वक्रोक्ति-जीवितम् के निम्न श्लोक

मज्ञनोफलरेल्लेखवर्णच्छायाश्रियः पृथक् ।
चित्रस्येव मनोहारि कर्तुः किमपि कौशलम् ॥

इन दोनो सन्दर्भो से चित्र-विद्या एवं काव्य-शास्त्र का कितना सुन्दर अन्योन्याश्रयिभाव प्रत्यक्ष है । राजनक-कुन्तक यहा दो भूमि-बन्धनो (कुड्य एवं पट्ट) की ओर सकेत ही नही करते, वरन् रेखा-कर्म के सिद्धान्तो—जैसे प्रमाण (anatomical), वर्ण, छाया-कान्ति आदि पर भी प्रकाश डालते है ।

चित्र एवं रस :—चित्र-कला मे रसो एवं रस-दृष्टियो के सम्पन्न महत्व-पूर्ण स्थान का हम पहिले इस स्तम्भ मे विचार कर चुके है । यहाँ तो हमे संस्कृत के काव्याचार्यों को लेना था, अतः निम्नलिखित दोनो उद्धरणों को पढ़िये । एक चित्र-शास्त्री अभिलाषितार्थ-चिन्तामणि के लेखक, महाराज सोमेश्वरदेव का तथा संस्कृत काव्य-शास्त्री चन्द्रालोक के लब्धप्रतिष्ठ लेखक जयदेव का—

शृंगारादिरसो यत्र दर्शनादेव गम्यते ।
भावचित्र तदाख्यातं चित्रकौतुककारकम ॥ अभि० चि०
काव्ये नाट्ये च कार्ये च विभावाद्यैर्विभावितः ।
आस्वाद्यमानैकतनु स्थायी भावो रस स्मृतः ॥—चन्द्रा०

अत. यह पूर्ण प्रकट है जब चित्र नाट्य पर आश्रित है और नाट्य रसास्वाद अथवा रसाभिव्यक्ति पर ही आश्रित है, तो उसी प्रकार काव्य भी तो रस-सिद्धान्त चित्र-कला का भी तत्सम सिद्धान्त है । आइये सर्वोपर कोटि पर—ध्वनि-सिद्धान्त ।

चित्र एवं ध्वनि :—पीछे के स्तम्भ में प्रतीकात्मक अवलम्बनों (Convention in depicting pictures) पर हम काफी कह चुके हैं, अतः जिस प्रकार व्यञ्जना (Suggestion) उत्तम काव्य की मूल भित्ति है, उसी प्रकार आकाश, पृथ्वी, पर्वत, जुवारी, मार्ग आदि कैसे बिना प्रतीकात्मक अवलम्बनो (Suggestions or symbols) के चित्र्य हो सकते हैं । आधुनिक काव्य एवं कला के समीक्षक ललित-कला मे मुद्रा-सिद्धान्त (Symbolism in Art) को प्राण माना है तो प्राचीन आचार्यों ने पहले ही यह परम्परा प्रारम्भ कर दी थी । नाट्य, प्रतिमा एवं चित्र मे बिना मुद्रा ये सब निष्प्राण हैं; अतः जो मुद्रा है वही व्यंजना है । रसाध्वनि स्वशब्दवाच्यत्व से हमेशा दूर रहते हैं; तभी काव्य मे उत्तम काव्यता प्राप्त हो सकती है । उसी प्रकार चित्र भी काव्य एवं नाट्य के

समान तभी ललित कला हो सकती है, जब व्यंजना या प्रतीकात्मक प्रवलम्बन (Suggestion or symbol) उसमे पूर्ण प्रतिष्ठित हो।

चित्र-शैलियाँ
(पत्र एवं कण्टक के आधार पर)

जहा तक चित्र-शैलियों की बात है स्थापत्य की हो शैलियो मे इनको गतार्थ किया जा सकता है। अब तक किसी ने भारत-भारती Indoloy में चित्रो के सम्बन्ध मे शैलियो का उपश्लोकन नही किया है। अनेक वास्तु-ग्रन्थों के अध्ययन के उपरान्त जब हम अपराजित-पृच्छा पर आए, तो इस ग्रन्थ के २२७-२२६ सूत्रो मे बड़ी ही मार्मिक एवं नवीन उद्भावना प्राप्त की है।

चित्र-पत्रः—अपराजित पृच्छा मे जिस प्रकार रेखा-कर्म, वर्ण-विन्यास, मान-प्रमाण चित्र के लिए अनिवार्य अंग हैं, उसी प्रकार पत्र-विन्यास तथा कण्टक स्फूर्ति भी एक प्रकार से चित्र की प्रोज्ज्वलता लाने के लिए एवं छाया और कान्ति के लिए तथा प्रदीप्ति के लिए आवश्यक माने गए हैं। मेरी दृष्टि में इन पत्रों और कण्टकों का सम्बन्ध चित्रकला में प्राकृतिक पृष्ठ-भूमि (Natural Background) से सम्बन्ध रखता है। दूसरी उद्भावना यह है कि ये पत्र और कण्टक चित्र-विशेष केन्द्रो के सम्भवतः विशेष वैशिष्ट्य हैं। अतएव पत्रो और कण्टको की निम्न तालिका मे जो इनकी शैलिया और विधा मे सम्बन्ध है, इन वास्तु-ग्रन्थों मे शैली का कहीं भी कीर्तन नहीं। जातिया ही वहा प्रतिपादित की गई हैं। इस लिए शैलिया और जातिया एक ही चीज हैं। इन पत्र-जातियो के सम्बन्ध मे अपराजित-पृच्छा मे एक बड़ा ही मनोरंजक और पौराणिक आख्यान है कि इन पत्रो और कण्टको का किस प्रकार से प्रादुर्भाव हुआ :—

"समुद्र-मथन मे जब नाना रत्न निकले तो सुरतरू-कल्प-वृक्ष भी निकला, जिसमे नाना प्रकार के पुष्प-पत्र लदे थे। जो पत्रादि पूर्व मे थे उसकी संज्ञा नागर हुई, जो दक्षिण मे थे उनकी संज्ञा द्राविड़ हुई और जो उत्तर मे थे वे वेसर हुए। पुन. इन पत्रों को ऋतु से सम्बद्ध कर दिया अर्थात् बसन्त में नागर, ग्रीष्म में द्राविड तथा शरद् में वेसर। इन्ही पत्रो की जातियो को एक दूसरे से वैभिन्न्य प्रदान करने के लिए (To distinguish) इन पत्रों के जो कण्टक थे वे ही इनके घटक हुए।

अस्तु, इस उपोद्घात के बाद पहले हम पत्र-तालिका पर आए :—

षड्विधा

१	नागर	४	वेसर	टि० इन पत्रों को इस ग्रन्थ में नाना पत्रों में विभाजित किया है जिनकी संख्या संख्यातीत है, जैसे दिन-पत्र, ऋतु-पत्र, मेघ-पत्र, स्थल-पत्र आदि ।
२.	द्राविड	५.	कलिंग	
३.	व्यन्तर	६.	यामुन	

अष्टविधा

चित्र-पत्र-कण्टक इन—कण्टकों की अष्ट-विधा है :—

१।	कलि	५.	व्यावर्त
२.	कलिका	६.	व्यावृत्त
३.	व्यामिश्र	७	सुभग
४.	चित्र-कौशल	८.	भंग-चित्रक

अपराजित- पृच्छा के निम्नोद्धरण से इन की आकृति भी विभाव्य है—अर्थात् कलि अगस्त्यपुष्पकाकार, कलिक वराहदंष्ट्राकृति, व्यामिश्र वज्रपुष्पाङ्कुशाकार, मध्यकेशराकार, कौशल उकारसदृशाकार, व्यावृत्त व्याघ्रनखाकार, सुभङ्ग कृतिकाकृति एवं भङ्ग बदरीफलाकार । जहां तक शैल्यनुरूप अर्थात् जातिपुरस्सर इन कण्टकों की विचित्रता है वह इस तालिका से निभाल्य है —

नागर	व्याघ्रनखाकार
द्राविड	बदरी-केतकी-आकार
वेसर	अगस्त्य पुष्पकाकार
कालिङ्ग	उकाराकार
यामुन	मध्यकेशरकृति
व्यन्तर	वराहदंष्ट्राकृति—

पत्र एवं कण्टकों का चित्र-शोल्लास महाकवि बाण-भट्ट के काव्यों दे० हर्षचरित का निम्न प्रवचन जो इस चित्र-कौशल का पूर्ण प्रतिबिम्बन करता है.—

> बहुविधवर्णविग्याङ्गुलीभिर्वीवि,सूत्राणि
> च चित्रयन्तीभिश्चित्रपत्रलतालेख्यकुशलाभिः ॥

अन्त मे इन शैलियो पर कुछ और भी विवेच्य है । वैसे तो चित्र कला के तीन प्रमुख युग सम्प्रदायानुसार विभाजित किये गये हैं—हिन्दू चित्र-कला, बौद्ध चित्र-कला, तथा मुगल चित्र-कला। चूँकि हम यहा हिन्दू स्थापत्य एव चित्र की शास्त्रीय समीक्षा कर रहे हैं, अत जहा तक हिन्दू युग का सम्बन्ध है उसमे ऐतिहासिक शैलियो का कोई विशेष महत्व नही, क्योंकि इस युग की चित्र-कला एक ही आधार पर बनी है जो स्मारक निदर्शन से साक्षात् प्रतीत है।

तारानाथ ने बौद्ध चित्र-कला पर बडी ही मनोरंजक कहानी प्रस्तुत की है। तारानाथ ने बौद्ध-चित्र-कला की तीन शैलियो की उद्भावना की है—

१ देव-शैली २ यक्ष-शैली ३. नाग-शैली।

देव-शैली—मगध देश (आधुनिक बिहार) की महिमा है, जिसका काल उन्होंने ईसा-पूर्व छठी से लगभर तीसरी शताब्दी तक रखा है । उस समय इस कला का महान् उत्थान बताया गया है जो चित्र महान आश्चर्य एवं विस्मय के उदाहरण थे।

यक्ष-शैली—अशोक-कालीन प्रोल्लास है। अशोक के काल मे अवश्य तक्षण एव चित्र का महान् विकास हो चुका था । अशोक-स्तम्भ स्मरणीय निदर्शन हैं।

नागर-शैली—नागार्जुन (बौद्ध भिक्षु एव महान् बौद्ध दार्शनिक तथा पण्डित) के समय मे यह तीसरी शैली ने जन्म लिया। नागो की कला का हम कुछ सकेत कर ही चुके हैं। नाग-जाति बडी ही तक्षण-कुशल थी; अत चित्र-कौशल मे वैसे पीछे रह सकती थी। अमरावती का बौद्ध स्तूप नाग-तक्षको की ही कृति मानी गई है।

तारानाथ की यह भी आलोचना है कि ईसवीयोत्तर तृतीय शतक से बौद्ध चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ होने लगा था। पुन. बौद्ध चित्र कला जाग उठी। उसका पूर्ण श्रेय महनीय कीर्ति तक्षक एव चित्रकार बिम्बसार को था, जो महाराज बुद्ध-पक्ष के राज्य-काल म उत्पन्न हुए थे। वह मागध थे । उनका समय ५वीं अथवा ६वीं शताब्दी के बीच माना जाता है। उस समय तीन भौगोलिक चित्र-केन्द्र पनप रहे थे। मध्य देश, पश्चिम देश, तथा पूर्व । बिम्बसार ने इस मध्य प्रदेश की चित्र कला को प्रति प्राचीन देव-चित्र-कला के अवतारण (Renaissance) मे परिणत कर दी थी।

जहाँ तक पश्चिम केन्द्र की बात है, उसे हम राज-स्थानी केन्द्र के नाम से सकीर्तित कर सकते हैं। इस केन्द्र का लब्धकीर्ति चित्रकार श रगधर थे जो मारवाड म पैदा हुए थे। उस समय राजा शील राज्य कर रहे ■ । सम्भवतः यह राजा उदयपुर के शिलादित्य गुहिल थ, जिनका समय ७वीं ईसवी शती माना जाता है। तारानाथ के मत मे ये चित्र-कलाए अति प्राचीन यक्ष कौशल पर आलम्बित थी।

अब आइए पूर्वी स्कूल पर,। यह बगाल मे विकसित एव प्रोल्लसित हुआ था। राजा धनपाल तथा राजा देवपाल बगाल के बडे कला-सरक्षक नरेश थ। यह समय नवी शताब्दी माना जाता है। इसी प्रदेश ■ नागो की शैली का पुनरुत्थान हुआ। इसका श्रेय उस केन्द्र के महाकीर्ति-शाली धीमन तथा उनके पुत्र वितपल को था जो दोनो कुशल तक्षक एव चित्रकार के साथ साथ धातु-तक्षण मे भी अति प्रवीण थे।

इन प्रमुख चित्र-केन्द्रो एव तत्तद्देशीय शैलियो के अवान्तर केन्द्र एव भेद भी प्रादुर्भूत हो गये। काश्मीर, नेपाल, बर्मा, दक्षिण के बहुत से नगर इन सभी स्थानो पर उप-केन्द्र विलसित हो गये। इस स्तम्भ मे हमे मध्य कालीन चित्र-कला की विशेष अवतारणा आवश्यक नहीं। मध्य-काल की चित्र-शैली को 'कलम' पर आधारित किया गया था। कलम से लेखनी नहीं कुछ समझे। देहली कलम आदि से हम परिचित हैं। उसी प्रकार राजपूताने के चित्र-कौशल मे जयपुर तथा कागरा ही आते है। पुन. अब आइये उत्तरापथ की ओर तो हम बहुतो की प्रसिद्धि पाते हैं तथा कुछ नवीन कलमे जैसे लखनवी, दक्षिणी काश्मीरी, ईरानी, पटना आदि आदि।

अस्तु, थोडे से विहगावलोकन के उपरान्त अब हम चित्र-कार के चरणों पर पाठको को नत-मस्तक करने के लिए इच्छुक है, क्योकि महाराजाधिराज सोमेश्वर देव ने चित्रकार को ब्रह्मा के रूप मे विभावित किया है।

चित्रकार एव उसकी कला

चित्रकार के सम्बन्ध मे कुछ लिखने के प्रथम हमे यहा पर यह भी थोडा इगित करना आवश्यक है कि भारतीय चित्र-कला तथा पश्चिमीय चित्र-कला मे क्या अन्तर है। सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि इस देश की सभी कलाएक्या संगीत, क्या नृत्य, क्या नाट्य, क्या काव्य—यहा तक कि वास्तु एव शिल्प भी

अन्त मे इन शैलियो पर कुछ और भी विवेच्य है । वैसे तो चित्र कला के तीन प्रमुख युग सम्प्रदायानुसार विभाजित किये गये हैं—हिन्दू चित्र-कला, बौद्ध चित्र-कला, तथा मुगल चित्र-कला। चूंकि हम यहा हिन्दू स्थापत्य एव चित्र की शास्त्रीय समीक्षा कर रहे हैं, अत जहा तक हिन्दू युग का सम्बन्ध है उसमे ऐतिहासिक शैलियो का कोई विशेष महत्व नही, क्योकि इस युग की चित्र-कला एक ही आधार पर बनी है जो स्मारक निदर्शन से साक्षात् प्रतीत है।

तारानाथ ने बौद्ध चित्र-कला पर बडी ही मनोरञ्जक कहानी प्रस्तुत की है। तारानाथ ने बौद्ध-चित्र-कला की तीन शैलियो की उद्भावना की है—

१ देव-शैली २ यक्ष-शैली ३ नाग-शैली।

देव-शैली—मगध देश (आधुनिका विहार) की महिमा है, जिसका काल उन्होने ईसा-पूर्व छठी से लगाकर तीसरी शताब्दी तक रखा है । उस समय इस कला का महान् उत्थान बताया गया है जो चित्र महान आश्चर्य एवं विस्मय के उदाहरण थे।

यक्ष-शैली—अशोक-कालीन प्रोल्लास है। अशोक के काल मे अवश्य तक्षण एव चित्र का महान् विकास हो चुका था । अशोक-स्तम्भ स्मरणीय निदर्शन हैं।

नागर-शैली—नागार्जुन (बौद्ध भिक्षु एव महान् बौद्ध दार्शनिक तथा पण्डित) के समय मे यह तीसरी शैली ने जन्म लिया। नागो की कला का हम कुछ संकेत कर ही चुके हैं। नाग-जाति बडी ही तक्षण-कुशल थी; अत चित्र-कौशल मे कैसे पीछे रह सकती थी। अमरावती का बौद्ध स्तूप नाग-तक्षको की ही कृति मानी गई है।

तारानाथ की यह भी आलोचना है कि ईसवीयोत्तर तृतीय शतक से बौद्ध चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ होने लगा था। पुन: बौद्ध चित्र कला जाग उठी। उसका पूर्ण श्रेय महनीय कीर्ति तक्षक एव चित्रकार बिम्बसार को था, जो महाराज बुद्ध-पक्ष के राज्य-काल मे उत्पन्न हुए थे। वह मागध थे । उनका समय ५वीं अथवा ६वीं शताब्दी के बीच माना जाता है। उस समय तीन भौगोलिक चित्र-केन्द्र पनप रहे थे। मध्य देश, पश्चिम देश, तथा पूर्व । बिम्बसार ने इस मध्य प्रदेश की चित्र कला को अति प्राचीन देव-चित्र-कला के अवतारण (Renaissance) मे परिणत कर दी थी।

जहाँ तक पश्चिम केन्द्र की बात है, उसे हम राज-स्थानी केन्द्र के नाम से सकीर्तित कर सकते हैं। इस केन्द्र का लब्धकीर्ति चित्रकार श्रृंगधर थे जो मारवाड़ में पैदा हुए थे। उस समय राजा शील राज्य कर रहे थे। सम्भवतः यह राजा उदयपुर के शिलादित्य गुहिल थे, जिनका समय ७वीं ईसवी शती माना जाता है। तारानाथ के मत में ये चित्र-कलाएं अति प्राचीन यक्ष कौशल पर आलम्बित थी।

अब आइये पूर्वी स्कूल पर। यह बंगाल में विकसित एवं प्रोल्लसित हुआ था। राजा धर्मपाल तथा राजा देवपाल बंगाल के बड़े कला-सरक्षक नरेश थे। यह समय नवीं शताब्दी माना जाता है। इसी प्रदेश में नागों की शैली का पुनरुत्थान हुआ। इसका श्रेय उस केन्द्र के महाकीर्ति-शाली धीमन तथा उनके पुत्र वितपल को था जो दोनों कुशल तक्षक एवं चित्रकार के साथ साथ धातु-तक्षण में भी अति प्रवीण थे।

इन प्रमुख चित्र-केन्द्रों एवं तत्तद्देशीय शैलियों के अवान्तर केन्द्र एवं भेद भी प्रादुर्भूत हो गये। काश्मीर, नेपाल, बर्मा, दक्षिण के बहुत से नगर इन सभी स्थानों पर उप-केन्द्र विलसित हो गये। इस स्तम्भ में हमें मध्य कालीन चित्र-कला की विशेष अवतारणा आवश्यक नहीं। मध्य-काल की चित्र शैली को 'कलम' पर आधारित किया गया था। कलम से लेखनी नहीं शैली समझें। देहली कलम आदि से हम परिचित हैं। उसी प्रकार राजपूताने के चित्र-कौशल में जयपुर तथा कांगरा ही आते हैं। पुनः अब आइये उत्तरापथ की ओर तो हम बहुतों की प्रसिद्धि पाते हैं तथा कुछ नवीन कलमें जैसे लखनवी, दक्षिणी, काश्मीरी, ईरानी, पटना आदि आदि।

अस्तु, थोड़े से विहंगावलोकन के उपरान्त अब हम चित्र-कार के चरणों पर पाठकों को नत-मस्तक करने के लिए इच्छुक हैं, क्योंकि महाराजाधिराज सोमेश्वर देव ने चित्रकार को ब्रह्मा के रूप में विभावित किया है।

चित्रकार एवं उसकी कला

चित्रकार के सम्बन्ध में कुछ लिखने के प्रथम हमें यहां पर यह भी थोड़ा इंगित करना आवश्यक है कि भारतीय चित्र-कला तथा पश्चिमीय चित्र-कला में क्या अन्तर है। सर्व-प्रमुख सिद्धान्त यह है कि इस देश की सभी कलाएंक्या संगीत, क्या नृत्य, क्या नाट्य, क्या काव्य—यहां तक कि वास्तु एवं शिल्प भी

चित्रकार—अब आइये चित्रकार की ओर। हम इस स्तम्भ मे पहले ही कह चुके हैं। महाराज सोमेश्वर देव जो लब्ध प्रतिष्ठ एक स्वय चित्रकार भी थे, तथा इस प्रसिद्ध ग्रथ मानसोल्लास (अथवा अभिलषितार्थ–चिन्तामणि) के लेखक भी थे, व चित्रकार के सम्बन्ध मे लिखते हैं —

प्रगल्भैर्भाविकैस्तज्ज्ञैः सूक्ष्मरेखाविशारदैः।
विधिनिर्माणकुशलैः पत्र-लेखन-कोविदैः॥
वर्णपूरणदक्षैश्च वीरणा च कृतश्रमैः।
चित्रकैर्लेखयेच्चित्र नानारससमुद्भवम्॥

स सू. का भी प्रवचन पढे —

वुध्यन्ते केऽपि शास्त्रार्थं केचित कर्माणि कुर्वते।
करामलकवत् (स्यास्य पर ?) द्वयमप्यद.॥
न वेत्ति शास्त्रवित् कर्म न शास्त्रमपि कर्मवित्।
यो वेत्ति द्वयमप्येतत् स हि चित्रकरो वर.॥

प्राचीन भारत के थोडे से ही चित्रकारो के सम्बन्ध मे कुछ साहित्यिक सन्दर्भ प्राप्त होते है। पुराणो एव ऐतिहासिक ग्रन्थो जैसे महाभारत मे भारत का प्रथम चित्रकार एक नारी थी—चित्रलेखा। उसका वृत्तान्त प्राय सभी को विदित है। बात यह है कि भारतीय चित्रकला अनभिधय कला Anonymous) art) है। भारत के चित्रकार के विषय मे एक प्रकार से बिल्कुल ही अज्ञात है। पश्चिम के चित्र-कलाकारो के पूर्ण वृत्तान्त ज्ञात हैं। मुगलो, राजपूतानी तथा अन्य प्रदेशो के चित्र ही चित्रकार के वृत्तान्त—जीवन साधना एव कला—के मूक इतिहास हैं। हा बौद्धो की चित्र-कला से यह अनुमान अवश्य लगा सकते हैं कि भिक्षु ही चित्रकार था। तिब्बती चित्रो को देखिय व सब सघारामो, चैत्यो एव विहारो की कृतिया हैं। वही सत्य अजन्ता आदि प्राचीन बौद्ध पीठो की कथा है। जिस प्रकार भिक्षुओ एव भिक्षुणियो क लिए बौद्ध धर्म की नियमावली मे जो दिनचर्यायें कल्पित थी वही चित्र-पटो, चित्र-पट्टो के कल्पन, सेवन एव ज्ञानार्जन तथा उपदेश वितरण के लिए भी अनिवार्य चर्या थी। राजस्थान मे जिस प्रकार ग्रामे ग्रामे, नाना कलाकार—तन्तुवाय, धातु-कार, कुम्भ-कार, प्रतिमा-कार थे उसी प्रकार उन्ही श्रेणियो मे सवत्र चित्रकार भी अपनी आराधना, अध्यवाय व्यवसाय से जीविकोपार्जन एव जीवन-यापन करते थे। मुगल चित्र-कार वास्तव मे राज दरबार का दरबारी चित्रकार होता था।

जिस प्रकार गुप्त-काल मे तथा धाराधिप भोज-देव के दरबार मे कवियो की श्रेणिया रत्नो के रूप में विभाव्य थी, उसी प्रकार चित्रकार भी रत्न कहे जाते हैं। विक्रमादित्य के नौ रत्नो की गाथा एवं श्रुति से हम परिचित ही हैं—उसी प्रकार उत्तर मध्यकाल मे यह मुगल-कालीन परम्परा प्रबंध मे भी प्रचलित हो गई।

चित्र-कला के पुरातत्वीय एवं ऐतिहासिक निदर्शनों पर एक विहंगम दृष्टि

यद्यपि समराङ्गण-सूत्रधार का यह अध्ययन शास्त्रीय है तथापि जैसा कि समाज मे और शिष्ट-मण्डली एवं पण्डित-मण्डली मे यह उक्ति थी कि 'साहित्य समाज का दर्पण है' अतः कोई भी शास्त्र यदि समाज का दर्पण न भी हो तो वह समाज के लिए निश्चय ही आदर्श, प्रेरणाएं और पारिभाषिक शास्त्र एवं विज्ञान अवश्य प्रस्तुत करता है। हमारे देश मे किस प्रकार से सम्पूर्ण जीवन-चर्या नियम-बद्ध यापन करनी चाहिए उसी के लिए तो प्रभु-सम्मित वैदिक आदेश मिले (चोदनामूलो धर्मः)—चोदना-प्रणा उसी प्रकार हमारे मनु आदि धर्माचार्यों ने धर्मशास्त्र बनाये। इतिहास और पुराणो ने सुहृद्-सम्मित उपदेश के द्वारा यही कार्य सम्पादन किया और काव्य-नाटक भी पीछे नहीं रहे। उन्होंने भी कान्तासम्मित उपदेश एवं ज्ञान को ही ध्यान मे रखकर आदि कवि वाल्मीकि एवं व्यास ऐसे तथा महाकवि कालिदास बाण, भवभूति, श्री हर्ष आदि भी बहुत सी कलाओ, सामाजिक मान्यताओं एवं धार्मिक उपचेतनाओ अर्थात् समस्त सांस्कृतिक मूलाधारो एवं रूढियों को प्रश्रय देने मे पीछे नही रहे। अस्तु, यदि साहित्य समाज का दर्पण है तो कला भी समाज का प्रतिबिम्ब है अतः हम इस अध्ययन मे पुरातत्वीय चित्र-निदर्शनो को छोडना उचित नहीं समझते। पुनश्च उपर्युक्त महाकवियो की मार्मिक उक्तियां, जो चित्र से सम्बन्धित हैं, उनका परिशीलन भी इस अध्ययन मे उपकारक होगा।

अब प्रश्न यह है कि हम इतिहास की दृष्टि से पहले पुरातत्व को लें या साहित्य को लें? वास्तव मे कालानुरूप (Chronological) इन दोनों धाराओं का विवेचन असम्भव है—जहा तक परिनिष्ठित कला का प्रश्न है, क्योंकि कोई भी परिनिष्ठित कला बिना शास्त्र के कभी भी विकसित नही की जा सकती। पाषाण एवं धातु इन दोनों युगो मे पर्वत की कन्दराओं में कोई न कोई उत्कीर्ण

चित्र अवश्य प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार साहित्यक-सादर्शों को देखें तो हमारे इस देश में सुदूर अतीत में सभ्यता और संस्कृति का कला-सेवन एक अभिन्न अंग था। इस प्रकार पूर्व-ऐतिहासिक, वैदिक तथा शैशव बौद्धकाल में—सभी चित्रकला के सेवन में प्रमाण उपस्थित करते हैं। महाभारत और पुराणों में उषा और चित्र-लेखा की जो कहानी हम पढ़ते हैं, उस समय चित्र-कला कितनी प्रवृद्ध कला थी। यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। ई० पूर्व रचित साहित्यक ग्रन्थ जैसे विनय-पिटक, वात्स्यायन का काम-सूत्र, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भास के नाटक कालिदास और अश्वघोष के महाकाव्य—इन सभी ग्रन्थों में चित्र-कला का प्रोल्लास पद-पद पर दिखाई देता है।

आज का युग कागज और छपाई का युग है इस लिए जरा हम सोचें कि उस सुदूर अतीत में जनता में उपदेश वितरण करने के लिए, ज्ञानार्जन के साधनों के लिए तथा विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों ■ धर्म-चर्या के उपकरणों के लिए पट-चित्र, पट्ट चित्र, कुड्य-चित्र—तीनों बहुत सुन्दर साधन थे। बौद्धों के अनेक चैत्यों और विहारों (दे० अजन्ता आदि बुद्ध-पीठ) में कुड्य-चित्रों का निर्माण कोई मनोरंजन-मात्र ही न था। बुद्ध-धर्म की शिक्षा, चर्या एवं दर्शन की प्रत्यभिज्ञा और अभिख्या के लिए ही इन का उद्देश्य था। शूद्रक के मुद्राराक्षस का यम-पट इसी तथ्य का निदर्शन है। प्राचीन काल में धर्म-गुरुओं एवं उपदेशकों के लिए चित्र ही बड़े साधन थे, जिन से अज्ञों एवं शिशुओं को उपदेश देते थे। हमारे देश में ब्राह्मणों का एक सम्प्रदाय था जिसकी संज्ञा 'नख' (नख ब्राह्मण) थी, जो कुण्डली-चित्रों (portable frame work) की सहायता से ही, वे एक प्रकार से धर्म और अधर्म, पाप एवं पुण्य, भाग्य एवं दुर्भाग्य—इन सब का ज्ञान प्रदान करते थे।

हम पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं कि नाट्य और चित्र एक ही हैं तो जब नाट्य एक प्राचीनतम शास्त्र एवं कला थी (नाट्य-वेद) तो फिर चित्र पीछे कैसे रह सकता है। अस्तु, अब कोई माप-दण्ड हमारे समक्ष नहीं रहा कि पुरातत्व को पहले प्रारम्भ करें या साहित्यक को अतः हम पहले पुरात्वीय निदर्शनों को लेते हैं।

पुरातत्वीय निदर्शन—ऐतिहासिक दृष्टि से चित्र के पुरातत्वीय स्मारकों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—पूर्व-ईस्वीय तथा उत्तर-ईस्वीय।

पूर्व-ईसवीय को हम दो उप-कालो मे विभाजित कर सकते हैं—प्रागैतिहासिक तथा ऐतिहासिक ।

प्रागैतिहासिक—इस काल मे जैसा हम ने ऊपर सकेत किया है वे सब पर्वत-कन्दराग्रो ■ ही भग्नावशेष हैं। जहा तक हमारे देश की इस कला का प्रश्न है, वह निम्नलिखित प्राचीन स्थानो मे प्राप्य है:—

(अ) कामूरपर्वत-श्रेणी—मध्य भारत की इन पर्वत-श्रेणियो मे कुछ कन्दराये हैं जहा पर मृगया-चित्र पाये जाते हैं — पुरातत्वान्वेषण की यह विज्ञप्ति है ।

(ब) विन्ध्य-पर्वत-श्रेणी—इन पर्वत-श्रेणियो की गुहाग्रो मे उत्तर-पाषाण-कालीन चित्र-निदर्शन प्राप्त हुए हैं। ये निदर्शन एक विशेष विकास के निदर्शक भी हैं, कि वहा पर ऐसा प्रतीत होता है मानो ये Art Studio हैं, जहा पर वर्णों को कूटने छानने एव विन्यास-प्रदातव्य बनाने के लिए उलूखलादि पात्र पाये गये हैं। पर्सी ब्राउन (दे० उनकी Indian painting) ने इस को Neolithic art studio के रूप मे उद्भावित किया है ।

(स) अन्य पर्वत-श्रेणिया, विशेषकर माड नदी के पूर्वीय क्षेत्र की ग्रोर जो रायगढ स्टेट (मध्य प्रदेश) मे सिहपुर ग्राम है, वहा पर अति प्राचीन चित्र प्राप्त हुए है, जिनमे रैखिक विन्यास, रक्ताभ वर्ण-विन्यास भी प्राप्त होता है। इन चित्रो मे विश्य मानव एव पशु दोनो ही के चित्र प्राप्त होते हैं। इन चित्रो को ब्राउन ने Heiroglaphics की सज्ञा मे उद्भावित किया है ।

पशुग्रो मे हरिण, गज, खरगोश ग्रादि के मृगया-दृश्य बड़े ही मार्मिक चित्र यहा प्राप्त होते हैं। महिष-घात-चित्र बड़ा ही भयानक एवं विस्मयकारी है, जहा पर भालो से भैंसा मारा जा रहा है तथा जब वह मरणासन्न हो रहा है तो शिकारी ग्रानन्दातिरेक से विभोर हो रहे हैं। ब्राउन की समीक्षा मे इन चित्रो मे haematite brush forms से रेखा-चित्रो एव वर्ण चित्रो की प्रगति ग्रनुमेय हो रही है ।

(य) मिर्जापुर (उत्तर प्रदेश) के समीप पर्वत-कन्दराग्रो के चित्र भी यही मृगया-चित्र-निदर्शन प्रस्तुत करते हैं। यहा पर लकड-बग्घा की मृगया विशेष विस्मयकारी है। ग्रतः इन्हें भी हम Haematite drawing के रूप में ही विभावित कर सकते हैं। ग्रादि प्रागैतिहासिक निदर्शनो के उपरान्त ग्रब ग्राइये ऐतिहासिक निदर्शनो की ग्रोर ।

ऐतिहासिक (पूर्व-ईसवीय)— पुरातत्त्वीय ग्रन्वेषणो से प्राप्त ईसवीय-

पूर्व ऐतिहासिक निदर्शनों मे सर्वप्रथम निदर्शन मध्यभारत के सिरगुजा-क्षेत्रीय रामगढ़ पर्वत मे स्थित प्रथित-कीर्ति जोगीमारा कन्दरा है, उसमे इन कन्दरा की दीवालों पर नाना चित्र प्राप्त होते हैं। आधुनिक विद्वानों के मत मे ये चित्र ईसवीय-पूर्व प्रथम शतक के कहे गये हैं। यद्यपि ये कुड्य-चित्र बड़े ही प्रोज्ज्वल एवं प्रकर्ष नही तथापि ये Frescoes का श्रीगणेश ही नही करते वरन् लेप्य-कर्म-कला (Plastic Art) की भी प्रक्रिया की स्थापना करते हैं। भवनों, ग्रामों, पुरों एवं नगरों के चित्रों के साथ साथ विशेषकर पशु, मृग जलीय-जन्तु—मकर-मत्स्य सभी प्राकृतिक दृश्य यहां चित्रित पाये जाते हैं। मेरी दृष्टि में इस देश की आब-हवा चित्रों के चिर-काल-संरक्षण के लिये अनुकूल नहीं है, अतः इन्हीं श्रेणियों में अन्य स्थान भी हैं, जहां कुड्य-चित्र काफी विकास को प्राप्त कर चुके थे।

ईसवीयोत्तर—अस्तु इस विहंगावलोकन पूर्व-ईसवीय प्राग्ऐतिहासिक एवं ऐतिहासिक दोनों के विहंगावलोकन के बाद अब ईसवीयोत्तर काल की ओर चलते हैं, उन मे जैसा पहले स्तम्भ मे संकेत हो चुका है, उसी के अनुरूप इस युग को निम्नलिखित तीन कालों मे बांट सकते हैं :—

१ बौद्ध-काल,

२ हिन्दू-काल,

३. मुस्लिम-काल।

यहां पर बौद्धों को प्रथम तथा हिन्दुओं को द्वितीय स्थान देने का अभिप्राय यह है कि हिन्दू चित्र-कला से राज-पूतों (राजस्थानी तथा पंजाबी पहाड़ी राजपूतों) की कला से तात्पर्य है, जो बौद्धों के बाद विकसित हुई। दूसरी विशेषता यह है कि बौद्ध एवं हिन्दू अर्थात् राजपूती चित्र-कला की पृष्ठ-भूमि धर्म एवं दर्शन था। इन दोनों के अन्तर्तम मे रहस्यवाद की छाया सर्वत्र दिखाई पड़ती है। जहां तक मुस्लिम काल की मुगल चित्र-कला का प्रश्न है, वह पूरी की पूरी धर्म-निरपेक्ष (Secular) थी। उस मे यथार्थवाद विशेष रूप से दृश्य है।

यद्यपि राज-पूती चित्र-कला की विशेषता अर्थात् धर्माश्रयता पर हम संकेत कर ही चुके हैं, परन्तु इस कला मे बौद्ध चित्र-कला की अपेक्षा यह और व्यापक क्षेत्र की ओर बढ़ गयी थी। वह केवल धार्मिक नाटकों, आख्यानों, उपाख्यानों के ही चित्रण मे एकमात्र व्यस्त नहीं थी। इस चित्र-कला मे ग्रामीण

कन्दरा नं० २— १. अर्हत, किन्नर तथा अन्य गण जो बोधि-सत्व की पूजा कर रहे हैं;
२. बौद्ध भक्त-गण;
३. इन्द्र तथा चार यक्ष;
४ उड्डीयमान चित्र—पौष्पिक एवं भगिक चित्रों के साथ;
५. महिला-प्रवास (Exile);
६. महाहस-जातक;
७. यक्ष एवं यक्षिणियां;
८. बुद्ध-जन्म;
९. पुष्प लिये हुए भक्त;
१०. पुष्प लिये हुए भक्त;
११. नाग (अजगर), हंस तथा अन्य भगक चित्र;
१२. नाना मुद्राओं में भगवान् बुद्ध;
१३. मैत्रेय (बोधिसत्व)
१४. भगवान् बुद्ध नाना मुद्राओं में;
१५. भंगक चित्र;
१६. अवलोकितेश्वर (बोधिसत्व)
१७. पुष्पसहित भक्त-गण;
१८. पद्मपाणि भक्त-गण;
१९. हारीति तथा पांचिक;
२०. विधुर-पण्डित-जातक;
२१. पूर्ण-अवदान-कथा—समुद्र-यात्रा;
२२. पूर्ण-अवदान-कथा—बुद्ध-पूजा;
२३. राज-भवन;
२४. राज-भवन-महिला क्रुद्ध राजा के चरणों पर;
२५. बोधिसत्व—उपदेशक-रूप;
२६. भङ्ग-चित्र;
२७. नाग, गण तथा अन्य दिव्य-चित्र।

कन्दरा नं० ६— १. बुद्ध का प्रथम-उपदेश (First Sermon);
२. द्वार-पाल तथा महिला भक्ता;

३. बुद्धाकर्षण ;
४. एक भिक्षु;
५. द्वारपाल एवं नारी-प्रतिहारिणियां,
६. श्रावस्ती का आश्चर्य ।

कन्दरा नं० ७—१. बुद्धोपदेश;
२. बुद्ध-जन्म;

कन्दरा नं० ९—१. नागराज—सगण-सेवक;
२. स्तूप की ओर जाते हुये भक्त;
३. चैत्य एवं विहार;
४. बुद्ध जीवन के दो दृश्य;
५. पशु-चित्र;
६. नाना मुद्राओं में भगवान् बुद्ध;

कन्दरा नं० १०—१ राजा का बोधि-वृक्ष-पूजार्थ आगमन;
२. राज-जलूस;
३. राज-जलूस;
४ श्याम-जातक-षड्दन्त—हस्ति-कथा,
५. छद्दन्त-जातक—षड्दन्त-हस्ति-कथा ।
६. बुद्ध-चित्र;

कन्दरा नं० ११— १. बोधि-सत्व—पद्मपाणि;
२. बुद्ध तथा अवलोकितेश्वर;

कन्दरा नं० १६— १. तुषिता स्वर्ग के चित्र—बुद्ध-जीवन;
२. सुत-सोम-जातक—सुदास-सिंहनी-प्रेम-कथा,
३. चैत्य-मन्दिर के सम्मुख दैत्य-गण;
४. महा-उम्मग-जातक;
५. मरणासन्ना राज-कुमारी (परित्यक्ता नन्द-पत्नी);
६. नन्द का धर्म-परिवर्तन;
७. मानुष बुद्ध;

८. अप्सरायें तथा बुद्ध का उपदेशक-रूप;
९. बुद्ध-उपदेश-मुद्रा;
१०. हस्ति-जुलूस;
११. संघोपदेश—बुद्ध,
१२. बुद्ध-जीवन-चरित-दृश्य—मगध के राजा का आगमन, बुद्ध का राजगृह में भ्रमण;
१३. बुद्ध-तपस्या—प्रथम ध्यान तथा चार मुद्रायें,
१४. राज-भवन;
१५. Conception;
१६. बुद्ध का शैशव,

कन्दरा नं० १७— १. राजा का दान-वितरण,
२. राज-भवन,
३. इन्द्र तथा अप्सरायें;
४. मानुष बुद्ध तथा यक्ष एवं यक्षिणियां,
५. बुद्ध की पूजा करती हुई अप्सरायें तथा गन्धर्व,
६. क्रुद्ध नीलगिरि हस्ति-राज का दृश्य;
७. बोधिसत्व अवलोकितेश्वर तथा भिक्षु-भिक्षुणी-वृन्द;
८. हस्तिनी के साथ यक्ष,
९. राजसी मृगया;
१०. संसार-चक्र,
११. माता एवं शिशु—भगवान् बुद्ध एवं अन्य बौद्ध देवों के निकट;
१२. प्रथम धर्म-चक्र;
१३. भग्न-चित्र;
१४. महाकपि-जातक;
१५. हस्ति-जातक,
१६. राज-शङ्ख-प्रदान;
१७. दरबारी दृश्य;
१८. हंस-जातक;
१९. शार्दूल, अप्सरायें तथा बुद्धोपदेश,

२०. विश्वन्तर-जातक—दानी राजकुमार;
२१. यक्ष, यक्षिणी एवं अप्सरायें;
२२. महाकपि जातक (२)
२३. सुत-सोम-जातक;
२४. तुषिता में बुद्धोपदेश—दो और दृश्य;
२५. बुद्ध के निकट मा और बच्चा;
२६. श्रावस्ती का महान् आश्चर्य;
२७. शरभ-जातक
२८. मातृ-पोषक-जातक,
२९. मत्स्य-जातक;
३०. साम (श्याम)-जातक;
३१. महिष-जातक;
३२. एक यक्ष—राज-परिवार-रूप;
३३. सिंहल अवदान;
३४. स्नान-चित्र;
३५. शिबि-जातक;
३६. मृग-जातक;
३७. भालू-जातक;
३८. न्यग्रोध-मृग-जातक;
३९. दो वामन—वाद्य-यन्त्रों के सहित,
४०. भय-चित्रण।

कन्दरा नं० २१— १. कमल-बेलि तथा अन्य पुष्प-विच्छित्तियां।

कन्दरा नं० २२— १. संघ को उपदेश करते हुए भगवान् बुद्ध।

संरक्षण—इस तालिका के उपरान्त किस राज्य-काल में, किन कलाचार्यों के संरक्षण में इन चित्रों का निर्माण हुआ यह भी विचारणीय है। तारानाथ की एतद्विषयक उद्भावना का हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, तथापि यह पुनरावृत्ति उचित है। जहां तक उत्तम बुद्ध-चित्रों की रचना का सम्बन्ध है, वह देवों के द्वारा बताई जाती है। पुनः यह चित्रण यक्षों (गुरुजनों) के द्वारा चलाये चलता रहा, जो अशोक-काल (ई० पूर्व २५०) को जाता है। तीसरी परम्परा नागों के

द्वारा सम्बर्धित हुई, जो नागार्जुन (ई० २००) के आधिपत्य में बताई जाती है। लगभग ३०० वर्ष में यह लड़ी टूट गई। फिर वृद्धपक्ष (५वीं तथा ६ठी शताब्दी) के काल में बिम्बसार नाम चित्राचार्य के द्वारा ये चित्र पुनः उसी देव-परम्परा में रचे जाने लगे।

अब आइये ऐतिहासिक समीक्षा की ओर। जहा तक नवीं तथा दसवीं कन्दरा के चित्रों का प्रश्न है, वह द्राविड नरेशों (आन्ध्र राजाओं) के काल का विकास है। इसे हम ई० पू० २७ से लगाकर २३६ ई० का काल मान सकते हैं। यह अजन्ता चित्रों का प्रथम वर्ग है।

दूसरा वर्ग (दे० गुहा न० १६-१७) गुप्त-काल (३२० ई०) का प्रतिनिधित्व करता है। मेरी दृष्टि में यह कला गुप्तों की अपेक्षा वाकाटकों की विशेष देन है।

तीसरे वर्ग मे जहा हम राजा पुलकेशिन द्वितीय को एक पर्शियन दूत से मिलते हुए पा रहे है, उससे यह वर्ग ६२६-६२८ ई० के समय का संकेत करता है। अब आइये द्रव्य एवं क्रिया की ओर।

चित्र-द्रव्य एवं चित्र-प्रक्रिया—जहा लेप्य एव प्लास्टर आदि प्रक्रिया का सम्बन्ध है, वे यथा-प्रतिपादित शास्त्रीय विश्लेषणों के ही निदर्शन हैं। जहा तक इन कुड्य-चित्रों की व्यापक समीक्षा का प्रश्न है, उसमे भारतीय एव योरोपीय-ऐशियाई दोनों पद्धतियों की तुलनात्मक समीक्षा आवश्यक है। यहा पर हम इतना ही संकेत कर सकते हैं कि ये कुड्य-चित्र भारतीय शास्त्रीय प्रक्रिया के पूर्ण प्रतिबिम्ब हैं। प्रत्येक वर्ग के चित्रों के लिये जैसा भूमि-बन्धन हमारे शास्त्रों मे प्रतिपादित है वही यहा पर भी प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। चूंकि आधुनिक कला-समीक्षक हमारे शास्त्रीय विवरणों (चित्र-लक्षणों) से सर्वथा अपरिचित थे, अतः उनके मस्तिष्क मे योरुप-एशिया के प्रथित चित्र-पीठों पर प्रश्न ऐसे निदर्शनों के कारण उन के लिये सकट उपस्थित हो गया, अतः उन्हे इस तुलनात्मक समीक्षा की ओर जाना पड़ा और अन्त मे उन्हें झक मार कर भारतीय पद्धति के निष्कर्षों पर पहुचना पड़ा। इस तुलनात्मक समीक्षा मे पर्सी ब्राउन ने विशेष विवरण दिये हैं। वे उन्हीं के ग्रन्थ मे एव मेरे Hindu Canons of Painting or Citra-Laksanam and Royal Arts—Yantras and

Citras मे द्रष्टव्य हैं।

वर्ण-विन्यास एवं तूलिका-चित्रण—ये सब अपने ही शास्त्रो के प्रतीक हैं। विशेष विवरण यथा-निर्दिष्ट ग्रन्थो में देखिये। अब आइये अन्त मे मेरी समीक्षा की ओर।

शास्त्र एवं कला—अजन्ता के चित्रो की सर्व-प्रमुख विशेषता रेखा-कर्म है। विष्णुधर्मोत्तर के निम्न प्रवचन का हम सकेत कर ही चुके हैं:—

रेखा प्रशसन्त्याचार्या वर्तना च विचक्षणा.।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः॥

अतः अजन्ता के चित्रो में रेखा-कर्म परम प्रकर्ष का प्रत्यक्ष प्रमाण है। अजन्ता की चित्र-तालिका मे प्राप्त विषयो को लेकर इस महान प्रख्यात पीठ पर जाइये और देखिये—महाहस-जातक-चित्र एव उसी चैत्य मे बोधिसत्व-अवलोकितेश्वर अथवा बुद्ध का वैराग्य (The Great Renunciation) जिस मे सर्वाधिक वैशिष्ट्य रेखा-कर्म है तथा वहा रूप-चित्रण (Modeling of Form) भी हमारे चित्र-शास्त्र के सर्व-प्रमुख क्षय-वृद्धि चित्र-सिद्धान्त का पूर्ण प्रतिबिम्बन कर रहा है।

वर्ण-विन्यास भी हमारे शास्त्रीय पद्धति का अवलम्बन है। महा-हस-जातक-चित्र मे जो वर्ण-विन्यास विशेषकर नीलो का विन्यास किया गया है, वह राजावर्ताभिध वर्ण का प्रतीक है। राजावर्त-राजावर्त-लजावर्द लाजवर्दी के सम्बन्ध मे हम अपने पूर्व स्तम्भ मे पहले ही समीक्षा कर चुके हैं। जहा तक अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तो के अनुगमन का प्रश्न है वहा प्रतिमा एव चित्र दोनो के सामान्य अग जैसे मुद्रायें वे भी इन चित्रो मे पूर्ण रूप से विभाव्य हैं। गुहा न० १ के राज-भवन-चित्र में जो मुद्रा-विनियोग प्राप्त होता है, वह बडा आकर्षक है। इसी प्रकार अन्य चित्रों में भी नाट्य, नृत्य, एवं सगीत मुद्राओ का भी बहुल विनियोग प्राप्त होता है। अस्तु, अजन्ता चित्रो के इस स्थूल समीक्षण के उपरान्त अब आइये दूसरे चित्र-पीठ की ओर।

सिंहल-द्वीप—सिगरिया—इस पीठ के चित्रों की सर्व-प्रमुख विशेषता है धर्म-प्रेरणा का अभाव। इन चित्रो मे लगभग बीस नायिका-चित्र हैं। ये चित्र

सिंहल-द्वीप के राजा काश्यप (४७९-४९७ ई०) के समय मे चित्रित किये गये थे। मेरी धारणा है कि ये रानियो के चित्र हैं। जहा तक चित्रण-प्रकर्ष एव प्रक्रिया की बात है वे सभी शास्त्रानुरूप हैं। इन मे सर्वाधिक वैशिष्ट्य सौन्दर्य है। इन चित्रों मे लक्षण एव चित्र-कौशल दोनो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। बुद्ध और छेनी दोनो की कला के ये मिश्रण हैं।

बाघ—वैसे तो अजन्ता से सीधी दिशा मे लगभग १५० मील की दूरी पर यह चित्र-पीठ स्थित है, परन्तु नर्मदा दोनो के बीच बहती हुई इनको पृथक् भी कर रही है। अतः इन दोनो के सरक्षण की पृथक्ता भी सुतरा प्रकट एव समर्थित है। इस पीठ पर न तो कोई शिला-लेख प्राप्त है, न कोई ऐतिहासिक सूचना। इस पहाड़ी के एक विशाल हाल मे नाना चित्रो का चित्रण हुआ था। यह सभा-वेश्म लगभग ९० फुट चौकोर है। इस के स्तम्भ, कुड्य अर्थात भित्ति-या सभी चित्रों से चित्रित थे, परन्तु बहुत से चित्र नष्ट हो गये हैं। इन चित्रो मे अजन्ता और सिगिरिया दोनो का मिश्रण प्राप्त होता है—एक ओर कुछ बौद्ध-धर्म-प्रतीक चित्र, दूसरी ओर धर्म निरपेक्ष चित्र। बौद्ध चित्रो में बौद्ध-धर्म के इस देश में ह्रास कालीन अवस्था के चित्रण हैं। एक सगीत-नाटक (हल्लिमक) पूर्ण तत्कालीन स्वातन्त्र्य एव स्वाच्छन्द्य का निदर्शन है। अब चलें हिन्दू काल की ओर, जहा महाकाल तथा श्री सत् अकाल के भी दर्शन हो सकते हैं, क्योकि जैसा हम पहले सकेत कर चुके हैं कि हिन्दू चित्र-कला से तात्पर्य राज-पूत-कला का अर्थ है। और यह राजपूतानी कला न केवल राज-स्थान की देन है बरन् पंजाब (देखिये कागड़ा) की भी प्रमुख देन है।

हिन्दू-काल (७००-१६००)—इस काल में नाना सम्प्रदायो एवं पन्थों के निदर्शन मिलते हैं। ये चित्र ताल-पत्र की प्रथम विशेषता हैं। इस का प्रारम्भ बगाल से हुआ, जो १२वी शताब्दी के निदर्शन हैं। पुनः १५वी शताब्दी मे जैन-ग्रन्थ-चित्रण (Book Illustration) काफी प्रसिद्ध एव सिद्ध-हस्त चित्रकार भी थे। जहा तक ब्राह्मण-चित्रो की बात है वह १२वी शताब्दी मे एलोरा के गुहा-मन्दिरो से प्रारम्भ हुई। इसी प्रकार और बहुत से इस काल मे यत्र-तत्र-सर्वत्र चित्र प्राप्त हुए हैं, जो पूर्व-मध्य-काल एव मध्य-काल की स्मृतिया हैं। राजपूती चित्र-कला तो उत्तर-मध्यकाल की कृतिया हैं। अब हम इस साधारण प्रस्तावना के उपरान्त वैयक्तिक निदर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं।

जैन-चित्र—ताल पत्र पर हस्तलिखित निशीथ चूर्णी जो चित्रो से चित्रित है वह जैन-भाण्डागार मे प्राप्त है तथा यह कृति ११वी शताब्दी मे सिद्धराज जयसिंह के राजत्व-काल मे सम्पन्न हुई। यह ताल पत्र चित्रण ११वी से लेकर १४वी तक चलता रहा। इन में अग-सूत्र, त्रिषष्टि-शलाका-पुरुष-चरित, श्री नेमिनाथ-चरित, श्रावण-प्रतिक्रमण चूर्णी—ये सब ११वी से १४वी शताब्दी तक के निदर्शन है। अब आइये (१४००-१५००) जैन चित्रो की ओर। उत्तम कल्प-सूत्र, कालकाचार्य-कथा तथा सिद्ध-हेम—ये सभी चित्रित हस्त-लिखित ग्रथ है जो पाटन आदि प्रसिद्ध जैन भाण्डागारो मे प्राप्त हैं। अभी तक हम ताल-पत्र पर चित्रित इन इलैस्ट्रेटेड म्यनुस्क्रिप्ट्स की अवतारणा कर रहे थे। अब आइये कर्गल-पत्र पर चित्रित हस्त-लिखित ग्रन्थ। ज्यो ही १५वी ई० के उपरान्त कागज का निर्माण प्रारम्भ हुआ तो फिर जैन चित्रो का एक नया युग प्रारम्भ हो गया। इन में कल्प-सूत्र तथा कालकाचार्य-कथा असख्यो पत्र-चित्रणो के साथ साथ हिंदू प्रेम-मय गाथा-काव्यो के भी चित्रण प्रारम्भ हो गये, जिनमे वसन्त विलास एव रति-रहस्य के साथ साथ स्तोत्र एव स्तुति-परक ग्रन्थ जैसे बालगोपाल-स्तुति तथा दुर्गा-सप्त शती ऐसे प्रसिद्ध पौराणिक ग्रन्थ भी चित्रणो से भर गये। इन सभी चित्रो मे दैविक चित्रो की सुन्दर आभा दर्शनीय है। ये Oblong Frame के निदर्शन हैं। रक्त, स्वर्णिम, पीत, श्याम, शुभ्र, नीली, हरित तथा अन्य सभी शुद्ध एव मिश्र वर्णों का पूर्ण विन्यास दर्शनीय है।

अस्तु, इस पूर्व एव उत्तर मध्यकाल मे यत: तक्षण (मूर्ति-निर्माण) एव प्रासाद-वास्तु का चरमोन्नति काल था अत ये बेचारी चित्र-कला एक प्रकार से कुछ धीमी पड गयी। तथापि यह कला मरी नही। यह कला द्वीपान्तर भारत एव सीमावर्ती देशों मे एक प्रकार से प्रयाण कर गई। वहा पर इस कला के बड़े ही प्रौढ निदर्शन प्राप्त होते हैं। पूर्वी तुर्किस्तान (खोटान) तथा तिब्बत मे जो चित्र-कला विकसित हुई उस पर अजन्ता की कारीगरी पूर्ण रूप से प्रति-बिम्बित दिखाई पड़ती है। स्टीन और सी काल के इन चित्र-अन्वेषणो ने समस्त ससार को मुग्ध कर दिया है कि एशियाई चित्र-कला कितनी प्रबद्ध थी। कुड्य-चित्रो के अतिरिक्त कुण्डली-चित्र-पट-चित्र एव पट्ट-चित्र सभी भेद इन चैत्यो, मन्दिरों एव विहारों विशेषकर तिब्बती पीठो मे काफी संख्या में प्राप्त होते हैं। अब आइये राजपूतानी चित्रकला की ओर।

राजपूत चित्र-कला—राजपूती तथा मुगली दोनों ही चित्र कलायें समानान्तर चलने लगी थीं। इन दोनों कलाओं का उद्भव १६वीं ईसवी शताब्दी (१५५०) में प्रारम्भ हुआ था। राजपूती तो १६वीं शताब्दी तक चलती रही, परन्तु मुगली १८वीं मे मर गई, क्योंकि यही काल मुगलों के काल की इतिश्री थी।

राजपूती कला पर पूर्ण प्राचीन शास्त्र एव कला दोनों का प्रभाव था। यद्यपि अजन्ता का प्रभाव अवश्य दिखाई पड़ता है तथापि नवीन उपचेतनाओं तथा उद्भावनाओं का भी इस मे प्रत्यक्ष प्रमाण प्रस्तुत होता है। अतः बुद्ध-धर्म एक प्रकार से इस समय खतम था तो हिन्दू धर्म के पुनरावर्तन (Revival) मे स्वाभाविक चेतनाओं के द्वारा इस कला का विकास स्वतः सिद्ध है। यह युग शिव-पूजा, शिव-माहात्म्य तथा विष्णु-पूजा एव विष्णु-माहात्म्य का था। भक्ति-धारा एक भागीरथी की उद्दाम गति से बहने लगी। राधा-कृष्ण-लीला का यह युग था, जिस मे रास लीला, नायक-नायिका-लीला बड़े ही प्रकर्ष को प्राप्त हो गयी। शिव-पार्वती, सन्ध्या-गायत्री, रामायण एव महाभारत के आख्यान चित्र मे सब राजस्थानी कला के परम निदर्शन हैं। अतः ये सब चेतनायें जन-भावना की प्रतीक थीं। अत यह चित्र-कला राजस्थान मे एक प्रकार से दैनिक व्यवसाय तथा अध्यवसाय हो गया था। राजस्थान का प्रमुख नगर जयपुर इस राजपूती-कला का केन्द्र बन गया। अतएव इस राजस्थानी चित्र-कला को जयपुर कलम की संज्ञा से चित्रकार पुकारने लगे। ये राजस्थानी चित्रकार दरबार के अभिलाषुक थे। पुनः मुगल दरबार की राजधानियों उप-राजधानियों जैसे दिल्ली, आगरा, लाहौर आदि नवाबी शहरों मे भी यह कला अपनी विशिष्टता से पूर्ण होती रही।

राजपूती चित्र-कला सर्वाधिक प्रकर्ष पजाब की हिमाचल उपत्यकाओं मे एक नवीन प्रकर्ष पर आसीन हो गयी। कागड़ा की चित्र-कला इस युग की महती देन मानी गयी है। जिस प्रकार जयपुर कलम, उसी प्रकार कांगड़ा कलम से यह राजपूती चित्रकला विश्रुत हुई। इस पजाबी राजपूती कला मे रैखिक कर्म, वर्ण-विन्यास तथा प्रोज्ज्वल भगिमा छाया-कान्ति आदि सभी षडङ्ग-चित्र के सिद्धान्तों एव प्रक्रियाओं का पूर्ण आभास एव विलास प्राप्त होता है।

इस कागड़ा केन्द्रीय राजपूती चित्र-कला की सब से बड़ी विशेषता

राजश्रय थी प्रदेशीय (Local) प्रावश्यकताम्रो एव चेतनाम्रो तथा रस्म-रिवाजो का भी इन चित्रणो मे साक्षात् प्रतिबिम्बन है। पहाडी राजाम्रो की म्राज्ञा ही चित्रकार के लिये उसका सब से बडा म्रध्यवसाय था। म्रतएव इन चित्रो मे राजसी-राजा रानियो के बहुत से चित्र प्राप्त होते हैं। साथ ही साथ पौराणिक एव भागवतिक चित्र भी प्रचुर सख्या मे प्राप्त होते हैं।

दुर्भाग्य का विलास था कि घर्म-शाला के भू-कम्प-विप्लव से इन समस्त चित्र-केन्द्रो एव उनमे विनिर्मित, सग्रहीत ग्रसख्य चित्र नष्ट हो गये, भूगर्भ मे विलीन हो गये तथा यह बडी थाती नष्ट-प्राय हो गई। यह घटना १९०५ ई० की है। अब आइये मुगल कला की ओर।

मुगल चित्र-कला—राजपूती चित्र-कला धार्मिक, जनीपयिक तथा रहस्यवादी कला थी, जहा मुगली चित्र-कला नवाबी तथा यथार्थवादी कही जा सकती है। मुगल सम्राट् अकबर के दरबार मे यह कला प्रारम्भ हुई, क्योकि कला-सरक्षक अकबर की इन कलाम्रो मे बडी रुचि थी, अतएव अनेक विदेशी कलाकार तथा चित्रकार अकबर के दरबार मे आ बिराजे। ईरान, फारस, समरकन्द आदि स्थानो मे प्रोल्लसित चित्र-कला-केन्द्रो मे शिक्षित एव दीक्षित चित्रकार इस दरबार के रत्न बन गए। अबुल फजल की आइने-अकबरी मे इन चित्रकारो की बडी सख्या का निर्देश है। फर्रुख, अब्द-अल-समद, शेराजी, मीर सय्यद आदि अकबरी दरबार के चित्रकार-रत्न थे। जहागीर ने भी इस कला को बहुत प्रोत्साहन दिया और उस समय समरकन्द के कई चित्रकार यहाँ आ पहुचे। शाहजहा विशेषकर स्थापत्य मे तल्लीन हो गया तो इस चित्र-कला का ह्रास प्रारम्भ हो गया। पुन औरगजेब तो इन कलाम्रो का पूर्ण उन्मूलन का दोषी बना।

यद्यपि मुगल चित्र-कला पर ईरान का अमिट प्रभाव है, तथापि देश की सस्कृति एवं जनीन धारा का प्रखर प्रभाव कभी कोई हटा नही सकता। अतः यह कला इस देश की इन दोनो धाराम्रो मे समन्वित होकर विलसित हुई। बहुत से मुगल-चित्र-कला के विख्यात हिन्दू चित्रकार भी इस कला को प्रोल्लास देने के श्रेय-भागी है। इन में बसवन, दशवन्त, केशोदास आदि चित्रकार विशेष उल्लेखनीय हैं।

इन मुगली चित्रो की सबसे बड़ी विशेषता चित्र-फलक हैं। मुगया एवं

युद्ध भी इन चित्रों के प्रमुख अंग हैं। दरबार तथा ऐतिहासिक इतिवृत्त भी इन चित्रों के पूर्ण अंग हैं। यद्यपि इस कला का प्रथम विकास ईरानी कलम से प्रारम्भ हुआ, परन्तु कालान्तर पाकर इस कला का प्रोल्लास, जैसा पहले हम सूचित कर चुके हैं, देहली कलम, लखनवी कलम, पटना कलम काश्मीरी कलम, आदि कलान्तर कलमों में प्राप्त होता है। अतः मुगली कला काफी प्रवृद्ध एवं प्रोल्लसित हो गयी।

एक प्रश्न यह है कि क्या मुगल कला ने ही Portrait Pain ing को प्रारम्भ प्रदान किया —नहीं। चित्र-स्वरूप-चित्रण महाभारत की कहानी से स्पष्ट है। चित्रलेखा (प्रथम चित्रकार) ने अपनी सहेली उषा के स्वप्न-पुरुष का प्रथम स्वरूप-चित्र Portolt Painting का श्रीगणेश किया था। बौद्ध इतिहास से भी हम अपरिचित नहीं कि जब भगवान बुद्ध के घोर अनुयायी एवं मगधेश्वर महाराज अजातशत्रु ने अपने मास्टर के चित्र की प्रार्थना की तो उन्होंने केवल अपनी पट पर पड़ती हुई छाया के चित्र को चित्रित करने के लिये ही स्वीकृति प्रदान की थी तत्कालीन प्रबुद्ध चित्रकार ने उस छाया में इस विधा के चित्र को तूलिका के द्वारा वर्ण-विन्यास में परिणत कर ऐसे चित्र का निर्माण कर दिया। अजन्ता के भी ऐसे Portraits को देखें जिनकी महिमा पर पहले ही कुछ इंगित कर चुके हैं।

पुनरुत्थान के लिए प्रयत्न किया। कला का पुनरुत्थान जब इस आधुनिक युग मे प्रारम्भ हुआ तो इस मे सबसे बडी प्रेरणा रसास्वाद-आदर्श (Aesthetic Ideal) की ओर था। अवनीन्द्र नाथ टैगोर को ही इस उद्भावना का श्रेय है। इस प्रकार बगाल के साथ साथ दिल्ली, लखनऊ, पजाबी पहाडी इलाके—पजाब खास कर लाहोर तथा अमृतसर, पटना इन उत्तरापथ प्रदेशो के साथ साथ दक्षिण भारत में भी जैसे औरगाबाद, दौलताबाद, हैदराबाद और निकोडा म भी यह आधुनिक कला अपने पुनरुत्थान पर पहुच गई। तारानाथ ने अपने चित्र-कला-इतिहास मे दक्षिण के प्रसिद्ध-कीर्ति तीन चित्र-कारो मे जय, अजय तथा विजय का नामोल्लेख किया है। इनके बहुत से अनुगामी भी थे। दुर्भाग्य-वश इनके समय के सम्बन्ध मे कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही उपस्थित होता। आगे चलकर इस दक्षिण भारत के दो प्रसिद्ध चित्र-पीठ पनप उठे जिनको तन्जोर और मैसूर के नाम से कीर्तित करते हैं।

अवनीन्द्र नाथ ने यद्यपि इस दिशा मे स्तुत्य प्रयत्न अवश्य किया, परन्तु मुझे यह कहने मे सकोच नही है, कि उन्होने अपनी पुरानी थाती अर्थात शास्त्रीय सिद्धान्त एवं परम्परागत कला-प्रक्रिया इन दोनो को पश्च-हस्त देकर योरुप के अनुगामी होने का बीडा उठाया। इस कदम ने भारत की चित्र-कला को इस नवीन सम्प्रदाय ने एक प्रकार से धूल-धूसरित कर दिया। पौर्वात्य एव पाश्चात्य इन दोनो कलाओं की अपनी अपनी मूल भित्तिया थी और दोनो मे काफी मौलिक भेद भी थे। अत इन दोनो का मिश्रण कला-सिद्धान्त एव कला-प्रक्रिया की दृष्टि से यह बहुत बडा गलत कदम था। अतः इस युग मे हमारे पुराने चित्र नही रहे। मुझे यह कहने मे सकोच नही कि आज जहा भी विश्वविद्यालय अथवा चित्र-विद्यालय अथवा कला-विद्यालय की ओर जाइये वहा सभी स्थानो पर न तो किसी को प्राचीन चित्र-शास्त्रीय सिद्धान्तों का ज्ञान है न आस्था है। वे भी पश्चिम के पीछे परछाई की दौर प्रयास कर रहे हैं। यह सब विडम्बना है। आशा है आज नही तो कल वे अपने इस पुराने अत्यन्त प्रबुद्ध पारिभाषिक ज्ञान का सहारा लेकर ही अपनी कला को विश्व के सामने रखने मे समर्थ हो सकेंगे।

साहित्य-निबन्धनीय चित्र-कला के इतिहास पर एक सिंहावलोकन

उपोद्घात :—ग्रीक माइथोलोजी में म्यूजज आफ फाइन आर्टस् भूतल पर एक के बाद एक नहीं उतरी। अतः हमारे देश में भी महामाया भगवती सरस्वती तथा महामायिक भगवान् नटराज शिव भी क्या एक के बाद दूसरे स्वर्ग से भूतल पर उतरे ? ताण्डव नृत्य अतिप्राचीन है। काव्य, नाट्य, संगीत भी अतिप्राचीन है। तथैव वास्तु, शिल्प एवं चित्र भी उतने ही प्राचीन हैं। ये ललित कलायें सभ्यता एवं संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। अतः पुरातत्त्वीय उपोद्घात में हमने संकेत किया है कि यह मनोरम-कला चित्र-कला—क्या साहित्यिक क्या पुरातत्त्वीय दोनों स्तरों पर एक प्रकार से समानान्तर सुदूर अतीत से चली आ रही है ? पुरातत्त्व स्तर से इसकी समीक्षोपरान्त, अब हम साहित्यिक-निबन्धनीय इतिहास पर आते हैं इसने अपने अंग्रेजी के ग्रन्थ में जो निम्न थापून प्रस्तुत किया है उसको पाठक एवं विद्वान् दोनों ही अवश्य ही समर्थन करेंगे—

If the savages could work sculpture and build branch-houses, prepare implements, paint the cavewalls (their refuse) and do many other things, painting and allied arts must have been the time-honoured companions in the progress of civilisation throughout the ages.

अस्तु अब हम वैदिक वाङ्मय से प्रारम्भ करते हैं।

वैदिक वाङ्मय—ऋग्वेद की बहुत सी ऋचाओं में चित्र-कला की स्पष्ट भावनायें प्राप्त होती हैं। उपनिषदों में बहुत से ऐसे वाक्य प्राप्त होते हैं जैसे छान्दोग्य में इसी का ४ ४. यहाँ तो यहाँ पर रक्त, शुभ्र, श्याम वर्णों पर यद्यपि उनकी प्रोज्ज्वलता से ऐश्वर्य नहीं परन्तु 'रूप' से है जो कि चित्र-कला का प्रमुख अंग है।

पाली वाङ्मय—विनय-पिटक में वर्णित राजा प्रसेनजित के विलास-भवन में चित्रागारों के बड़े सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं। विनय-पिटक का समय ईशवीय पूर्व तीसरी या चौथी शताब्दी है। संयुत्त-निकाय में पट्ट-चित्रों पर चित्रित पुरुष एवं स्त्री चित्रों के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं। विविध चित्र-प्रकारों पर यह सन्दर्भ अति प्राचीन माना जा सकता है। जातक-साहित्य में भी इस प्रकार के बहुत से सन्दर्भ प्राप्त होते हैं। अब आइये रामायण और महाभारत की ओर।

रामायण एवं महाभारत—आदि-कवि वाल्मीकि-कृत रामायण देखिये

जिस में कोई भी ऐसा विमान, सौध, प्रासाद का वर्णन बिना चित्र-भूषा के नहीं पाया गया है। राज-भवनों के विन्यास में चित्रागार अभिन्न अंग थे। महाभारत में कुमारस्वामी ने लगभग १०० चित्र-सन्दर्भों का सकलन किया है। तारानाथ को इस सम्बन्ध में हम ने इस ग्रन्थ में दो तीन बार स्मरण किया है। तारानाथ तिब्बती इतिहास - लेखक १७वीं शताब्दी में पैदा हुए थे, जिन्हों ने चित्र-कला को अति-प्राचीन माना है अर्थात् देवों की चित्रकला, यक्षों की चित्रकला तथा नागों की चित्रकला।

पुराण—पुराणों में चित्र-कला के सम्बन्ध में असख्य सदर्भ भरे पड़े हैं। पुराणों की चित्र-कला के शास्त्रीय प्रतिपादन में सब से बड़ी देन पुराणों की है। महा-विष्णु-पुराण के विष्णु-धर्मोत्तर के चित्र-सूत्र से सभी कला-विद परिचित हैं।

शिल्प-शास्त्र—शिल्प-शास्त्रीय चित्र-प्रतिपादन में हम इस अध्ययन के प्रथम स्तम्भ में पहले ही सकेत कर चुके हैं। अब आइये कवियों और काव्यों पर। वैसे तो प्रायः सभी नाटकों तथा काव्यों में चित्र-कला के सम्बन्ध में बहुत से सन्दर्भ प्राप्त होते हैं परन्तु कालानुरूप हम केवल कवि-पुगवों को लेते हैं जो निम्नलिखित से विवेच्य हैं :—

१. कालिदास	२. बाणभट्ट	३. दण्डी
४. भवभूति	५. माघ	६. हर्ष-देव
७. राजशेखर	८. श्रीहर्ष	९. धनपाल
१०. सोमेश्वर सूरि		

कालिदास—कालिदास के तीनों नाटकों में तीनों प्रमुख कलाओं का पूर्ण प्रतिबिम्बन प्राप्त होता है। मालविकाग्नि-मित्र नृत्य का, विक्रमोवर्शीय संगीत का तथा अभिज्ञान-शाकुन्तल चित्रकला का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन तीनों नाटकों से उद्धृत निम्न अवतरणों को पढ़िए, जिन से पूरे का पूरा शास्त्र एव तदनुप्राणित कला करामलकवत् दिखाई पड़ती है। चित्राचार्य, चित्रागार, चित्र-प्रकार, वर्तिका-नैपुण्य, चित्र-भूमि-बन्धन, वर्ण-विन्यास, तूलिका-लेखन, छाया-कान्ति, क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त, चित्रों में मुद्रा-विनियोग आदि आदि सभी विषयों पर ये उदाहरण साक्षात् मूर्तिमान् चित्र-विधान के प्रत्यक्ष निदर्शन हैं :—

चित्रशाला

'चित्रशाला गता देवी प्रत्यग्रवर्णरागां चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति'—माल. १

'विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः......प्रासादास्त्वां तुलयितु-मलम्,—मेघ०

चित्राचार्य

'चित्रलेखामाचार्यस्यावलोकयन्ती तिष्ठति'—माल०

चित्र

(क) फलक-चित्र (Portraits) :—

'तेनाष्टौ परिगमिताः समाः कथञ्चिद्बालत्वादवितथसूनृतेन सूनोः ।
सादृश्यप्रतिकृतिदर्शनैः प्रियायाः स्वप्नेषु क्षणिकसमागमोत्सवैश्च,॥'—रघु०

'वाष्पायमाणो बलिमान्निकेतमालेख्यशेषस्य पितुर्विवेश ।'—रघु०

'सखि ! प्रणम भर्तारं, अः पार्श्वतः पृष्ठतः दृश्यते ।'—माल०

(ख) भावगम्य-चित्र :—

'मत्सादृश्यं विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती ।'—अभि०

(ग) याथातथ्य-चित्र :—

'अहो राजर्षेर्वर्तिकानिपुणता । जाने मे सखी अग्रतो वर्तत इति'—अभि०

(घ) प्रकृति-चित्र :—

'कार्या सैकतलीनहंसमिथुना स्रोतोवहा मालिनी
पादास्तामभितो निषण्णहरिणा गौरीगुरोः पावनाः ।
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरोर्निर्मातुमिच्छाम्यधः
शृङ्गे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्' ॥—अभि०

(ङ) पत्रलेखन-चित्र :—

'रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णाम् ।
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य ॥—मेघ०

(च) अंग-लेखन-चित्र :—

'इतः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः सुरद्विपास्फालनकर्कशाङ्गुलौ ।
भुजे शचीपत्रविशेषकाङ्किते स्वनामचिह्नं निचखान सायकम् ॥'

महेन्द्रमास्थाय महोक्षरूपं यः संयति प्राप्तपिनाकिलीलः ।
चकार बाणैरसुरांगनानां गण्डस्थलीः प्रोषितपत्रलेखाः ॥

भूमि-बन्धन (पट्ट-चित्रीय) :—
'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्
आत्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः ॥'—मेघ०

भूमि-बन्धन (कुड्य-चित्रीय)—
चित्रद्विपाः पद्मवनावतीर्णाः करेणुभिर्दत्तमृणालभंगाः ।
नखांकुशाघातविभिन्नकुम्भाः संरब्धसिंहप्रहृतं वहन्ति ॥—रघु०

वर्तना-प्रक्रिया

(अ) भूमि-बन्धन :—
'ततः प्रकोष्ठे हरिचन्दनांकिते प्रमथ्यमानार्णवधीरनादिनीम् ।
रघुः शशांकार्धमुखेन पत्रिणा शरासनज्यामलुनाद्विडौजसः ॥

(ब) प्रण्डकवर्तन एवं मानसिक-कल्पन :—
'चित्रे निवेश्य परिकल्पित सत्वयोगा रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु ।
स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुर्विभुत्वमनुचिन्त्य वपुश्च तस्याः ॥'

तूलिका-उन्मीलन

'उन्मीलितं तूलिकयेव चित्रं सूर्यांशुभिर्भिन्नमिवारविन्दम् ।
बभूव तस्याश्चतुरस्रशोभि वपुर्विभक्तं नवयौवनेन ॥—कुमा० १ ३२

क्षय-वृद्धि-सिद्धान्त

'स्खलतीव मे दृष्टिर्निम्नोन्नतप्रदेशेषु'—अभि० ४

वर्तिका

दे० अभि० शा० 'वर्तिकानिपुणात्' ।
दे० अभि० शा० 'वर्तिकोच्छ्वा स' अंक ६।

चित्र-द्रव्य

देखिये अभि० शा० अ० ६ — 'वर्णिका-करण्ड'—A Colour Box to preserve colours in it.

चित्र-वर्णाः—शुद्ध-वर्णाः

पीतासितारक्तसितैः सुराचलप्रान्तस्थितैर्धातुरजोभिरम्बरम् ।
अयत्नगन्धर्वपुरोदयभ्रम बभार भूम्नोत्पतितैरितस्ततः ॥'—कुमा०
'नेत्रा नीता सततगतिना यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां स्वजलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः ।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वादृशो जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥'—मेघ०
'स्विन्नाङ्गुलिविनिवेशो रेखाप्रान्तेषु दृश्यते मलिनः ।
अश्रु च कपोलपतितं लक्ष्यमिदं वर्तिकोच्छ्वासात् ॥'—अभि०

चित्र-मुद्रा

व्यूहस्थितः किञ्चिदिवोत्तरार्धमुन्नद्धचूडोऽञ्चितसव्यजानुः ।
आकर्णमाकृष्टसबाणधन्वा व्यरोचतास्त्रे स विनीयमानः ॥—रघु० ११.११
'स दक्षिणापाङ्गनिविष्टमुष्टिं नतांसमाकुञ्चितसव्यपादम्' —कु० ३.
तस्य निर्दयरतिश्रमालसाः कण्ठसूत्रमपदिश्य योषितः ।
अध्यशेरत बृहद्भुजान्तरं पीवरस्तनविलुप्तचन्दनम् ॥—रघु० १९.३२

चित्र्यावयव

व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः सालप्रांशुर्महाभुजः ।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः ॥'—रघु० १.१३
युवा युगव्यायतबाहुरंसलः कपाटवक्षाः परिणद्धकन्धरः ।
वपुः प्रकर्षादजयद् गुरुं रघुस्तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत ॥—रघु० ३.३४
वृत्तानुपूर्वे च न चातिदीर्घे जङ्घे शुभे सृष्टवतस्तदीये ।
शेषाङ्गनिर्माणविधौ विधातुर्लावण्यमुत्पाद्य इवास यत्नः ॥—कुमा० १.३५
दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयो-
संक्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ॥

मध्यः पाणिमितो नितम्बिजघनं पादावरालांगुली: ।
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसः श्लिष्टं तथास्या वपुः ॥—माल० २.३

चित्र-प्रतीकावलम्बन

"राजा—वयस्य ! अन्यच्च, शकुन्तलायाः प्रसाधनमभिप्रेतमत्र विस्मृतमस्माभिः ।

विदूषकः—किमिव ?

सानुमती—वनवासस्य सौकुमार्यस्य च यत् सदृशं भविष्यति ।

राजा—कृतं न कर्णार्पितबन्धनं सखे शिरीषमागण्डविलम्बिकेसरम् ।
न वा शरच्चन्द्रमरीचिकोमलं मृणालसूत्रं रचितं स्तनान्तरे ॥—अभि०

'इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'—अभि० १.

'सखि, रोचते ते ऽयं मुक्ताभरणभूषितो
नीलांशुकपरिग्रहोऽभिसारिकावेशः'—विक्र० ७.

'वेणीभूतप्रतनुसलिलासावतीतस्य सिन्धुः ।
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिर्जीर्णपर्णैः ॥

सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया व्यञ्जयन्ती ।
कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः ॥'—मेघ०

'स्वमेव तावत्परिचिन्तय स्वयं कदाचिदेते यदि योगमर्हतः ।
वधूदुकूलं कलहंसलक्षणं गजाजिनं शोणितबिन्दुवर्षि च ॥- कुमा० ५.६७

'आमुक्ताभरणः स्रग्वी हंसचिह्नदुकूलवान् ।
आसीदतिशयप्रेक्ष्यः स राज्यश्रीवधूवरः ॥—रघु० १७.२५

'सुरगज इव दन्तैर्भग्नदैत्यासिधारैर्नय इव पणबन्धव्यक्तयोगैरुपायैः ।
हरिरिव युगदीर्घैर्दोर्भिरंशैस्तदीयैः पतिरवनिपतीनां तैश्चकाशे चतुर्भिः ॥'
—रघु० १०.८६

'वित्तेशानां न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति ।'—मेघ०

'सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्मुक्तमार्गः ।'—मेघ०

'न दुर्वहश्रोणिपयोधरार्ता भिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः ॥—कुमा० १

चित्र-विषय-क्षेत्र-उद्देश्य

'सखि ! सदा ससंभ्रममुत्कण्ठिताहं भर्तुर्दर्शनेन यथा न वितृष्णास्मि

यथाह विभावितश्चित्रगतदर्शनो भर्ता ।'—माल० ४

'अये ! अनुपयुक्तभूषणोऽयं जनश्चित्रकर्मपरिचयेनाङ्गेषु ते आभरण-विनियोगं करोति ।''—अभि० ४

'प्रतिकृतिरचनाभ्यो दूतिसंदर्शिताभ्यः समधिकतररूपाः शुद्धसंतानकामैः ।
'अधिविविदुरमात्यैराहृतास्तस्य यूनः प्रथमपरिगृहीते श्रीभुवौ राजकन्याः ।''
—रघु० १८ ५३

चित्र-दर्शन (Philosophy of the Fine Arts)

'यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा ।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम् ॥'—अभि०
'चित्रगतायामस्यां कान्तिविसंवादशङ्कि मे हृदयम् ।
सम्प्रति शिथिलसमाधिं मन्ये येनेयमालिखिता ॥'—माल० २.
'पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः ।
जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य ॥'—माल० १

बाण-भट्ट

हमने अपने इस अध्ययन में पहले ही लिख दिया है कि 'बाणोच्छिष्टं जगत्-सर्वम्' का क्या अर्थ है ? बाण-विरचिता दिव्या कादम्बरी तथा उसकी हर्षचरित—इन दोनों महाकाव्यों में चित्रों का विकास पद पद पर दिखाई पड़ता है । बाण का वर्ण-चित्रण, वर्ण-भेद शिल्प-रत्न के निम्न उद्घोष का पूर्ण प्रमाण है :—

'जंगमाः स्थावरा वा ये सन्ति भुवनत्रये ।
तत्तत्स्वभावतस्तेषां करणं चित्रमुच्यते ॥'

बाण-भट्ट ने अपनी जीवनी पर (देखिये ह. च.) जो लिखा है, उसमें बाण के साथियों की तालिका देखिये, उसमें चित्रकृद्वीर-वर्मा का उल्लेख है । अतः उनका पर्यटन बिना चित्रकार के पूर्ण नहीं था ।

बाण-भट्ट के राज-भवनों के वर्णन में जो चित्र-शालायें वर्णित हैं, वे विमान-भित्तियों पर निर्मित प्रतीत होती हैं । नारद-शिल्प में जो चित्र-शाला का [illegible] विवेचन है, उसी के आधार पर ये विभाज्य हैं । चित्र-शालाओं को [illegible] लिए न चित्र-विषय, चित्र-प्रकार, भूमि-बन्धन, द्रव्य-[illegible], वर्तु-

विन्यास आदि आदि सभी शास्त्रीय सिद्धान्त मूर्तिमान् दिखाई पड़ते हैं :

चित्र-शाला-निर्माण

'सुरासुरसिद्धगन्धर्वविद्याधरोरगाध्यासिताभिश्चित्रशालाभिः
.........दिव्यविमानपङ्क्तिभिरिवालङ्कृता ।'—का. पृ. ६६

चित्र-शिल्पाचार्य

'सकलदेशादिश्यमानशिल्पिसार्थागममम् ।'—ह. च. १४२
'सितकुसुमविलेपनवसनसत्कृतैःसूत्रधारैः ।'—ह. च. १४२

चित्र-प्रकार

कुड्य—'विमलेखादर्शितविविधसकलत्रिभुवनाकाराम् '—का. १७६
'आलेख्यगृहैरिव बहुवर्णचित्रपत्रशकुनिशतसशोभितैः'—का २४७
'प्रविवेश च द्वारपक्षलिखितरतिपतिदैवतम् ।'—ह. १४८
'भुक्तया वासभवने चित्रभित्तिचामरग्राहिण्योऽपि चामराणि चालयाञ्चक्रुः ।'
—ह १२७
'आलेख्यक्षितिपतिभिरप्यप्रणतैः ततप्रणतचरणौ ।'—ह. ११६
'दिवसावसानेषु—चित्रभित्तिविलिखितानि चक्रवाकमिथुनानि ॥'—का. ४४६

फलक: (Portraits) :—
प्रत्यग्रलिखितमङ्गल्यालेख्योज्ज्वलितभित्तिभागमनोहराणि' ।—का. ११६
'चतुरचित्रकरचक्रवालिख्यमानमङ्गल्यालेख्यम् ॥—ह. १४२
'चित्रावशेषाकृतौ काम्यदोषनाम्नि नरनाथे ।'—ह. १७५
'प्रविशन्नेव—चित्रवति पटे—कथयन्तं यमपट्टिक ददर्श'—ह. १११

पट-चित्र :—
'वासभवने मे शिरोभागनिहितः कामदेवपटः पाटनीयः ।'—का. ३३६

पट्ट-चित्र :—
'यमपट्टिका इवाम्बरे चित्रमालिखन्त्युद्गीतकाः ।'—ह. ११५

शिला-चित्र :—
'अत्र च स्नानार्थमागतया—विलिखितानि+त्र्यम्बकप्रतिबिम्बकानि
वन्दमाना ।'—का. ३६१

चित्र-द्रव्य-वर्ण-कूर्चक

वर्तिका—कालाञ्जन-वर्तिका :—

रूपोलेख्योन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका ।'—का. ४५५

धर्णसुधाकूर्चकैरिव करैर्धवलितदशाशामुखे चन्द्रमसि ।'—का ५२७

कूर्चक — 'इन्दुकरकूर्चकैरिवाक्षालिताम् ।'—का २४६

वर्ण-शुद्ध-कूर्चक :—'वही' ।

तूलिका :—'प्रवलम्बमानतूलिकालावु कांश्च...''—ह. २१०

वर्ण-पात्र (वर्ण-करण्डक) :—'अलावु' ।

चित्र-प्रक्रिया-आधार—भूमि-बन्धन

कुड्य-भूमि-बन्धन :—

'उत्थापिताभिनवभित्तिपात्यमानबहलवालुकाककण्ठकालेपाकुलाले-पकलोकम् ।'—ह १४२

'करकूर्चकैश्च सुधाकर्परस्कन्धैरधिरोहिणीसमारूढैर्धवलीक्रियमाणप्रासाद-प्रतोलीप्राकाराशिखरम् ।'—ह

चित्र-फलक-बन्धन :—

'आलिखिता चित्रफलके भूमिपालप्रतिबिम्बम्'—का १७२

प्रमाण एवं अण्डक-वर्तन :—

'वत्सस्य यौवनारम्भसूत्रपातेरखा ।'—का ४६६

छाया-कान्ति—चित्रोन्मीलन

'रूपालेख्योन्मीलनकालाञ्जनवर्तिका ।' —का. ४५५

'प्रातश्च तदुन्मीलित चित्रमिव चन्द्रापीडशरीरमवलोक्य ।'—का. ५४८

पत्र-लेखनादि :—

'उभयतश्च—पुरःप्रवर्गेण समधिष्ठितम् ।'—१४३

'बहुविधवर्णवर्त्तिकादिग्धांगुलीभिर्ग्रीवामूत्राणि च—समन्तात्सामन्तसीमन्तिनी-भिर्व्याप्तम्—ह. १४३

चित्र-वर्ण-विन्यास-बाहुल्य

मूल-वर्ण—शुद्ध-वर्ण —

शुभ्र-वर्ण :—'हरितालकैसावदातदेह'

'हंसधवला धरण्यामपतज्ज्योत्सना'

'हिमकरसरसि विकचपुण्डरीकसिते'

'अभिनवसितसिन्दुवारकुसुमपाण्डुरैः'

'कर्णिकारगौरेण बोधकञ्चुकञ्छन्नवपुषा'

'बकुलसुरभिनि श्वसितया चम्पकावदातया'

'दन्तपाण्डरपादे शशिमय इव'

'पीयूषफेनपटलपाण्डरेण'

'शङ्खक्षीरफेनपटलपाण्डरम्'

'विकचकेतकीगर्भपत्रपाण्डुर रजःसघातम्'

रक्त-वर्ण :—

'तस्य चाधरदीधितयो विकसितबन्धूकवनराजय.'

'कुङ्कुमपिञ्जरितपृष्ठस्य चरणयुगलस्य'

'कुसुम्भरागपाटल पुलकबन्धचित्रम्'

'रुधिरकुतूहलिकेसरिविशोरकलिह्यमानकठोरघातकीस्तबके'

'लोहितायमानमन्दारसिन्दूरसीम्नि'

'माञ्जिष्ठरागलोहिते किरणजाले'

'बालातपपिञ्जरा इव रजन्यः'

'पारावतपादपाटलरागः'

हरित-वर्ण :—

'शुकहरितैः कदलीवनैः'

'मरकतहरितानां कदलीवनानाम्'

'तरुणतरतमालश्यामले'

भूरा (gray) वर्ण :—

'कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा—धूमपटलेनेव'

'रासभरोमधूसरासु'

'वनदेवताप्रासादानां तरूणां—तपोवनाग्निहोत्रधूमलेखासु'

'कपोतकण्ठकर्बुरे—तिमिरे'

'धूकरोदरधूसरे रजसि'

भूरा (brown) वर्ण :—

'गोरोचनाकपिलद्युतिः'

'हरितालकपिलपक्ववेणुविटपरचितवृतिभिः।'

'सन्ध्यानुबन्धताम्रे परिणततालफलत्विषि कालमेघमे दुरे'

'धूसरोत्तरुं क्रमेलककण्ठकपिलाः पांसुवृष्टयः'

'गोधूमधामाभिः स्थलीपृष्ठैरधिष्ठिता'

श्याम-वर्ण :—

'अरण्यमहिषमषीमलीमसि तमसि'

'गोलाङ्गूलकपोलकालकायलोम्नि नीलसिन्धुवारवर्णे वाजिनि'

'चापपक्षत्विषि तमस्युदिते'

शबल-वर्ण :—

'आचममतशुचिरुचोऽतिमुच्यमानार्धनकुसुमनिकरधारम्'

'आभरणप्रभाजालजायमानानीन्द्रधनुःसहस्राणि।'

'पादविहाराकृराज्ञमापनिकरकिर्मीरितैरथ'

'धवलराङ्कवचर्मपटपीडितेन'

'तिर्यङ् नीलधवलांशुकशाराम्।'

मिश्र-वर्ण—अन्तरित वर्ण :—

स्कन्धदेशावलम्बिना कृष्णाजिनेन नीलपाण्डुभासा तपस्तृष्णानिपीतेनान्तर्निपतता धूमपटलेनेव परीतमूर्तिः'

'सरस्वत्यपि दान्ता किञ्चिदधोमुखी धवलकृष्णशारा दृष्टिमुरसि पातयन्ती'

'आकुलाकुलकाकपक्षधारिणा कनकशलाकानिर्मितमप्यन्तरगततुकप्रभाश्यामायमान मरकतमयमिव पञ्जरमुद्वहता चाण्डालदारकेणानुगम्यमानम्'

'आमत्तकोकिललोचनच्छविर्नीलपाटलः कषायमधुरः प्रकाममापीतो जम्बूफलरसः'

शरीरामय—चित्रवर्ण (anatomical delineation) :—

मधुः मुरङ्गकैर्घोणावश वराहैः स्कन्धपीठ महिषैः प्रकोष्ठबन्ध व्याघ्रैः पराक्रम केसरिभिर्नमन—माधवगुप्तम्

'सद्य एव कुन्तली किरीटी कुण्डली हारी केयूरी मेखली मुद्गरी स्रगी च मूल्यावाप विद्याधररत्वम्'

'देवताप्रणामेषु मध्यभागभङ्गो नातिविस्मयकर'

'भङ्गभङ्गवलनान्योन्यघटितोत्तानकरवेणिकाभिः'

दण्डिन

दशकुमार-चरित्र का निम्न वाक्य पढिए, जिस में भूमि-बन्धन और वर्ण-विन्यास का प्रतिबिम्बन प्रत्यक्ष है :—

मणिसमुद्गात् वर्णवर्तिका मुद्धृत्य ....

—दश० च० उ० २

भवभूति

भवभूति के उत्तर-राम-चरित मे प्राकृतिक चित्रों की भरमार है । हमें ऐसा प्रतीत होता है कि Landscape Artist के लिए जो Principles of Perspective विशेष महत्व रखते हैं, उनके पूर्ण प्रतिबिम्ब यहा पर दिखाई पड़ते हैं । उदाहरण के लिए श्रृंगवेर पुर के निकट इङ्गुदी—पादप का वर्णन, भागीरथी गगा का वर्णन, चित्रकूट के मार्ग पर स्थित श्याम वट-वृक्ष का वर्णन, प्रस्रवण-पर्वत का भव्य वर्णन, पञ्चवटी की पृष्ठ-भूमि पर शूर्पणखा के चित्र का विलास-वर्णन, पम्पा-सरोवर के वर्णन—ये सब वर्णन एक-मात्र काव्य-मय नही हैं, ये पूरे के पूरे चित्र-मय हैं ।

माघ

माघ को तो कालिदास और भवभूति से भी बढ़कर पण्डित-मण्डली ने जो निम्न युक्ति से परिकल्पित किया है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

यह ठीक है या नही ? परन्तु इन के विरचित शिशुपाल-वध के तृतीय सर्ग के ३६वें श्लोक को पढ़िए, जिस में भूमिबन्धन के लिए कितना सुन्दर मार्मिक विधान है । अतिस्तरुणता अर्थात् बहुत चमकता चिकना एवं आलेख्य धर्म के लिए भूमि-बन्धन समीचीन नही—

यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।
चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बिताग सजीव चित्रा इव रत्नभित्तीः ।।

हर्षदेव—हर्षवधन

इन के तीनों नाटक-नाटिकाओं—नागानन्द, रत्नावली, प्रियदर्शिका से सभी परिचित ही हैं। बाण के 'अलाबु' कालिदास के वर्णिका-करण्डक का हम उल्लेख कर ही चुके हैं। हर्षदेव की रत्नावली को पढ़िए :—

"गृहीतिसमुद्गकचित्रफलवर्तिका"

इस मे षड्-चित्रांगो मे वर्ण-पात्र, चित्र-फलक तथा चित्र-लेखनी इन तीनों पर पूर्ण प्रकाश प्राप्त होता है।

राजशेखर

राजशेखर की काव्य-मीमांसा मे विशेष कर उनके बाल-भारत मे निर्दशासर इस सन्दर्भ मे चित्र-वर्ण-रसायन पर बड़ा ही पारिभाषिक वैशिष्ट्य प्रतीत होता है। अब आइये श्रीहर्ष की ओर—

श्रीहर्ष का समय ११वीं तथा १२वीं शताब्दी

उत्तर-मध्यकालीन-चित्रकला का साहित्यिक-निबन्धन इतिहास उद्दाम तथा तीव्र गति से उल्लसित प्रस्तुत करता हैं। चित्र-कला मे वर्ण-विन्यास को अक्षर-विन्यास मे जो परावर्तन प्रारम्भ हुआ, यह श्रीहर्ष के नैषधीय-चरित महाकाव्य के निम्नलिखित सदर्भो मे प्राप्त होता है। यहा पर 'ॐ' इस शब्द के दोनो दल बिन्दु तथा अर्धचन्द्र—चारो के साथ दमयन्ती के दोनो भौहो (दोनो दल), तिलक (बिन्दु), अर्द्ध-चन्द्र वीणाकोण से तुलना की गई है। इसी प्रकार इस निम्नोद्धृत श्लोक मे विसर्ग की कितनी सुन्दर समीक्षा एवं तुलना है :—

शृ गवद्बालवत्सस्य बालिकाकुचयुग्मवत
नेत्रवत्कृष्णसर्पस्य ■ विसर्ग इति स्मृतः ।

अब हम चित्र-शास्त्रीय-सिद्धान्तो तथा चित्र प्रक्रिया की पृष्ठ-भूमि मे नैषध के नाना उद्धरणो को पेश करते हैं, जिनमे चित्र-प्रकार, चित्र प्रक्रिया, विशेष कर मान—प्रमाण, अण्डक-कर्म, चित्र-वर्ण, वर्ण-विन्यास एव शरीरावयव—मुख, नासा, चिबुक, कर्ण, ग्रीवा, केश, नितम्ब, गुल्फ, एड़ी तथा अगुलिया—

सभी पर बड़े ही प्रौढ़ वर्णन प्राप्त होते हैं। श्री हर्ष के इन निदर्शनों में सबसे बड़ी विशेषता वल-चित्रकारी, मुद्रा-भंगिमा विशेष सूच्य हैं।

चित्र प्रकार

कुड्य-चित्र—'ते तत्र भैम्याश्चरितानि चित्रे चित्राणि पौरैः पुरि लेखितानि।
निरीक्ष्य निन्युर्दिवस निशां च सस्वप्नसंभोगकलाविलासैः ॥१०.३५॥

द्वार-चित्र—पुरि पथि द्वारगृहाणि तत्र चित्रीकृतान्युत्सववाञ्छयेव।
नभोऽपि किर्मीरमकारि तेषां महीभुजामाभरणप्रभाभिः ॥१०.३१॥

प्रेमी-प्रेमिका-चित्र—प्रियं प्रिया च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीला गृहभित्तिकावपि।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते। ।१.३८॥

चित्रमें योज्यायोज्य

'भित्तिचित्रलिखिताखिलक्रमा यत्र तस्थुरितिहाससंकथाः।
पद्मनन्दसुतारिरसुतामन्दसाहससहस्रमनोभुवः' ॥१८.२०॥

वर्तना

सूत्रपात-लेखा—गौरीव पत्या सुभगा कदाचित्कर्त्रेयमप्यर्धतनूसमस्याम्।
इतीव मध्ये विदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्याः ॥७.८३॥

अपाङ्गमालिङ्ग्य तदीयमुच्चकैरदीपि रेखाजनिताञ्जनेन या।
अपापि सूत्रं तदिव द्वितीयया वयः श्रिया वर्धयितुं विलोचने ॥११.३४॥

हस्त-लेखा—पुराकृतिःस्त्रैणमिमां विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः।
येयं भवद्भावि पुरन्ध्रिसृष्टिः सास्यै यशस्तज्जयजं प्रदातुम्' ॥७.१५॥

अस्यैव सर्गाय भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः।
इत्याह धाता हरिणेक्षणायां किं हस्तलेखीकृतया तयास्याम् ॥७.७२॥

हस्तलेखमसृजत् खलु जन्मस्थानरेणुकमसौ भवदर्थम्।
राम रामधरीकृततत्तल्लेखकः प्रथममेव विधाता ॥२१.६६॥

वर्ण-विन्यास

चार मूल रंग—'विरहपाण्डिम. राग, तमोमषीशितम तन्निजपीतिम वर्णकैः
दश दिशः सनु तद्गुणरूपर्यालपिकरी नलरूपकचित्रिताः ॥४.११॥

'पीतावदातारुणनीलभासा देहोपदेहात्किरणैर्मणीनाम् ।
गोरोचनाचन्दनकुंकुमैणनाभीविलेपान्पुनरुक्तयन्तीम् ॥१०.९७॥
विभिन्न मिश्र वर्ण—न्यस्य मन्त्रिषु स राज्यमादरादारराध मदनं प्रियासखः।
नैकवर्णमणिकोटिकुट्टिम हेमभूमिभृति सौधभूधरे ॥८.३॥
वर्ण-विन्यास—'स्थितिशालिसमस्तवर्णता न कथं चित्रमयी बिभर्तु या ।
स्वरभेदमुपैतु या कथं कलितानल्पमुखारवा न वा ॥२.६८॥

शरीरावयवज्ञान

ऋणीकृता किं हरिणीभिरासीदस्या सकाशान्नयनद्वयश्रीः ।
भूयोगुणेयं सकला बलाद्यत्ताभ्योऽनयाऽलभ्यत विभ्यतीभ्यः ॥
नासीदमीया तिलपुष्पतूणं जगत्त्रयव्यस्तशरत्रयस्य ।
श्वासानिलामोदभरानुमेया दधद्द्विबाणी कुसुमायुधस्य ॥
बन्धूकबन्धूभवदेतदस्य मुखेन्दुनानेन सहोज्जिहाना ।
रागश्रिया शैशवयौवनीया स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥
विनोदितास्या मुखमुन्नमय्य किं वेधसेयं सुषमासमाप्तौ ।
धृतुद्भवा यच्चिबुके चकास्ति निम्ने मनागङ्गुलियन्त्रणेव ॥
इहाविशद्येन पथातिवक्रः शास्त्रौघनिष्यन्दसुधाप्रवाहः ।
सोऽस्याः श्रवः पत्रयुगे प्रणालीरेखेव धावत्यभिकर्णकूपम् ॥
ग्रीवाद्भुतैवावटुशोभितापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।
आलिंग्यतामप्यवलम्बमाना सुरूपताभागाखिलोर्ध्वकाया ॥
कविश्वगानाप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता व्यधिताधिकण्ठम् ।
रेखात्रयन्यासमिषादमीषां वासाय सोऽयं विबभाज सीमाः ।
रज्यन्नखस्याङ्गुलिपञ्चकस्य मिषादसौ हैठेलपद्मतूणं ॥
हैमैकपुङ्ख्यास्ति विशुद्धपर्वं प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ।
यत्नेन विश्वे युधि मत्स्यकेतुः पितुर्जितं वीक्ष्य सुदर्शनेन ।
जगज्जिगीषत्यमुना नितम्बमयेन किं दुर्लभदर्शनेन ॥
भूचित्रलेखा च तिलोत्तमास्या नाशा च रम्भा च यदूरुसृष्टिः ।
दृष्टा ततः पूरयतीयमेकानेनकाप्सरः प्रेक्षणकौतुकानि ॥
यानेन तन्व्या जितदन्तिनायौ पादानराजौ परसुद्धपार्ष्णी ।
जाने न शुभूर्षयितुं स्वमिच्छू नतेन मूर्ध्ना कतरस्य राज्ञः ॥

एष्वपि यावद्भ्रमणनाहिमन्तान्नृपाः स्मरार्ताः शरणं प्रवेष्टुम् ।
इमे पदारत्ने विधिनापि सृष्टास्तावस्य एवाशु स गोऽत्र लेखः ॥
प्रियानखीभूतवतो मुदेव व्ययाद्विधिः साधुदलत्वमिन्दोः ।
एतत्पदच्छद्मसरागपद्मसौभाग्य रूपमन्यथा स्यात् ॥

तल-चित्र (Mosaic Floor-painting)

क्वचित् कनकनिर्मितालिखः क्वापि यो विमलरत्नजः किल ।
क्वचिद्रचितचित्रशालिकः क्वापि वारिस्फरविर्धन्द्रजालिकः ॥'—१८.११

पत्र-भंग-चित्रण

स्तनद्वये तन्वि परं तथैव पृथौ यदि प्राप्स्यति नैषधस्य ।
अनल्पवैदग्ध्यविवर्धिनीनां पत्रलता समाप्तिम् ॥"—३.११८

हस्त-लेख

दलोदरे काञ्चनकेतकस्य क्षणान्मसीभावुकवर्णलेखम् ।
तस्यैव यत्र स्वमनङ्गलेखं लिलेख भैमीनखलेखिनीभिः ॥३ ६२

चित्र-मुद्रा

पयोद्गता पीवरताधिजंघ वृक्षाधिरूढे विदुषी किमस्याः ।
अपि भ्रमीभंगिभिरावृताङ्ग वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥—७.६७

चित्रकार

'चित्रतत्तदनुकार्यविभ्रमाध्यापनेन विधिरूपकल्पनम् ।
चीरप यद्‌ मुक्तिशरो जरायातकी विधिरवलिप शिल्पिराट् ॥—१८.१२

सोमेश्वर-सूरि—इन के यशस्तिलक-चम्पू में न केवल चित्र-शास्त्रीय सिद्धान्तों एवं प्रक्रियाओं का ही पूर्ण प्रोत्साह प्राप्त होता है, वरन् जिस प्रकार बाण की रचनाओं से तत्कालीन चित्र-कला-सेवन एक प्रकार से दैनिक-चर्या थी, उसी प्रकार 'यशस्तिलक' के पन्नों में तत्कालीन चित्र-कला के सामाजिक, वैयक्तिक एवं गार्हस्थ्य सेवन पर भी पूरा प्रकाश प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में चित्र-कला का एक नया विकास प्रारम्भ पाया जाता है, जिसको हम पत्रलेखन की संज्ञा से पुकार सकते हैं। पत्रलेखन से तात्पर्य लता-विच्छित्ति-चित्रण है जो नरों, नारियों, पशुओं एवं पक्षियों के अंगों पर चित्रणीय है। कालिदास ने ही सबसे पहले इस

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

द्वितीय पटल

राज-निवेश एवं राज-उपकरण

तृतीय पटल

शयनासन

चतुर्थ पटल

यन्त्र-घटना

पंचम पटल

चित्र-लक्षण

षष्ठ पटल

चित्र एवं प्रतिमा—दोनों के सामान्य अङ्ग

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

१. वेदी
२. पीठ

विषयानुक्रमणी—शेषांश

द्वितीय खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

द्वितीय पटल

राज-निवेश एवं राज-उपकरण

तृतीय पटल

शयनासन

चतुर्थ पटल

यन्त्र-घटना

पचम पटल

चित्र-लक्षण

षष्ठ पटल

चित्र एवं प्रतिमा—दोनों के सामान्य अङ्ग

प्रथम पटल

प्रारम्भिका

१. वेदी
२. पीठ

विषयानुक्रमणी—शेषांश

वेदी-लक्षण

वेदिया चार है जो पुरा ब्रह्मा के द्वारा कही गयी है उन्ही का अब हम नाम, संस्थान और मान से वर्णन करते है ॥१॥

पहली चतुरश्रा, दूसरी सर्वभद्रा, तीसरी श्रीधरी और चौथी पद्मिनी नाम से स्मृत की गई है ॥२॥

यज्ञ के अवसर पर, विवाह मे और देवताओ की स्थापनाओ, सब नीराजनो मे तथा नित्य-बलि-होम मे, राजा के अभिषेक मे और शक्रध्वज के निवेशन मे राजा के योग्य ये बतायी गयी है और वर्णों के लिये भी यथाक्रम समझनी चाहिये ॥३-४॥

चतुरश्रा वेदी चारो तरफ से नौ हाथ होती है। आठ हस्त के प्रमाण से सर्वभद्रा बतायी गई है। श्रीधरी वेदी का मान सात हाथ समझना चाहिए और शास्त्रज्ञो ने नलिनी नाम की वेदी का छह हाथ का विधान किया है ॥५-६॥

चतुरश्रा वेदी को चारो ओर चौकोर बनाना चाहिए और सर्वभद्रा को चारो दिशाओ मे भद्रो से सुशोभित करना चाहिए, श्रीधरी को बीस कोनो से युक्त समझना चाहिये और नलिनी यथानाम पद्म के संस्थान को धारण करने वाली समझना चाहिये। अपने अपने विस्तार के तीन भागो से उन सब की उचाई करनी चाहिये तथा मन्त्र-पुरस्सर इष्टकाओ के द्वारा उन का चयन करना चाहिए ॥७-१०॥

यज्ञ के अवसर पर चतुरश्रा, विवाह मे श्रीधरी, देवता के स्थापन मे सर्वभद्रा वेदी का निवेश करना चाहिए। अग्नि-कार्य-सहित नीराजन मे तथा राज्याभिषेक मे पद्मावती वेदी कही गई है और शक्रध्वज-उत्थान मे भी इसी का विधान है ॥११॥

चतुर्मुखी वेदी का विशेष यह है कि चारो दिशाओ मे सोपानो से चतुर्मुखी बनाना चाहिए। उसे प्रतीहारो से युक्त और अर्धचन्द्रो से उपशोभित चार स्तम्भो से युक्त, चार घडो से शोभित तथा सुवर्ण, रजत, ताम्र अथवा मृत्तिका मे बने हुए कलशो से सुशोभित करना चाहिए। और वे घडे प्रत्येक कोन

पर सुंदर वानरों के चित्रों से भूषित विन्यस्त करना चाहिए। वेदियों के स्तम्भों का प्रमाण छाद्य (छप्पर) के अनुकूल करना चाहिए ॥१२-१४॥

एक, दो अथवा तीन आमलसारक छाद्य के द्वारा स्तम्भ के मूल भागों को गुड, शहद अथवा घृत से चिकना कर अथवा श्रेष्ठ अन्न से चिकना कर उनका यथास्थान विन्यास करें। पुनः देवताओं की पूजा कर के ब्राह्मणों से स्वस्ति-वाचन करवाना चाहिये ॥१५-१६॥

वेदिका का लक्षण जो चार प्रकार का यहाँ बताया गया है वह सारा का सारा जिस स्थपति के मन में वर्तमान होता है, वह संसार में पूजित होता है और राजा की सभा में स्थपति शोभा को प्राप्त करता है और उसका शुभ्र यश फैलता है ॥१७॥

पीठ-मान

अब देवो के और मनुष्यो के पीठ का प्रमाण कहा जाता है। एक भाग की ऊचाई वाला पीठ कनिष्ठ (छोटा) पीठ, डेढ भाग वाला मध्यम और दो भाग की ऊचाई वाला उत्तम—इस प्रकार पीठ की ऊचाई कही गई है ॥१-२½॥

महेश्वर, विष्णु और ब्रह्मा का पीठ उत्तम होना चाहिए और अन्य देवो का पीठ बुद्धिमान के द्वारा वैसा नही करना चाहिए और ईश्वर का (राजा का) पीठ इच्छानुसार विचक्षण स्थपतियो के द्वारा बनाना चाहिये ॥२½-३॥

जिस पीठ पर ब्रह्मा और विष्णु का निवेश करना चाहिए वहा सब जगह ईश्वर का निवेश किया जा सकता है। ऐसा करने पर दोष नही और देवो की पीठ की ऊचाई एक भाग मे प्रकल्पित है। जिस का जिस विभाग से वास्तु मान विहित है उसका उसी भाग से पीठ की ऊचाई भी करनी चाहिए। मनुष्यो के घरो के पीठ देव पीठो के तुल्य बराबर) करने चाहिए अथवा देवो के पीठ अधिक करने पर देवता लोग वृद्धि करते है ॥३-७½॥

पुर के मध्य भाग म ब्रह्मा जी का उत्तम मन्दिर निर्माण करना चाहिए उसको चतुंर्मुख बनाना चाहिए जिस से वह सब पुर को देख सके। सब वेश्मो से तथा राज-प्रासाद से भी उसे बडा बनाना चाहिए ॥७½-८॥

और देव—मन्दिरो से राज-प्रासाद अधिक भी प्रशस्त कहा गया है क्योकि लोकपालो मे श्रेष्ठतम पाचवा लोकपाल राजा कहा गया है ॥९॥

इस प्रकार मैं देवो के इन सपूर्ण पीठो का वर्णन किया गया। अब ब्राह्मणादि के क्रम मे चारो वर्णों के पीठो का वर्णन करता हू ॥१०॥

३६ अगुल की ऊचाई का पीठ ब्राह्मण के लिये प्रशस्त कहा गया है और अन्य वर्णों के पीठ चार चार अगुल से छोटे हो ॥११।

चारो वर्णों के पीठो और गृहो को विप्र भोग करता है और तीन वर्णों का क्षत्रिय, दो का वैश्य और शूद्र केवल अपने पीठ का भोग करता है ॥१२॥

इस प्रकार पीठो का विभाग गृह-स्वामी का कल्याण चाहता हुआ और राजा की समृद्धि के लिए स्थपति परिकल्पित करें ॥१३॥

प्रमाण के अनुसार स्थापित किये गये देव पूजा के योग्य होते हैं ॥१३३॥

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर तथा अन्य देवों के पीठों का जो नियत प्रमाण कहा गया है वह सब वर्णित किया गया। तदनन्तर विप्र आदि वर्णों का भी पीठ-प्रमाण बताया गया। इस लिए कल्याण चाहने वाले स्थपतियों के द्वारा उस संपूर्ण पीठ-मान की योजना करनी चाहिए ॥१४॥

द्वितीय पटल

१ राज-निवेश

२ राज-भवन

राज-निवेश

चौसठ पद पर प्रतिष्ठित पुर निवेश यथाविधान, यथाङ्गोपाङ्ग का विधान करने पर अर्थात् यहा पर परिखाओ, प्राकारो, गोपुरो, अट्टालको के निर्माण करने पर, गलियो का विभाग तथा चारो ओर चबूतरो का विभाग कर लेने पर और क्रमशः अन्दर और बाहर बताए हुए देवताओ की स्थापना करने पर पूर्व दिशा मे जल बहुल प्रदेश मे अथवा पूर्व मे आगे के दरवाजे के उन्नत प्रदेश पर यश, श्री, विजय वाले मंत्र-पद-अधिष्ठित यथा-वर्णक्रमायात समान चारो कोने वाले शुभ पुर के मध्य भाग से ऊपर दिशा मे स्थित राजा के महल को बनाना चाहिये । १-४ ।

दुर्गों मे राज-महल ऊपर दिशाओ मे भी अथवा जहा उचित भू-प्रदेश प्राप्त हो वहा निविष्ट किया जा सकता है और वहा पर विवस्वत, भूधर अथवा अर्यमा के किसी अन्यतम निर्दिष्ट पद निवेश विहित माना गया है ।।५।।

दो सौ तैंतालीस चापो से युक्त पद मे ज्येष्ठ प्रासाद कहा गया है और मध्यम प्रासाद एक सौ बासठ और अन्तिम एक सौ आठ का होता है ।।६।

ज्येष्ठ पुर मे ज्येष्ठ राज-निवेश का विधान है मध्यम मे मध्यम और छोटे मे छोटा है ।।७।

यह राज-भाग पर आश्रित होता है और इस के वास्तु द्वार का मुख पूर्व की ओर होता है। चारो ओर प्राका ो एव परिखाओ से रक्षित, सुन्दर क ति वाले, अङ्कभ्रमो, नियूंहो अर्थात् भवन विच्छित्तियो एव सुदृढ अट्टालको से युक्त इक्यासी पदो से विभक्त नृप-मन्दिर का निर्माण करना चाहिए। इसी युक्ति से अन्य दिशाओ मे आश्रित पदो पर निर्माण करना चाहिये, इसका गोपुर-द्वार भल्लाट-पद-वर्ती इष्ट माना गया है ।।८-१०।

उस पुर के द्वार के विस्तार की ऊंचाई के समान कल्याणकारी महेन्द्र-द्वार महीधर शेष भाग पर निवेश्य कहा गया है।वैवस्वत मे पुष्पदन्त, अर्यमा मे गृहक्षत, और दूसरे प्रदक्षिण पदो मे अपरक्त इसी प्रकार से अन्य दूसरे अपनी अपनी दिशाओ मे द्वारो का निर्माण करना चाहिए। सब मे अभिमुख होने पर ये सब गोपुर-द्वार प्रशस्त कहे गये है। ११-१३॥

उन नगर द्वारो मे बीस अशो को छोडकर सुग्रीव, जयन्त और मुख्य के पदो पर पक्ष-द्वारो का निर्माण करना चाहिए। अथ च उसी प्रकार से वितथ मे प्रदक्षिण भ्रमो का निर्माण करना चाहिए ॥१४–१५½।

देवताओ के पद-समूहो मे पुर के समान वास्तु-पद के विभक्त होने पर मैत्र पद पर राजा के निवेश के लिए पूर्व-मुख प्रमुख पृथ्वी–जय प्रासाद का यथावत निवेश करना चाहिये ॥१५½-१६॥

श्रीवृक्ष, सर्वतोभद्र, अथवा मुक्तकोण इनमें से जिस किसी को राजा चाहे उस शुभ–लक्षण राज-प्रासाद का निर्माण करावे ॥१७॥

अब आइये नाना-विध राज-प्रासाद-निवेशो का सविस्तर वर्णन किया जाता है। शालायें एव कर्म-चारियो के अपने अपने पृथक् पृथक् निवेशो के साथ राज-गृह निवश्य होता है। प्राची दिशा मे आदित्य भगवान् सूर्य्य के पद से सश्रित राज-गृह होता है। मत्य मे धर्माधिकरण-व्यवहार-निरीक्षण का न्यास विहित है और मृग मे कोष्ठागार और अम्बर मे मृग एव पक्षियो का निवास बताया गया है ॥१८–१९ ॥

अग्नि की दिशा मे प्रारम्भ कर वायु की दिशा की ओर रसोई, पूषा मे सभाजनाश्रय तथा भोजन-स्थान का निवेश बताया गया है ॥२०॥

माविन्य मे वाद्यशाला और सविता मे बन्दि-गणो का निवास बताया गया है। वितथ मे चर्मों का एव उसके योग्य अस्त्रो का विधान विहित है। सोना, चादी के कामो का गृहक्षत मे निवेश करना चाहिए। दक्षिण दिशा मे गुप्त कोष्ठागार बनाना चाहिये ॥२१–२२॥

प्रेक्षा-सगीत और वास-वेश्म गन्धर्व मे स्थापित करने चाहिए। रथ-शाला और हस्ति-शाला का निर्माण वैवस्वत मे करना चाहिए ॥२३॥

पश्चिमोत्तर भाग मे वापी का निर्माण करना चाहिए ॥२४½॥

गन्धर्व के बाहर वायु और सुग्रीव के पदो मे प्राकार के वलय से आवृत अन्त पुर का स्थान बनाना चाहिए। अथच अन्त पुर के गोपुर-द्वार का निवेश जय पर तथा उसका मुख उत्तराभिमुखीन बनाना चाहिए। भृङ्ग मे कुमारी-भवन तथा क्रीडा एव दोला गृहो का भी निवेश करना चाहिये। स्यपति के द्वारा अपराङ्मुख वाले ऐसे प्रासाद का भी निर्माण करना चाहिए। मृग मे नृप का अन्तःपुर और पित्र्य मे अवस्कर अथच यथास्थान राजाओ की स्त्रियो का उपस्थान भी इन्द्र-पद मे रहा गया है ॥२४½-२७ ॥

सुग्रीव पद मे आश्रित अरिष्टागार कल्याणकारी होता है एव उसका

निवेश जयन्त तथा सुग्रीव पदों में विशेष विहित है ॥ २८ ॥

मनोहर अशोक-वन के स्थान के लिए एवं धारा-गृह एवं लता मण्डपों से युक्त लता गृह भी यहीं पर होने चाहिए। सुन्दर लकड़ी के पर्वत, वापियां, पुष्प-वीथियां भी होनी चाहिए। पुष्पदन्त में पुष्प-वेश्म तथा अन्तःपुर के कर्मादिक निवश करने चाहिए ॥२६—३०॥

वरुण के पद में वापी और पान-गृह बनाने चाहिए। असुर में कोष्ठागार, शोष में आयुध गृह विहित बताये गये हैं। ॥३१॥

रौद्र-नामक सुन्दर पद में भाण्डागार का निर्माण करना चाहिए और पाप-यक्ष्मा के पद पर उलूखल, शिलायन्त्र-भवन, अर्थात ओखली और चक्की के स्थान बनाने चाहिए ॥३२॥

राजयक्ष्मा में लकड़ी के काम वाला घर कल्याणकारी होता है। वायु-दिशा में रोग पद पर औषधियों का स्थान होना चाहिए। विद्वानों के द्वारा नागों का स्थान नाग के पद पर शुभ कहा गया है और मुख्य में व्यायाम, नाट्य और चित्र की शालाओं का विधान बताया गया है ॥३३-३४॥

भल्लाट-नामक पद में गौवों का स्थान तथा क्षौर-गृह होने चाहिए। सौम्य के उत्तर-प्रदेश में पुरोहित का स्थान कहा गया है। अथ च यहीं पर राजा का अभिषेचन-स्थान तथा दान, अध्ययन और शान्ति के स्थान भी विहित बताये गये हैं। भूधर अर्थात शेष नाग के पद पर चामर तथा छत्र के घर एवं मन्त्र वेश्म भी प्रतिष्ठाप्य है और यहीं पर बैठ कर राजा को अपने अधिकारियों के कार्यों का निरीक्षण करना चाहिए। ३५-३७½॥

उत्तर भाग में आश्रित घोड़ों की वाजि शाला होती है और वह महीधर के पद पर ही दक्षिणामुखी यथोचित रूप से राज-प्रासाद के अनुरूप भवन वाजिशाला बनानी चाहिए। राजा अपने प्रासाद में जब प्रवेश करता है तो दक्षिण में वाजिशाला पड़नी चाहिए और वाम भाग में गजशाला पड़नी चाहिए। चरक नामक पद में राज पुत्रों के घरों का निर्माण करना चाहिए और यहीं पर इन लोगों की पाठशालाओं का निवेशन भी करना चाहिए। अथ च नृप की माता का निवेशन अदिति के स्थान में करना चाहिए। यहीं पर पृथक स्थान पर पालकी और शय्या के घर अलग अलग रहते हैं ॥३७½—४१½॥

राजाओं के हाथियों की शालाओं का निर्माण आप पद पर उचित कहा गया है। यहीं पर गजों में अभिषेचनक स्थान विहित हैं ॥४१½—४२½॥

आपवत्स के पद पर हंस, क्रौंच, गाम्य पक्षियों में कूजित, और जहां पर

कमल-वन खिले हुए है, ऐसे स्वच्छ सलिल वाले तालावो का निर्माण करना चाहिए ॥४२½–४३½॥

चाचा, मामा आदि के घर दितिपद मे होना चाहिए ।

राजा के अन्य सामन्त आदि ऊचे अधिकारियो के भी घर यही पर विहित हैं ॥४३½–४४½॥

ऐशानी दिशा मे अनल-स्थान पर ऊचे ऊचे खम्भो एव उत्तङ्ग वेदिकाओ से युक्त अच्छी अच्छी मणियो से बने हुए सुन्दर देव-कुल का निर्माण करना चाहिये ॥४४½–४५½॥

पर्जन्य के पद पर ज्योतिषी का घर कहा गया है ॥४५॥

सेनापति को विजय देने वाले घर का निर्माण जयाभिध-पद पर करना चाहिए तथा इस भवन को अर्यमा के पद मे प्राकार-समाश्रित द्वार प्रशस्त कहा गया है। और यही पर पूर्वदक्षिणाभिमुखीन शास्त्र-कर्मान्त शास्त्र-भवन भी उचित है ॥४६–४७½॥

राज-प्रासाद-निवेश में इन्द्र-ध्वज-युत ब्रह्मा का स्थान किसी भी निवेश्य के लिये वर्जित बताया गया है। इसी स्थान पर केवल अशुभ वेश्मो का विधान है और यही पर असुखावह गवाक्ष एव स्तम्भा-शोभिनी शालाओ का भी विधान विहित है ॥४७½–४८॥

राज-प्रासाद की रक्षा के लिये यथादिक्-प्रभवा सभा का निवेश बताया गया है। साथ ही साथ राज प्रासादो के सम्मुख गजशालायें अनिवार्य है, अथवा पृष्ठ-भाग मे भी विहित है ॥४९–५०½॥

इस प्रकार के शास्त्रानुकूल विधान के अनुसार देव प्रासाद तुल्य राज भवन का जो राजा अनुष्ठान करता है वह सप्तद्वीप सप्तसागर-पर्यन्ता मही का प्रशासन करता है तथा अपने पराक्रम से सभी शत्रुओ पर विजय प्राप्त करता है ॥५१॥

राज-गृह

१०८ कर अर्थात् हस्त वाला ज्येष्ठ, ९० हस्त वाला मध्यम, ७० हस्त वाला निकृष्ट राज-वेश्म बताया गया है अतः महान विभूति एवं सम्पदा को चाहने वाला इससे हीन मान से राज-वेश्म का निर्माण न करावे ॥१–२½॥

क्षेत्र के चौकोर बना लेने पर, दश भागो मे विभाजित कर आदि कोण मे आश्रित दीवाल आधे भाग से कही गयी है ॥२½—३½॥

चार खम्भो से युक्त मध्य मे चार भाग वाले अलिन्द का निर्माण करे और बाहर का अलिन्द बारह खम्भो से आवृत निर्माण करे। तदनन्तर बीस श्रेष्ठ खभो से युक्त दूसरा अलिन्द होता है और तीसरा भी २८ खभो वाला होता है और ३६ खभो से चौथा अलिन्द विहित है। इस प्रकार से पृथ्वी-जय नामक राज-वेश्म मे १०० खभे विद्वानो के द्वारा बनाये गये हैं ॥३½—६½॥

इस मे चार दरवाजे होते हैं जो कि पञ्चशाल-द्वार विहित है। उसके चारो निर्गम (निकास) प्रत्येक दिशा में होते है वे सब बराबर होते है। और इसी प्रकार से चारो दिशाओं मे भद्राओ का निवेशन विहित है ॥६½–७॥

बीच की दीवाल के आधे मे तीनो भद्रो मे दीवाल होती है प्रत्येक भद्र मे २८, २८ खम्भे कहे गये हैं ॥८॥

मुख-भद्र वेदिकाओ और मत्तवारणो से युक्त कहा गया है। क्षय-भाग का उदय आदि भूमि के प्रमाण तक कहा गया है ॥९॥

आदि भूमि की ऊचाई के आधे मे इस का पीठ वर्णित होना चाहिए। सब भागो से ऊचाई करके एक भाग से कुम्भिका बनानी चाहिए ॥१०॥

चारो भागो मे आठ अश से युक्त स्तम्भ-निर्माण करना चाहिए, पाद युक्त एक भाग से उत्तालक बनाना चाहिए ॥११॥

पाद-रहित भाग से हीर-ग्रहण करना चाहिए। खम्भे से युक्त सपाद एक भाग का पट्ट निर्मेय है। पट्ट के आधे मे जयन्तियो का निर्माण करना अभिप्रेत है। अन्य भूमियो पर यही क्रम है, परन्तु निर्मित भाग को ऊचाई म स धा छोड

दिया जाता है अर्थात् तलभूमि से ऊपर की भूमियो का ह्रास आवश्यक है। पञ्च भाग का प्रमाण वाला नवा तल सच्छाद्य होता है। वेदिका का नीचे का छाद्य साढे तीन भागो का प्रमाण वाला और वह कण्ठ से युक्त बनाना चाहिए जिसमे वेदिका ढक जाए अथ च उस का कण्ठ बीच मे डेढ भाग मे बनाना चाहिए ॥१२–१५॥

वेदिका का विस्तार अर्धसप्तम भागो मे करना चाहिए और वेदिका के ऊपर घण्टा साढे चौदह भाग से, पाद सहित दो भागो से कण्ठ, पाद से पट्ट, चार से दूसरा और फिर तीन से तीसरा शोभा के अनुसार इच्छानुसार वेश्म-शीर्ष देना चाहिए। क्षेत्र-भाग के बराबर चूलिका का कलश बनाना चाहिए ॥१६–१८॥

भूमि की ऊचाई के आधे से अन्तरावकाश में तल होना चाहिए और उसका सुशोभित पीठ जैसा अच्छा लगे वैसा बनाना चाहिए। इसकी खुर-वरण्डिका ढाई भाग से, जघा चार भाग से, उसके बाद छाद्य-प्रवृत्त करे ॥१९–२०॥

एक पाद कम दो भागो मे छाद्य पिण्ड बताया गया है और इसके ऊपर हंस नाम का निर्गम चार हाथ वाला बनाया गया है ॥२१॥

उसके बाद दूसरा छाद्य एक पाद कम एक भाग से, प्रासाद की जघा चार भागो से प्रकल्पित करे ॥२२॥

चौथी भूमिका के सिर पर फिर मुण्डी का निवेश करे और शेष भूमिकाए क्षण-क्षण प्रवेश से बनानी चाहिये। पूर्वोक्त प्रकार से वर्णित क्रम से घण्टा सहित और कलशो से युक्त वेदिका होनी चाहिए और रेखाओ की शुद्धि से सब मुण्ड ठीक तरह से बनाना चाहिए ॥२३–२४॥

ऊचाई के आध के तीन भाग करके और फिर तीसरे भाग के दश भाग करें—वामन, आतपन, कुबेर अमरावती, हंसपृष्ठ, महाभोगी, नारद, शम्बूक, जय और दशवा अनन्त, स्थपति मुण्ड की रेखाओ की प्रसिद्धि के लिए इन उदयो का निर्माण करें ॥२५–२७½॥

इस प्रकार मत्तवेदिका, जाल और मत्तवारणो से शोभित वितर्दिकाओ और निर्यूहो से युक्त, चन्द्रशाला से विभूषित, कर्माढ्य और बहुचित्र उस पृथ्वी-जय नाम का प्रासाद निर्माण करे ॥२७½–२८॥

जो बडे बडे प्रासाद कहे गये हैं वे बराबर ऊचाई वाले बनाने चाहिये। अवाक् कोण से ऊचाई के आधे से छोटे हो यह क्रम है ॥२९॥

आगे भाग से ऊचाई क्षेत्र-विस्तार युक्त दूसरा प्रासाद कहा गया है। इसका नाम विभूषण (क्षोणी-विभूषण) है ॥३०॥

जिन मे बहुत से निवर हो, उन मे आगन दिया जाना है। पहिली

रेखा अथवा दूसरी रेखा में या फिर तीसरी रेखा में सम्वरण बनाये गये हैं। दश भाग वाले क्षेत्र में इस तरह से भूमि का उदय करना चाहिए। कम और अधिक विभक्त क्षेत्र होने पर यथोचित करना चाहिए ॥३१—३२½॥

अब क्रम-प्राप्त मुक्तकोण नामक प्रासाद का लक्षण कहा जाता है ॥३३॥

क्षेत्र के चौकोर कर लेने पर द्वादश भागों में विभाजित करने पर इस के मध्य भाग को चार खम्भों से विभूषित करना चाहिए, एक भाग से अलिन्द १२ खम्भों से युक्त होता है और इसी के समान दूसरा अलिन्द भी बीस घरों से धारित कहा गया है। तीसरा अलिन्द २८ घरों से और चौथा अलिन्द ३६ से, ४४ घरों में पांचवा कहा गया है ॥३४—३७½॥

आधे भाग से दीवाल बनवावे, डेढ भाग को छोड़कर फिर तीन भाग करे। उस से प्राग्रीव का दैर्घ्य और विस्तार बनावें। इन के विस्तार और निर्गम एक भाग से भद्र का निर्माण करे। उसमें एक भाग छोड़ कर इस का दूसरा भद्र होता है। भाग-निर्गम और विस्तार का सभी दिशाओं में यही क्रम है ॥३७½-३९॥

५४ खम्भों से युक्त एक एक भद्र युक्त होता है और इस के मध्य में १४४ खम्भे विहित हैं अथवा २१६ दोनों मिला कर इस प्रकार से सब घरों की संख्या ३६० (१४४+२१६=३६०) हुई। यहां पर शेष निर्माण पृथ्वी-जय के समान ही इष्ट होता है ॥४०—४२½॥

सम्पूर्ण निकासों में तीसरी भूमिका के ऊपर आगनों का निर्माण करना चाहिए। यह विशेष यहां पर फिर बता दिया गया है ॥४२½—४३½॥

इसी प्रकार सर्वतोभद्र नामक तथा शत्रुमर्दन नामक राज वेश्म में यही विधान करना चाहिए। और यही मुण्डरूला-प्रसिद्धि के लिए क्रम है ॥४३½—४४½॥

श्रीवत्स के भी मध्य में मुक्तकोण के समान स्तम्भ आदि प्रकल्पन करें। डेढ भाग को छोड़ कर तीन भागों से विस्तृत एक भाग से निकला हुआ इसका प्राग्रीव होता है और इस का भी मुक्तकोण के समान ही मध्य भद्र का विधान है। यह विधि सम्पूर्ण दिशाओं में है। शेष पूर्ववत् है। हर एक भद्र में ३० दृढ़ शुभ खम्भें होते हैं सब घरों की संख्या १२० होती है और इसी प्रकार से सब स्तम्भों की संख्या २६४ होती है ॥४४½—४८॥

सर्वतोभद्र-नामक वेश्म का अब लक्षण कहते हैं। चौकोर क्षेत्र को १४ भागों में विभाजित करने पर चार खम्भों से विभूषित और इसका चतुष्क एक भाग वाला कहा गया है और द्वादश खम्भों से युक्त प्रथम अलिन्द, बीस से दूसरा

२८ स्तम्भों में तीसरा, ३६ में चौथा, ४४ में पांचवा, ५२ में छठा अलिन्द विहित है। सब ओर से सुदृढ़ और घन आधे भाग में दीवाल कही गयी है ॥४६—५३॥

बेढ भाग को छोड़ कर तीन भागों में विस्तृत वर्ण का प्राग्ग्रीवक विहित है और एक भाग से निर्गम ॥ ५४ ॥

भाग-निर्गम-विस्तृत इसका भी भद्र करना चाहिए। दो भागों से निकला हुआ मध्य में भद्र बनाना चाहिए। इसका भी बीच में तीन भागों से विस्तृत भद्र होना चाहिए। एक भाग से निर्गम, अन्तर भाग से निर्गत कहा गया है। भाग-विस्तार से युक्त दूसरा भद्र प्रकल्पित करना चाहिए। भद्रों के प्रकल्पन में यह विधान सब दिशाओं में बताया गया है ॥५५-५७॥

इस राज-प्रासाद के मध्य भाग में स्तम्भों की संख्या १६६ होनी चाहिए और इन सभी भद्रों में १६० स्तम्भ होवें। इस प्रकार सब स्तम्भों की संख्या ३५६ होती है। परन्तु इसकी जङ्घा तीन भूमिकाओं वाली बतायी गई है ॥५८-६०½॥

शत्रु-मर्दन नामक राज वेश्म का सब महात्म कहते हैं। पृथ्वी-जय के समान मध्य में इसकी दीवाल उसी प्रकार होनी चाहिए। बेढ भाग को छोड़ कर एक भाग से आयत और विस्तृत और उस के बीच में तीन भागों से विस्तृत भद्र बनावे और इसी प्रकार तीन भागों से निकला हुआ भद्र बनावे। दोनों ओर का भद्र आयति और विस्तार में तीन भागों से विस्तार और एक भाग से निर्गम विहित है। यहां पर भी मध्य भद्र एक भाग से आयत और विस्तृत यही क्रम इस की सिद्धि के लिए सभी दिशाओं में करनी चाहिए ॥६०½—६४॥

गये है ।।६८½—७०½।।

क्षेत्र के चौकोर करने पर दश भागो मे विभाजित कर मध्य मे चार खम्भो वाला चतुष्क बनाना चाहिए। बाहर का अलिन्द एक भाग और अन्त में अग्र-त्रय से आयत, तीन भागो से विस्तृत कर्ण-प्रासादो का निर्माण करना चाहिए। उनके मध्य में षड्-दारुक होना चाहिए। आधे भाग के प्रमाण से युक्त दीवाल और उसका चतुष्क बहिर्भाग-निष्क्रान्त और भद्र मे एक भाग से विस्तृत तीन ग्रीवो से युक्त, और एक भाग के अलिन्द से वेष्टित और आधे भाग की भित्ति से वेष्टित होता है। इस प्रकार यह मनोहारी अवनि-शेखर (धरणी-विभूषण) राज-प्रासाद होता है। ७०½—७४।।

क्षेत्र के चौकोर कर लेने पर १२ भागो मे विभाजित कर मध्य मे एक भाग से चतुष्क और दो भागो से बाहर के दो अलिन्द, कर्णो में नवकोष्ठक-प्रासादो का सन्निवेश करें और उनके अदर षड्दारूक का सन्निवश भी अनिवार्य है। सब बाहर सब तरफ आधे भाग से दीवाल बनानी चाहिए। भद्र मे एक भाग से आयत चारो दिशाओ मे भाग-निष्क्रान्त होना चाहिए। और इस का चतुष्क एक भाग वाले अलिन्द से वेष्टित कहा गया है और इसकी तीन भद्राये भाग विस्तार और निर्गम वाली बनाना चाहिए और वे आध भाग की भित्ति से वेष्टित हो। ऐसा विधान है—कर्ण कर्ण मे विस्तीर्ण भाग निर्गत २ भद्र चाहिये। इस प्रकार का राज-प्रासाद भुवन-तिलक नाम से सकीर्तित किया गया है।।७५—८०½।।

क्षत्र को चौकोर कर लेने पर उस को १२ भागो मे बाट लने पर चार खम्भो वाला चतुष्क मध्य मे एक भाग से निर्मित कर और उसक बाहर वाला अलिन्द एक भाग से और दूसरा भी एक भाग से। कर्णो म नवकोष्ठक-प्रासादो का विनिवेश करे और उसके अन्दर षड्दारूको को लगावे। उसक बाद बाहर सब तरफ आधे भाग मे दीवाल बनावे। भद्र मे एक भाग मे आयत भद्र विनिष्क्रान्त चार खभो वाला चतुष्क होता है और वह एक भाग वाल दो अलिन्दो से परिवेष्टित होता है। तीन भागो से विस्तृत एक भाग विनिर्गत बाहर का भद्र होता है। दोनो तरफ दोनों भद्र एक भाग से बराबर करने चाहियें और भद्र के चारो तरफ बाहर की आधे भाग से भित्ति कही गई है। चारों दिशाओ मे इस प्रकार विधान कहा गया है और यह प्रासाद विलास-स्तवक के नाम से प्रसिद्ध है ।।८०½—८६ ।।

कर्ण के दो दो प्राग्ग्रीव और शाला के दो प्राग्ग्रीव जब इसके हो तो

इसका नाम कीर्ति पातक कहा गया है ॥ ८७ ॥

इसी की पीठ पर चारो तरफ आठ निर्मुक्त शालाओ मे परिवेष्ठित एव शालायें एक दूसरे से सम्बद्ध कर्ण-प्रासादो से युक्त भात्तोज्झित कोनो से युक्त प्रासादो मे सुन्दर भुवन-मण्डन जानना चाहिए ॥८८—८६॥

तल-छन्द ये बताये गये, जो जघा, सवरण आदि और भूमि-मान आदि सब पृथ्वी-जय के समान होते हैं ॥६०॥

अब क्षोणी-भूपण वेश्म का लक्षण कहता हू ॥ ६१½ ॥

५५ हाथो से कल्पित चौकोर भूमि को आठ भागो मे विभक्त कर, चार खभो स युक्त चतुष्क बताया गया है और इसका अलिन्द पहला १२ खम्भो से और दूसरा २० और तीसरा २८ से युक्त होता है ॥६१½–६३ ॥

भित्ति क डेढ भाग को छोड कर एक भाग से निर्गत, पाच भाग स विस्तीर्ण भद्र कहा गया है और दूसरा मध्य भद्र भी तीन भागो से विस्तृत और एक भाग से निर्गत बनाना चाहिए । उसके आगे क भद्र एक भाग से विस्तृत और एक भाग से निर्गत कहे गये है । इस प्रकार से इसकी सिद्धि के लिए यह विधि सब दिशाओ म बनायी गयी है । सारदारु से निर्मित एव १८ हाथ के प्रमाण स ६४ मध्य-स्तम्भों स युक्त प्रत्यक्ष भद्र का निर्माण करे । इस तरह यहा पर सब जगह खभा की सख्या १३६ होती है । इसक चार दरवाजे करने चाहियें जो यश, लक्ष्मी और कीर्ति क वधन करने वाले होत हैं ॥६४—६८॥

अब पृथिवी-तिलक का लक्षण कहा जाता है । ४० हाथ वाल क्षत्र का तीन भागो म विभक्त कर भीतर क चार खभो से भूषित एक भाग स चतुष्क और अलिन्द भी बारह खभा म युक्त एक भाग वाला होता है और दूसरा अलिन्द बीस स और इसकी भित्ति एक पाद वाली (पादिका) कर्ण से तीन भागो म निर्गत आयत प्रासाद (कर्ण-प्रासाद) कहा गया है ॥६६-१०१॥

एक भाग निर्गत एव विस्तृत इसके दोना भद्रा का निर्माण करना चाहिए। कर्ण और प्रासाद क मध्य मे पाच भागो से विस्तृत और एक भाग से निर्गत मध्य भद्र कहा गया है । तीन भाग से विस्तीर्ण एक भाग म निर्गत मध्य मे दूसरा भद्र बनाया गया है । इस प्रासाद के भीतर ३६ खभ और भद्रा पर २०८ खभ बनाये गय हैं ॥१०२—१०४॥

अब रगक बाद श्रीनिवास का लक्षण कहता हू । इसका मध्य पृथ्वी-तिलक के समान परिकल्पित किया गया है। सपाद भाग छोड कर तीन भाग से विस्तृत, एक भाग से निर्गत इसका पहला भद्र होता है । उसक भी मध्य

भाग वाला दूसरा भद्र एक भाग से निर्गत एवं विस्तृत, सुदृढ दश खभो से युक्त कहा गया है। सभी दिशाओं मे इसी प्रकार की भद्र-कल्पना की जानी चाहिए। इकट्ठी सख्या से इसके ७६ खम्भे होते हैं ॥ १०५—१०८ ॥

अब इसके बाद प्रताप-वर्धन का लक्षण कहा जाता है। साढे अट्ठाईस हाथो से विभक्त होने पर मध्य मे चार घरो (खम्भो) से सम्भृत और भागैर्विहित चतुष्क और इसका अलिन्द १२ खभो से युक्त एव भागैर्विहित बताया गया है। इसकी भित्ति पादिका होनी है और इसका भद्र भाग-निर्गम-विस्तार वाला चार स्तम्भो से भूषित होता है। इसकी सिद्धि के लिए समग्र दिशाओं मे यही विधि करनी चाहिए। बाहर भीतर के ३२ स्तम्भ कहे गये है और सभी घरो (खभो) की गणना ६४ कही गयी है ॥१०६—११३½ ॥

अब लक्ष्मी-विलास का ठीक तरह से लक्षण कहता हू। प्रताप-वर्धन की तरह ही इसका मध्य प्रकल्पित करें। प्रताप-वर्धन के समान ही सब तरह से यह कहा गया है। परन्तु इसके भद्रो के कोनो मे ही पार्श्व-भद्र करना चाहिए और दोनों पार्श्वों मे भी भद्रो का सन्निवेश कहा गया है। इन भद्रो का निर्गम एक भाग का होता है—यह विशेष कहा गया है। इसका भद्र १० खम्भो से और मध्य भद्र १६ घरो से विहित बताया गया है। चारो दरवाजे इच्छानुसार क्षणमध्यम और अपने पद मे सुशोभित दूसरा दरवाजा बनावे ॥११३½—११७ ॥

अब विशेष उल्लेखनीय विधि यह है कि साढे छ भूमियो मे क्षोणी-भूषण का निर्माण करें और पृथिवी तिलक-सज्ञक वेश्म साढे आठ भूमियो से, श्रीनिवास साढे पाच भूमियो से, लक्ष्मी विलास भी साढे पाच भूमियो से तथा प्रताप-वर्धन साढे चार भूमियो से विनिर्मेय है। ११५-१२०½ ॥

राजाओ के पृथ्वी-जय आदि निवास-भवन और क्षोणी-विभूषण आदि विलास-भवन जो राजाओ के निवास और विलास के लिए कहे गये है उन पृथ्वी-जय आदि राज-वेश्मो के दरवाजो का अब मान कहा जाता है ॥ १२०½—१२२½ ॥

५४ अश सहित तीन हाथ से विस्तृत द्वार का उदय अर्थात् ऊचाई कही गयी है, उसके आधे से उसका विस्तार और उसके उदय के तीसरे भाग से खभो का पिण्ड कहा गया है ॥ १२२½-१२३ ॥

सपाद, सचतुष्कर, सत्ताइसवा गृह-भाग राज-वेश्मो की पहिली भूमि कही गयी है ॥ १२४ ॥

भूमि की ऊचाई के नौ भाग से विभक्त करने पर उसके चार अशो मे निर्गम,

दो अंशों से छाद्यक और पाद कम से ऊंचाई विहित बतायी गयी है ॥ १२५ ॥

इसी प्रकार से भीतर की जमीन छाद्यक-उच्छ्राय-निर्गत हारोग्रहण-पिण्डाग्र-बाहल्य करने पर वह प्रशस्त होती है। उसका अपना ही बाहल्य पादकम विस्तृत कहा गया है। अन्तरावर्णिका के समान मदला का विनिर्गम बताया गया है। अपने निर्गम से उसकी पाद-सहित ऊंचाई होती है और इसकी भूमि की ऊंचाई के नवें अंश के पाद से इसका पिण्ड इष्ट होता है। तीन भाग से कम भूमि के नौ अंशों से मदला का विस्तार कहा गया है। लुमा-मूल का विस्तार सभी का आधा कहा गया है। वह तीन अंश से अग्रभाग में विस्तीर्ण और आठ से मूल में विहित बतायी है ॥ १२६-१३०½ ॥

मनीषियों ने तुम्बिनी, लुम्बिनी, हेला, शान्ता कौला मनोरमा तथा आध्माता—ये सात लुमाय बताई है। उनमें से तुम्बिनी सीधी होती है और आध्माता कर्णाधा बताई गयी है। क्रमशः अन्तराल में पाच अन्य लुमायें कही गयी हैं ॥१३०½ १३२½॥

स्तम्भ में छाद्य धरने के लिए दृढ़ शुभ मदला रक्खे। स्तम्भ के अभाव में फिर उसके कुड्य-पट्ट पर बुद्धिमान रक्खे। *मल्ल-नामक छाद्य में सात अथवा पांच या तीन लुमायें कही गयी हैं। इनके कोनों में इनके अलावा अन्य प्राञ्जल और सम बनानी चाहिये। छाद्य में कर्ण से कहीं कहीं उनको मत्स्य-प्रानन-अलङ्करण से विभूषित बनाना चाहिए। ये विद्याधरों से युक्त और कहीं पर गजतुण्डिका-युता (सूंड वाली) बनाना चाहिए ॥१३२½–१३५½॥*

इस मकुम्भिक-स्तम्भ का उदय तीन प्रकार से विभाजित कर उस में दो भागों को आधे आधे चार भाग करे। वहाँ पर पादकम भाग से राजितासनक अलङ्कृत होता है और उसके बाद उत्तरासन-सहित साग्निमाला वेदी विनिर्मित होती है ॥१३५½–१३७½॥

राज-निवेश-उपकरण

१. सभाष्टक
२. गज-शाला
३. अश्व-शाला
४. नृपायतन

सभाष्टक—आठ सभा-भवन

आठ प्रकार की सभायें (सभा भवन) होती हैं—नन्दा, जया, पूर्णा, भाविता दक्षा, प्रवरा और विदुरा ॥१॥

क्षेत्र को चौकोर कर, सोलह भागो मे विभाजित कर मध्य मे चार पद हो और सीमालिन्द एक भाग वाला हो। उसी प्रकार आदि का आलिन्द और उसी प्रकार प्रतिसर नामक अलिन्द भी विहित है। और प्राग्रीव नामक तीसरा अलिन्द क्षेत्र के बाहर चारों दिशाओ मे होना चाहिए ॥२-३॥

राज-भवन की चारो दिशाओ मे सभा-भवन बनाने चाहिये। क्रमश. नव नन्दा, भद्रा, जया, पूर्णा ये सभायें होती है ॥४॥

क्षेत्र को षड् भागो मे विभाजित करने पर कर्ण-भित्ति का निवेशन करे, तो प्राग्रीव वाली भाविता नाम की पाचवी सभा होती है। इन पाचो सभाओं म ३६ खम्भो का निवेशन करे और प्राग्रीव से सम्बन्धित खम्भो को इन से अलग अलग विनिवेशित करे ॥ ५-६ ॥

दक्षा नाम वाली छठी सभा चारो तरफ से तृतीय अलिन्द से वेष्टित कही गयी है और प्रवरा नाम की सातवी यह सभा द्वारो से युक्त परिकीर्तित की गयी है। प्राग्रीव और द्वार से युक्त आठवी विदुरा नाम की सभा कही गयी है। इस तरह इन आठो सभाओ का लक्षण बताया गया है ॥ ७-८ ॥

इस प्रकार से आठो सभाओ का ठीक तरह से दिशा-सम्बन्धित अलिन्द-भेद से लक्षण बनाया गया है। उसी प्रकार से द्वार और अलिन्द के सयोग के जानने पर राजाओ का स्थान-योग भी सम्पादित होता है॥ ९ ॥

गज-शाला

अब गज-शालाओं का लक्षण कहता हूं ॥१॥

चौकोर क्षेत्र बना कर फिर आठ भागों से विभक्त कर मध्य में दो भागों से विस्तृत हाथी का स्थान बनावे। प्रासाद के समान क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम और अधम गजशालाओं के भागों का प्रकल्पन करे ॥१—२॥

उसके बाहर एक भाग में अलिन्द और उसके भी बाहर दूसरा अलिन्द, एक भाग में भित्ति का निर्माण भी दूसरे अलिन्द से बाहर करना चाहिये ॥३॥

उस गजशाला के दरवाजे पर दो शृंगों का निर्माण करना चाहिये और दूसरे अलिन्द में सहारे वर्ण-प्रासादिका का निर्माण करना चाहिए ॥४॥

दीवाल में चारों दिशाओं में दो दो गवाक्षों का निर्माण करना चाहिए। अग्रभाग में प्राग्रीव होना चाहिए। इस शाला का नाम सुभद्रा बताया गया है ॥५॥

जब इसी शाला के सामने दो पक्ष-प्राग्रीव होते हैं, तब इस शाला का नंदिनी नाम चरितार्थ होता है। यह हाथियों की वृद्धि के लिये शुभ कही गयी है ॥६॥

इसी शाला के दोनों तरफ जब दोनों प्राग्रीवों का सन्निवेश किया जाता है तो गज-शाला का यह तीसरा भेद सुभोगदा नाम से परिकीर्तित किया जाता है ॥७॥

इसी शाला के पीछे जब दूसरा प्राग्रीव निर्माण किया जाता है तो गजशाला का यह चौथा भेद हाथियों को पुष्टि देने वाली भद्रिका नाम से विख्यात होती है ॥८॥

पांचवी गज-शाला चौकोर होती है और यह वर्धिनी नाम से कीर्तित होती है। इसके प्रतिकूल छठी गजशाला प्राग्रीव, अलिन्द, निर्यूह से हीन बतायी गयी है। धान्य, धन और जीवन का अपहरण करने वाली यह प्रमारिका नाम की शाला होती है। इस लिए इस का वर्जन किया गया है और अन्य सब गज-शालाओं का सबम मनोरथ-सम्पादन के लिए निर्माण करना चाहिए ॥९—१०॥

वास्तु-शास्त्र मे इस प्रभाग्निका नाम की जो शाला कही गई है वह जीवन, धन और धान्य के नाश का कारण होती है। इस लिए उसको न बनाए और जो श्रेष्ठ शालाये कही गई है उनको जीवन और धन की वृद्धि के लिए अवश्य बनायें ॥११॥

अश्व-शाला

अब अश्व-शाला का लक्षण विस्तार-पूर्वक कहता हूं। अपने घर की वास्तु अर्थात् राज-प्रासाद के गन्धर्व-मज्ञक पद मे अथवा पुष्पदन्त-सज्ञक पद में घोड़ो के रहने के लिए स्थान बनावे ॥१—२½॥

ज्येष्ठा शाला सौ अरत्नियो (हाथो) के प्रमाण की, मध्यम ८० और अधम ६० की कही गई है ॥२½—३½॥

सुपरिरक्षित प्रदेश से मागलिक स्थान पर घोड़ो का शुभ स्थान बनाना चाहिए। यह प्रदेश ऐसा हो जिसका स्थल-प्रदेश अर्थात् मैदान काफी बड़ा हो, वह स्थान गुप्त हो, सुन्दर और शुचि होना चाहिए, बराबर चौकोर, और स्थिर भी विहित है ॥३½—४॥

नीचे के गुल्म अर्थात् क्षुद्र झाडियो और सूखे वृक्षो, चैत्य और मन्दिर तथा बावी और पत्थरो से वर्जित प्रदेश मे घोडो के स्थान का सन्निवेश करे।

निम्नग, काटो से रहित (शल्य-हीन) पूर्वाभिमुख जल-सम्पन्न प्रदेश मे ठीक तरह से देखदाख कर उसका निर्माण करे ॥५-६॥

ब्राह्मणो के द्वारा बनाये गये किसी शुभ दिन स्थपतियो के साथ भूमि के विभाग को देख कर सुभग एव शुभ वृक्षो को लाना चाहिए जिनकी लकड़ी से अश्व-शाला के सभार प्रतिष्ठाप्य होगे। ऐसे वृक्ष नही लाने चाहियें जो श्मशानो मे, देवतायतनो मे अथवा अन्य निषिद्ध स्थानो मे उत्पन्न हुए हो ॥७—८॥

गृह-स्वामी के घर के समीप प्रशस्त वृक्षो को लाकर फिर प्रशस्त और अप्रशस्त भूमि की परीक्षा करे ॥९॥

श्मशानो मे, बावी प्रदेशो मे, ग्रामो मे और धान्य के कूटने वाले स्थलो मे और विहार-स्थानो मे घोडो का निवेशन-स्थान नही बनाना चाहिए ॥१०॥

गावों में और धान्यखलो मे अश्व-शाला के निवेशन करने से स्वामी को पीडायें प्राप्त होती हैं। श्मशान मे वाजि-वेश्म-निवेशन मे मनुष्यो की मृत्यु कही गयी है ॥११॥

विहारो और कर्मान्तो मे बनाया गया अश्व-स्थान अनर्थकारी, तथा

तपस्वियो के लिए नित्य सताप-कारी और विनाश-कारी होता है ॥१२॥

चैत्य मे उत्पन्न होने वाले वृक्षो के द्वारा निर्मित वाजि-सदन देवोपघात का जन्म करने वाला, स्त्रियो का नाश करने वाला और भूतो का भय देने वाला होता है ॥१३॥

काँटे वाले पेडो मे विहित होने पर स्वामी के लिए रोग-कारक होता है। फटी हुई और उन्नत जमीन पर करने मे वह क्षयावह होती है ॥१४॥

नीची भूमि मे बनाया गया वाजि-मन्दिर क्षुधा और भय का कारण कहा गया है। इस लिए उसको प्रशस्त भूमि मे घोडो की वृद्धि के लिए करना चाहिए ॥१५॥

शुभ और रमणीय, मनोज्ञ और चौकोर स्थान मे बनाया गया वाजि-सदन सद्य: कल्याण कारक होता है। स्थपति वाजियो का निवेशन इस प्रकार करें कि मालिक के निकलने पर उसके वाम पार्श्व मे घोडे हो। अन्त पुर-प्रदेश (रनिवास) के दक्षिण भाग पर उसका निर्माण करना चाहिए जिस मे राजा के अन्त:पुर मे प्रवेश करने पर दाए तरफ उनका हिनहिनाना सुनाई पडे ॥१६—१८॥

स्वामी के हित के लिए घोडो की शाला उचित करनी चाहिए और उस का मुख (दरवाजा) तोरण-सहित पूर्व की ओर या उत्तर की ओर बनावें। १६॥

प्राग्रीव से युक्त चार शालाओ वाला और खुला हुआ दश अरत्नि ऊचा और आठ अरत्नि विस्तृत, नागदन्तो (खूटियो) मे शोभित सामने आधी कुड्य से युक्त हो, वहा पर इस प्रकार के वाजि स्थान की कल्पना करे और वहा पर घोडो के थाने बनाने चाहिए जो पूर्व-मुख हो अथवा उत्तर-मुख हो। आयाम मे एक किष्कु और विस्तार मे तीन किष्कु ॥२०-२२॥

उनके ऊपर के भागो को लम्बे, ऊँचे और चौकोर बनाना चाहिए। उन मे आगे से ऊँची सुख-सचार भूमि की प्रकल्पना करे। सूत्र के मध्य-भाग मे एक हाथ स्थान चारो तरफ मजबूत, बराबर चिकने और घने फलको से बिछा दें। ॥२३—२४॥

धातकी, अर्जुन, पुन्नाग, कुकुम आदि वृक्षो से विनिर्मित आठ अगुल ऊँचे आधे आधे हाथ विस्तृत बिना छेद वाले दोनो पार्श्वों पर लोहे से बद्ध और सघत जन्तु-रहित लकडियो से शुभ निर्व्यूहो से खूब विस्तीर्ण धास अथवा भूसे का स्थान होना चाहिए। वह एकान्त में मुसमाहित और तीन किष्कुओ से ऊँचा होवे ॥२५—२७॥

खाने की नाद दो हाथो के प्रमाण की बनानी चाहिए। यह विस्तार और ऊँचाई मे बराबर, बिना दुर्गन्ध और सूपलिप्त होना चाहिए ॥२८॥

स्थान स्थान पर तीन खूटे बनाने चाहियें। जिन मे दो, घोडे के पाच अगो के निग्रह (पञ्चाङ्गी-निग्रह) के लिए बनाये जाते हैं। एक पीछे बाधने के लिए सुगुप्त परिकल्पन करे। हस्ति-शाला के चारो कोनो पर चार हाथ छोडकर इन सभी स्थानो मे घोडो का निवेशन करे ॥२७–३१½॥

छुटे हुए इन स्थानो पर बलि, होम, स्वस्ति-वाचन तथा जप कराना चाहिए ॥३१॥

ग्रीष्म ऋतु मे पृथ्वी को खूब सींच देना चाहिए और वर्षा ऋतु मे उस स्थल को जल और कीचड से व्याप्त नही होने देना चाहिए और शिशिर ऋतु मे यह ढका हुआ होना चाहिए जिससे यहा पर बिना किसी सकोच और सकीर्णता के घोडे बैठ सकें। उन्हें इस तरह से बाधे कि वे एक दूसरे का स्पर्श न कर सकें। और सभी प्रकार की बाधाओं से वे अपने को वर्जित समझें ॥३२–३३॥

दक्षिण पूर्व दिशा मे अग्नि का स्थान प्रकल्पन करे और जल का कलश इन्द्र की दिशा (पूर्व) मे समाश्रित कर के रक्खे ॥३४॥

याम्ी दिशा मे घास अथवा भूसे का स्थान बनाना चाहिए और वायव्य दिशा मे औदूखल का स्थान बनाना चाहिए ॥३५॥

नि श्रेणी, कुश और पलव से ढके हुये कुर्चे, कुद्दाल, उद्दाल, गुडक, तुलयोग और सुर, कच-ग्रहणी, सींग और चर्म, नाडी और प्रदीप ये सब सभार वाजि-शाला में उपयोगी कह गये है ॥३६–३७॥

घोडो के पीछे से क्रमश पश्चिम दिशा की तरफ जाता है। कल्याणार्थियो को घोडों का पूर्व-मुख स्नान, सजावट (अधिवासन), पूजा तथा अन्य श्रेष्ठ मागलिक कार्य करने चाहियें ॥४५–४६॥

ऐसा करने पर राजा को भूमि, सेना, मित्र और यश वृद्धि को प्राप्त होने है। इसलिए प्राची दिशा ही प्रशस्त कही गयी है ॥४७॥

वाछित अर्थ को देने वाला स्वामी की वृद्धि करने वाला ग्रास का स्थान दक्षिणाभिमुख शाला मे विहित है। सूर्य के पद मे बनाया गया घोडो का स्थान होता है क्योकि वह दिशा अग्नि से अधिष्ठित कही गयी है और अग्नि घोडो की आत्मा कही गयी है। वहा पर बधा हुआ घोडा अजर और बहुभोक्ता होता है और उत्तर मुख वाले वाजि-सदन मे भी घोडे कल्याण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार से घोडों के स्थित होने पर सूर्य दहिने उदय होता है फिर उन को दहिने करके अस्त होता है। घोडो के वाम भाग मे निकलता है। इसलिए उनको उत्तराभिमुख स्थापित करना चाहिये। उनको इस प्रकार से बाँधे जिस से चन्द्र और सूर्य के सम्मुख हिनहिनायें। राजा जय, सिद्धि, पुत्र और आयु को प्राप्त करता है और अश्व नीरोग रहते हैं और सन्तति को बढाते है ॥४८–५३॥

दक्षिणाभिमुख उनको कभी न करे क्योकि दक्षिण दिशा पितृकार्य के लिए कही गयी है। अत वह इस काम के लिए वर्जित है। इसी दिशा म सब प्रेत प्रतिष्ठित है और सूय वार्ये मे उदय होता है और दक्षिण मे अस्त होता है ॥ ५४–५५ ॥

चन्द्रमा पीछे हो जाता है जिससे घोडे देव-पीडा स पीडित होते हैं और विविध ग्रहो के विकारो से अगति-विह्वल वे बेचारे पीडित होत हैं। भय और व्याधियो से दु खित वे घास को नही खाने की इच्छा करते है और मालिक की पराजय, अतुष्टि, अनर्थ उपस्थित करत है इसलिए कभी भी उनको दक्षिणाभिमुख न बाधें ॥५६–५८॥

पश्चिम दिशा मे अर्थात पश्चिमाभिमुख घोडो को बाँधने पर सदैव सूर्य पृष्ठ-भाग से उदय होता है और सामने से अस्त होता है। इस तरह तत्-पृष्ठ-वर्ती स्वामी की विजय नही होती और इन्द्र के पृष्ठ-वर्ती होने के कारण और सूर्य की प्रतिकूल दिशा होने के कारण देह को विनाश करने वाली व्याधिया उन घोडों के लिए शीघ्र ही कुपित होती है। उन से वे घोडे घबराते हैं, कापते है, और जल से डरते हैं और घास को नही खाते है और सब प्रकार से पृथ्वी

भेषजागार के पास अरिष्ट-मन्दिर बनवाना चाहिए। रोगी घोडो के लिए व्याधित-भवन भी बनाने चाहियें ॥ ७७ ॥

ये चारो वेश्म पूर्व-निर्दिष्ट वेश्म के समान सुगुप्त एव सम्वद्ध विहित करें। चूने के बध से मजबूत दीवालो से प्राग्रीव और उच्च तोरण के सहित ये चारो विशाल (विना शाला) और सुगम बनवावें और इस प्रकार के वेश्मो मे घोडो को स्थापित कर उनका परिपालन करें ॥ ७८-८०½ ॥

दक्षिण दिशा में आठ अश-हीन बनाना चाहिए ॥१०½-१२॥

सामन्तो, हस्तिपकों, भटो और परिजनों के क्रमश आयतनो का यथाभाग निर्माण करना चाहिए। मर्मवेध-प्रदेश-स्थित अथवा द्वार-वेध-स्थित और स्वस्थ नान्तरित आयतनो का निर्माण हित-कामना रखने वाले व्यक्ति को नहीं बनवाना चाहिए ॥१३-१४॥

- भित्तियों के द्वारा, गर्भ-कोष्ठो के द्वारा, सीमा के स्तम्भ और गवाक्षो के द्वारा, द्वार-द्रव्य के तल की ऊंचाईयां, ग्राग्रीवो, सिहकर्णों एव भूषणो के द्वारा उन को नहीं करना चाहिए, क्योकि जो सम-हर्म्य होगा वही सुखदायक । इस के आधिक्य मे राज-पीडा और कुल-क्षय होता है ॥१५-१७½॥

जो नियुक्त होगा वह आनन्द नहीं दे सकता। राजा के प्रासाद की परिधि मे स्थित किसी भी निवेश को किसी भी द्रव्य से उत्कृष्ट नहीं करना चाहिए। अथच उसका सस्थान, मान, विस्तार और ऊचाई से भी उत्कृष्ट नही करना चाहिए ॥१७½-१८॥

पूर्वोक्त भागो मे कुछ कम शुभ कहलाता है। पारस्परिक अन्तर दुगुने छाद्य मे शुभ कहा गया है और बहुत से भवनान्तरो से उसको सुभोग्र बनाना चाहिए। कोष्ठिकागो (कोठरियां), भोजनागार (रसोई) तथा भाण्डागार (वर्तन रखने के स्थान), उपस्करागार (वस्तुओ को रखने के स्थान) से यह सुभोग्य होता है। ॥१९-२०॥

अन्य अवशप स्थानो की भी यही क्रिया है। शालाओ मे पूर्ण कर देना चाहिए। शुभ-रूप, मनोरम तथा प्रशस्त सब प्रासादो को बनाना चाहिए ॥२१॥

प्राय राजा के आयतन के निवश से अपने अन्य आलयो का और सब के अन्य गृहो का निर्माण करना चाहिए, अन्यथा विपरीताचरण से और उलट-फेर से कुल-नाश और महादोष उपस्थित होते है ॥२२-२३½॥

इस प्रकार से प्रतिपादित दिशाओ आदि के भेद योग से जिस राजा के सुर-भवन होते है वह अविरत-मुदित-उदित-प्रताप वाला अपने प्रताप से जीती हुई इस पृथ्वी को बहुत काल तक शासित करता है ॥२३½-२४॥

तृतीय पटल

शयनासन

शयनासन-लक्षण

अब शयनासन लक्षण कहूंगा जिस से शुभ और अशुभ का परिज्ञान हो जावे ॥१॥

शय्या : मैत्र मुहूर्त मे चन्द्रमा के पुष्य नक्षत्र मे स्थित होने पर शुभ दिन देवताओ का सम्यक् पूजन करके कर्म का आरम्भ समाचरित करे ॥२॥

शयनासन-निर्माण मे चन्दन, तिनिश अर्जुन, तिन्दुक, साल और साल, शिरीष, आसन, धनु, हरिद्रु, देवदारु, स्यन्दन, श्रीव, पद्मक, श्रीपर्णी, दधिपर्ण, शिशपा और भी जो शुभ वृक्ष हैं, वे प्रशस्त कहे गए है ॥३–४॥

गृह-कर्म मे जो अनिष्ट वृक्ष कहे गये हैं, वे शयनासन मे भी निन्दित हैं। सोने से, चांदी से या हाथी दात से जड़ी हुई, पीतल से बद्ध शय्याएं शुभ कही गई है। विचक्षणो के द्वारा उनका निर्माण कराया जाना चाहिए ॥५–६½॥

जब शयनासन के लिए लकड़ी काटने के लिये प्रस्थान करे तो पहिले निमित्तो को देखे। दधि, अक्षत से भरा हुआ घड़ा, रत्न अथवा पुष्प, सुगन्धित द्रव्य, वस्त्रादि, मछली, घोड़ो का जोड़ा, मत्त हाथी और अन्य इसी प्रकार के शुभो को देख कर शुभ का आदेश करना चाहिए ॥६½—८॥

वितुष आठ यवो से कर्म का अगुल समुद्दिष्ट किया गया है। इस तरह १०८ अगुलो की ज्येष्ठ शय्या राजाओ के लिए कही गयी है ॥९॥

१०४ अगुलो की राजाओ की मध्यम शय्या कहलाती है और कनिष्ठ शय्या १०० अगुलो की राजाओ के लिए विजयावह बताई गई है ॥१०॥

राजा के लड़के की ९० अंगुल की, मन्त्री की ८४ की, सेनापति की ७८ की और पुरोहित की ७२ की शय्या विहित है ॥११॥

शय्याओ मे आयाम के आधे से सब विस्तार कहा गया है अथवा आठ भाग से अथवा छः भाग से अधिक ॥१२॥

ब्राह्मणो की शय्या ७० अगुल दीर्घ होनी चाहिए और दो दो अगुलो से शेष हीन वर्णों की ॥१३॥

उत्तम शयनासन के उत्पल का बाहुल्य तीन अंगुल होना चाहिए, तथा मध्य का ढाई और कनिष्ठ का दो ॥१४॥

ईशा-दण्ड का बाहुल्य उत्पल के बराबर होना चाहिये और उस का विस्तार उत्पल से आधा, चौथाई अथवा एक तिहाई होता है ॥१५॥

शय्या के आधे विस्तार से कुक्ष्य का विस्तार होता है और उस के पायों की ऊंचाई मध्य से हीन दो चार छोड़ कर विहित है (मध्यहीनौ द्विचतुरुज्झितौ) ॥१६॥

मध्य-विस्तार के आधे से मध्य में बाहुल्य इष्ट है। कोई लोग तीन भाग से हीन, अथवा एक पाद से हीन उसे चाहते हैं ॥१७॥

नीचे के शीर्ष से पावे की मोटाई उत्पल के समान होती है। मध्य में एक चौथाई अथवा आधी क्रमशः तल में वृद्धि होती है ॥१८॥

अन्य विवरण भी शास्त्रानुकूल विहित है ॥१९॥

उत्सेध के समान दो अगुल से अधिक विस्तार करना चाहिए और उसे पत्तो, कलियों, पत्रपुटो और ग्रास से भूषित करना चाहिए ॥२०॥

चारों ओर शय्या के अंग प्रदक्षिणाग्र करने चाहिए। ऊर्ध्वाग्र सब पाद स्वामी की वृद्धि के लिये होते हैं ॥२१॥

एक ही द्रव्य से उत्पन्न होने वाली अर्थात् निर्मित शय्या श्रेष्ठ कहलाती है और मिश्र द्रव्य वाली प्रशस्त नहीं कही गई है। एक लकड़ी वाली प्रशसित होती है और दो लकडी वाली भयजनक होती है ॥२२॥

तीन लकड़ी से बनी होने पर नियत ही वध है। इस लिये ऐसी शय्या का वर्जन करना चाहिए ॥२३॥

अग्र भाग में युक्त मूल और बाए हाथ से युक्त निन्दित कहा गया है। अथवा मूल मूलविद्ध एव एकाग्र में दो लकडियां होती हैं यह भी वर्ज्य है॥२४॥

मध्य में अगर छेद हो तो मृत्यु-कारक, त्रिभाग में व्याधिकारक और चतुर्भाग में क्लेश और सिर में स्थित द्रव्य-हानि-कारक होता है ॥२५॥

निर्दोष अंग वाले पर्यङ्क में पाप-स्वप्न नहीं दिखाई पड़ता है। इस लिये गांठ और कोटर वाला शयनासन नहीं बनाना चाहिए ॥२६॥

आसन और शयनीय गांठो एव कोटरों से वर्जित होने पर बहुपुत्र देने वाला और धर्म, काम और अर्थ का साधने वाला कहा गया है ॥२७॥

खाट पर आरोहण करने पर यदि वह चलायमान होती है अथवा कांपती है तो क्रमश: विदेश-गमन अथवा कलह प्राप्त होते हैं ॥२८॥

इस लिये उसको स्थपति सुश्लिष्ट, निर्दोष, वर्णशालिनी, दृढ, स्थिर

बनाये। ऐसा करने पर स्वामी की मनोरथ-वृद्धि होती है ॥२९॥

निष्कुट, कोलहक, क्रोडनयन, वत्सनाभक, कालक और बधक ये सक्षेप मे छिद्र कहे गये हैं ॥३०॥

मध्य मे घट के समान सुषिर तथा सकरा मुख वाला निष्कुट नाम से कहा जाता है। कोलाक्ष उडद के निकलने लायक छिद्र होता है ॥३१॥

आधे आधे पोर से दीर्घ, विवर्ण और विषम छिद्र को महर्षियो ने क्रोडनयन कहा है ॥३२॥

पर्वमित भिन्न वामावर्त वत्सनाभक कहलाता है। कृष्ण-कान्ति वाला कालक तथा विनिर्भिन्न बधक कहा गया है ॥३३॥

लकडी के वर्ण वाला छिद्र शुभकर नही होता है। निष्कुट मे अर्थ का नाश, कोलहक मे कुल विद्रोह, क्रोड-नयन मे शस्त्र से भय, वत्सनाभक मे रोग से भय और कालक मे, बधक मे—इन दोनो के कीट-विद्ध होने पर शुभ नही होता ॥३४-३५॥

वह सब लकडी जिस में सब जगह बहुत अधिक गाठें होती हैं वह अनिष्ट-दायक कही गई है ॥३६½॥

आसन—शय्या के लिये कही गई लकडियो से निर्मित आसन बैठने मे सुख-दायक प्रकल्पित किया गया है। उसका पुष्कर और सुदृहस्त चार चार अगुल से गाम होना चाहिये। विस्तार स आरम्भ करे अब तक नो अगुल न हो जाए। पुष्कर क व्यास म उसका चोगुना दण्ड बनाना चाहिए ॥३६½-३८॥

पुष्कर क आध स फलक और उसक समान मूलक-दण्ड और पुष्कर के विस्तार से चार अश मोटा बनाना चाहिए ॥३९॥

पुष्कर का अतभाग खुदा हुआ गम्भीर इष्ट है। प्रशस्त सार नामक लकडी से इस का निर्माण करे ॥ ४० ॥

अब अन्य फर्नीचरो का वर्णन करता हू ।

कघे—कघा बडा ही चिकना बनाना चाहिए और उस चिकने तना वाली लकडी से बनाना चाहिए। इसकी लम्बाई ८ अगुल से १२ अगुल होनी चाहिए। इस का विस्तार लम्बाई स आधा अगुल सहित ४ भाग होता है ॥४१-४२॥

उसके मध्य मे विस्तार के आठवे अंश से बाहुल्य कहा गया है और उस के एक से स्थूल-विस्तार वाले दन्तक कहे गये हैं। दूसरे से भाग की तरफ घन, सूक्ष्म एव तीक्ष्ण दन्तको का निर्माण करना चाहिए। मध्य मे तीन भाग को छोड कर दोनो भागो मे दन्तको का निर्माण करना

चाहिये उनके तीन भाग के हर लेने पर यदि कुछ शेष न रहे तो उनको छोड़ देना चाहिये । हाथी के दांत अथवा शाखोट (शाखू) वृक्ष में निर्मित श्रेष्ट कहलाते हैं । मध्यम अन्य शेष लकडियों में और जघन्य अर्थात् निकृष्ट अमार- दारु में निर्मित होता है । स्वस्तिक आदि रूपकों से मध्य भाग को अलंकृत करना चाहिए ।।४३-४६।।

यूका आदि के अपनयन के लिये तथा केश प्रसाधन के लिये यह कंघा काम में लाया जाता है ।।४७।।

पादुका—दो पादुकाओं की लम्बाई पाद से एक अंगुल से अधिक बनानी चाहिये । लम्बाई के पांच भाग करने पर सामने तीन भाग से पीछे दो भाग से इस प्रकार से इसका संग्रह-विधान है ।।४८।।

तीन अंगुलों की ऊंचाई और चरणों के अनुसार उस का विस्तार, अगुल और अंगुष्ठ के दोनों मध्य भाग मत्स्य आदि से अलंकृत करना चाहिए ।।४९।।

दन्त, सींग आदि से उनकी दोनों खूंटियों का निर्माण होना चाहिए ।।५०½।।

गजेन्द्र दन्त, श्रीखंड, श्रीपर्णी, मेष शृंगिका, शाख, क्षीरिणी, बिर अथवा बेल की लकडिया खड़ाऊं के लिये प्रशस्त कही गई हैं ।।५०½-५१½।।

इस प्रकार से यहा पर शय्याओं का और आसनों के लक्षण बता दिये और उसके बाद दर्वी और कंघत और पादुकाओं का ठीक तरह से लक्षण बता दिया गया और शुभ और अशुभ संपूर्ण लक्षणों को जान कर विद्वान पूजा को प्राप्त होता है ।।५२।।

चतुर्थ पटल

यन्त्र-घटना

यन्त्र-विधान

अलक्ष्य, मध्य घूमते हुये सूर्य एवं चन्द्र मण्डल के चक्र से प्रशस्त इस जगत्रय-रूपी यन्त्र को सम्पूर्ण भूतो (पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश) तथा बीजो (उपादान कारणो) को सम्प्रकल्पित कर जो सतत घुमाते हैं, वे कामदेव को जीतने वाले (भगवान् शंकर) तुम लोगों की रक्षा करें ॥१॥

क्रम से प्राप्त अब यन्त्राध्याय का वर्णन करता हूं। यह यन्त्र-विधान धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का एक ही कारण है ॥२॥

अपनी इच्छा से, अपने मार्ग से प्रवृत्त महाभूतो (पृथ्वी आदि) का नियमन कर जिस मे नयन होता है, उस को यंत्र कहा गया है। अथवा अपनी बुद्धि से, अपनी स्वेच्छा से प्रवृत्त महाभूतो का जिस से निर्माण-कार्य यमित होता है, उसको यन्त्र कहते है ॥३-४॥

उस यन्त्र के चार प्रकार के बीज कहे गये है—पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु। इन चारो का आश्रय होने की वजह से आकाश भी पाचवा बीज उपयुक्त होता है ॥५॥

सूत अर्थात पारे को जो लोग एक अलग बीज मानते है, वे ठीक नही जानते। सूत प्रकृति से वास्तव मे पार्थिव बीज ही है। जल, तेज और वायु की उस मे क्रिया होती है। चू कि यह पार्थिव है अत यह पारा अलग बीज नही है। अथच इसके द्रव्यत्व होने के कारण जो अग्नि का उत्पादक होना परिकल्पित किया गया है, तब इस का अग्नि से विरोध नही उत्पन्न होता और पृथ्वी गधवती होने के कारण और अग्नि से विरोध होने के कारण बलात् इसमे पृथिवीत्व स्थापित हो ही जाता है ॥६-८॥

अथवा पाचो महाभूत एक दूसरे के स्वयं बीज होते हैं तथा और भी बीज होते है और इस प्रकार सामर्थ्य (मिश्रण) से इनके बहुत से भेद होते हैं ॥९॥

यन्त्र नाना प्रकार के होते है जैसे स्वयं-वाहक (Automatic), सकृत्प्रेर्य (Propelling only once), अन्तरित वाह्य तथा अदूर-वाह्य। पहला भेद स्वयं-वाहक उत्तम कहा गया है और अन्य तीन निकृष्ट। उनमें दूरस्थ, अलक्ष्य, निकट स्थित की प्रशंसा की गई है। जो यन्त्र उत्पन्न होता है और जो बहुतो का आधार कहा गया है, वह मनुष्यो के लिये विस्मय करने वाला द्वारा कहा गया है।

विस्मय-कारी इस बाह्य-यन्त्र मे एक अपनी गति होती और दूसरी वाहक में आश्रित होती है। अरघट्ट-घटी मे आश्रित कीडे मे से दोनो दिखाई पड़ती है। इस प्रकार दो गतियो से वैचित्र्य का कल्पन स्वयं करे और न दिखाई पड़ने वाली जो विचित्रता होती है, वह यन्त्रो मे अधिक प्रशस्त मानी गई है ॥१०—१५½॥

और दूसरा भेद जो कहा गया है वह भीतर से चलाया जाता है। उसे मध्यम कहते हैं। दो तीन के योग मे अथवा चारो के योग से प्रशाशि-भाव से भूतो की यह संख्या बहुत बढ जाती है। जो मनुष्य इन सब बातो को ठीक जानता है, वह स्त्रियो का, राजाओ का, विद्वानो का प्रिय होता है। और लाभ, ख्याति, पूजा, यश, मान क्या क्या नही प्राप्त करता है जो मनुष्य इस को तत्वत जानता है ॥१५½—१८½॥

यह विलासो का एक ही घर, आश्चर्य का परम पद, रति (काम-क्रीड़ा)का आवास-भवन, (निकेतन, घर) तथा आश्चर्य का एक ही स्थान कहा गया है ॥१८½—१९½॥

देवता आदिको की रूप एवं चेष्टा दिखाने से वे लोग (देवता लोग) सन्तुष्ट होते है और उनकी सन्तुष्टि को ही पूर्वाचार्यों द्वारा धर्म कहा गया है। राजाओ आदि के सन्तोष से धन प्राप्त होता है (इस प्रकार धर्म के बाद अर्थ-सिद्धि हुई)। अर्थ में ही काम (इच्छा, मनोरथ आदि) प्रतिष्ठित कहे गये हैं। इसका निर्माण धन-साध्य है और मोक्ष भी इस से दुर्लभ नही ॥१९½—२१½॥

पार्थिव बीज :—यह बीज पार्थिव बीजो से, जल से उत्पन्न होने वाले पदार्थों से, वही तेज से उत्पन्न होने वालो से और वही वायु से उत्पन्न होने वालो से विहित है। आप्य अर्थात् जल सम्बन्धी बीज आप्य बीजो से उसी प्रकार अग्नि सम्बन्धी एव वायु सम्बन्धी बीजो से विहित है। वह्नि-बीज वायु से उत्पन्न होने वाले और पार्थिव एव वारुण बीजो से भी तथैव विहित है। मारुत बीज वायु, जल, पृथ्वी एवं अग्नि सम्बन्धी बीजो से वैसे ही विहित है। वह्नि से उत्पन्न होने वालो द्वारा भी बीज होता है। वह पारा होता है। वह अनिल मे भी होता है। पार्थिवो का भी और आप्यों का भी जल जलीय बीज होता है। इस प्रकार सब भूतो के सम्पूर्ण बीजो का कीर्तन हुआ ॥२१½—२५½॥

तूद्ववरण सूत्र, भार-गोलक-पीडन, लम्बन, लम्बवार और विविध चक्र, लोहा, ताबा, तार (पीतल, रागा, सम्वित, प्रमर्दन, काष्ठ, चर्म, वस्त्र—ये सब अपने बीजो मे प्रयुक्त होते हैं ॥२५½—२७½॥

ऊर्ध्व, वर्तन, यष्टि, चक्र और भ्रमरब, शृंगावली और बाण, ये भी बीज और कहे गये हैं ॥२७½—२८½॥

जल के सम्पर्क से उत्पन्न ताप, उत्तेजन, स्तोभ, और क्षोभ इत्यादि पार्थिव बीज के अग्नि-बीज कहे गये हैं ॥२८½—२९½॥

भारा, जलभार, जल की भंवर इत्यादि पृथ्वी से उत्पन्न जलज बीज कहे गये है ॥२९½—३०½॥

जैसी ऊचाई, जैसी अधिकता और जैसी नीरन्ध्रता (सटा हुआ) और अत्यन्त ऊर्ध्व-गामित्व (ऊंचे जाना) ये लोहे के अपने बीज है ॥३०½—३१½॥

स्वाभाविक वायु, गाह-ग्राहको के द्वारा प्रेरित होकर पत्थरो से, पक्षियों से, गज-वर्णादिको से भी निर्मित, चालित और गलाया हुआ ये वायु पार्थिव भूत मे बीज होता है। काष्ठ (लकड़ी), चमड़ा और लोहा जल में उत्पन्न होने वाले बीज में पार्थिव होता है ॥३१½—३२½॥

दूसरा जल वह भी तिरछा, ऊंचा और नीचा जल-निर्मित यन्त्रो में अपना बीज होता है। ताप आदि पहले कहे हुए वह्नि से उत्पन्न, जल मे से उत्पन्न होते हैं ॥३३½—३४॥

संग्रहीत, दिया हुआ और भरा हुआ और प्रतिनोदित अर्थात् प्रेरित वायु जल-यन्त्रो मे बीज बनता है ॥३५ ॥

वह्नि से उत्पन्न होने वालो मे मिट्टी, तांबा, सोना, लोहा आदि तदनुकूल बीज-विचक्षण विद्वान इस वास्तु शास्त्र मे उसे पार्थिव बीज कहते हैं ॥३६॥

वह्नि से वह्नि-बीज, जल से जल और पहिले कहे हुये पत्थर आदि से वायु बीजता को प्राप्त होता है ॥३७॥

प्रत्येपक अर्थात् पदार्थ-सम्बन्धी (Material), जनक, प्रेरक और ग्राहक तथा संग्राहक रूप मे वायु से उत्पन्न होने वालो के द्वारा पार्थिव बीज कहलाता है ॥३८॥

प्रेरण और अभिघात, विवर्त तथा भ्रमण रूप मे वायु से पैदा होने वालो में जलज बीज सम्मत होता है ॥३९॥

ताप आदि से जो पवन से उत्पन्न होने वालो के द्वारा जो होते है वे पावक-सम्बन्धी बीज में संगृहीत किए गये है ॥४०॥

प्रेरित, संग्रहीत और जनित रूप में वायु अपना बीज होता है। इसी प्रकार से और भी कल्पना कर लें ॥४१॥

एक भूत सत्यधिक, दूसरा हीन, तीसरा और भी अधिक हीन। इसके अतिरिक्त दूसरा और भी हीन। इस प्रकार विकल्प से इन बीजो के नाना भेद होते हैं। उनको पूर्ण रूप से कौन कह सकेगा ॥ ४२-४३½ ॥

पृथ्वी तो निष्क्रिया है और उस में जो क्रिया है वह अंश में बचे हुए तीनों भूतों—वायु, जल, अग्नि में होती है। इस लिए वह क्रिया पृथ्वी में ही प्रयत्न-पूर्वक उत्पन्न करने योग्य है और ऐसा करने पर साध्य अर्थात् उपादान कारण पृथ्वी का रूपवशतः सन्निवेश होता है ॥४३½—४४॥

यन्त्र गुण :—यन्त्रों की आकृति जिस प्रकार न पहचानी जा सके, उस प्रकार ठीक तरह से बीज-संयोग करना चाहिए।उनकी बहुत सुन्दर जडावट और सफाई होनी चाहिए । इस प्रकार यन्त्रों के निम्नलिखित गुण कहे गये है—सौश्लिष्टय, श्लक्ष्णता, निर्वहण, लघुत्व, शब्द-हीनता और जहा पर शब्द ही साध्य अर्थात् उपादान कारण हो, वहाँ पर आधिक्य, अशैथिल्य और अगाढ़ता कहे गये है। अन्यथा सभी वाहक-यन्त्रो में सौश्लिष्ट्य, अस्खलितत्व, अभीष्टार्थ-कारित्व, लयतालानुगामित्व, इष्ट-काल में अर्थ-दर्शित्व और फिर ठीक तरह से गोपन, अप्रकाशन, अनुल्वणत्व, ताद्रूप्य मुखरत्व (चिकनाहट), चिरकाल-सहत्व—ये सब यन्त्र-गुण है ॥४५—४८½॥

पहला भेद बहुतों को चलाने वाला और दूसरा भेद बहुतों से चलाये जाने वाला कहा गया है ॥४९॥

यन्त्रों का न दिखाई पडना और ठीक तरह से उनकी जडाई होना परम गुण कहा गया है ॥५०½॥

अब इस के बाद यन्त्रो के विचित्र-विचित्र कार्यों का यथाविधि न विस्तार से न सक्षेप से वर्णन करता हू ॥५०½—५१½॥

किसी की क्रिया साध्य होती है और किसी का काल, और किसी का शब्द, और किसी की ऊंचाई अथवा रूप और स्पर्श । इस प्रकार कार्यवशात् क्रियायें तो अनन्त परिकीर्तित की गई है। ५१½-५२॥

क्रिया से उत्पन्न होने वाले भेद है—तिरछे, ऊपर, नीचे, पीछे आगे अथवा *दोनों बगलों में भी गमन, सरण और पात भेद से अनेक भेद है ।५३।*

जहां तक यन्त्र से काल-ज्ञान की बात है वह काल, समय बताने वाले घटा-ताडनो के भेदो से अनेक भेद वाला होता है। यन्त्रो से उत्पादित शब्द विचित्र, सुखद, रतिकृत भी और भीषण भी होते हैं। उच्छ्राय गुण तो जल का होता है। कहीं पर पार्थिव मे भी कहा जाता है ॥ ५४-५५½॥

गीत, नृत्य और वाद्य (गाना, नाचना और बजाना , पटह, वंश, वीणा, कास्यताल (मजीरा), तृमला, करटा और भी जो बाजे विभावित होते हैं वे सभी यन्त्रों से उत्पन्न होते हैं।५५½-५७½॥

नृत्य में नाट्यीय नृत्य होता है, उसके ताण्डव, लास्य, राज मार्ग और देशी ये सब भेद यन्त्र से सिद्ध होते हैं ॥५७½-५८½॥

उसी प्रकार स्वाभाविक चेष्टायें या विरुद्ध चेष्टायें वे भी यन्त्र की सम्यक साधना से निष्पन्न होती है ।५८½-५६½॥

पृथ्वी पर रहने वालो की आकाश में गति, आकाश में चलने वालो की भूमि में गति, मनुष्यो की विविध प्रकार की चेष्टायें तथा विविध मनोरथ ये सब यन्त्र के निर्माण से उत्पन्न होते हैं ॥५६½-६०॥

जिस प्रकार से असुर लोग हारे और जिस प्रकार से देवो के द्वारा समुद्र-मन्थन हुआ और उनका, नृसिंह भगवान् द्वारा हिरण्यकशिपु नामक दैत्य मारा गया, हाथियो का युद्ध और छोडना तथा पकडना और जो नाना प्रकार की चेष्टायें है और विविध प्रकार के धारा-गृह और विचित्र भूलो की वेलिया और विचित्र रति-गृह और विचित्र सेना तथा पुतलिया एव सेवक (Automatic) तथा विविध प्रकार की सच्ची और झूठी सभायें और इस प्रकार जितनी बाते हैं वे सब यन्त्र के वरुपन से सिद्ध होती हैं ।६१-६४॥

शय्या-प्रसर्पण यन्त्र —पाच भूमिकाओं अर्थात खण्डो का निर्माण कर पहिले खड मे स्थित शय्या प्रति पहर दूसर खडो मे प्रसर्पण करती हुई पाचवें खड मे पहुँच जाती है। इस प्रकार के चित्र विचित्र आश्चर्य, यन्त्र से ठीक सिद्ध होते है ॥६५-६६½॥

नाडी-प्रबोधन-यन्त्र —शय्यापरिसर्पण-यन्त्र कीर्तित हो चुका है, अब पुत्रिका-नाडी-प्रबोधन-यन्त्र का वर्णन करते हैं। क्रमश: तीन यो आवर्त में स्याली मे यह दण्डो को घुमाती है। उस के मध्य मे बनायी हुई पुतली प्रति नाडी मे जगाव और यन्त्र के द्वारा वह्नि का जल मे दर्शन, वह्नि मे बीच से जल का निकलना, अवस्तु से वस्तुत्व, वस्तु से अन्य प्रकार की चीजें दिखाना एक सास म आकाश जाती है, एक सास में पृथ्वी आती है ॥६६½-६८॥

गोलक-भ्रमण-यन्त्र —अब गोल-भ्रमण-यन्त्र का वर्णन है, जो सूर्यादि-ग्रहो की गति प्रदर्शन कराती है। क्षीर-सागर के मध्य मे एक सुन्दर शेष-नाग के फण पर शय्या बनायी जाती है और सूची-विहित गोला सूर्य-ग्रहो की प्रदक्षिणा करता हुआ दिन रात घूमता हुआ ग्रहो के दर्शन कराता है। लकडी के गज आदि रूप अथवा रथिक रूप मे दिखलाया गया मनुष्य नाडी के द्वारा घूम कर बाज की गति से चार कोस तक जाता है ॥ ६६-७१½ ॥

पृथ्वी तो निष्क्रिया है और उस में जो क्रिया है वह अन्त में बचे हुए तीनों भूतों—वायु, जल, अग्नि में होती है। इस लिए वह क्रिया पृथ्वी में ही प्रयत्न-पूर्वक उत्पन्न करने योग्य है और ऐसा करने पर साध्य अर्थात् उपादान कारण पृथ्वी का रूपवशात् सन्निवेश होता है ॥४३½—४४॥

यन्त्र-गुण —यन्त्रों की आकृति जिस प्रकार न पहचानी जा सके, उस प्रकार ठीक तरह से बीज-संयोग करना चाहिए। उनकी बहुत सुन्दर जड़ावट और सफाई होनी चाहिए। इस प्रकार यन्त्रों के निम्नलिखित गुण कहे गये हैं—सौश्लिष्ट्य, श्लक्ष्णता, निर्वहण, लघुत्व, शब्द-हीनता और जहां पर शब्द ही साध्य अर्थात् उपादान कारण हो, वहां पर आधिक्य, अशैथिल्य और अगाढ़ता कहे गये हैं। अन्यथा सभी वाहक-यन्त्रों में सौश्लिष्ट्य, अस्खलितत्व, अभीष्टार्थ-कारित्व, लयतालानुगामित्व, इष्ट-काल में अर्थ-दर्शित्व और फिर ठीक तरह से गोपन, अप्रकाशन, अनुल्वणत्व, ताद्रूप्य मसृणत्व (चिकनाहट), चिरकाल-सहत्व—ये सब यन्त्र-गुण है ॥४५-४६½॥

पहला भेद बहुतों को चलाने वाला और दूसरा भेद बहुतों से चलाये जाने वाला कहा गया है ॥४६॥

यन्त्रों का न दिखाई पड़ना और ठीक तरह से उनकी जड़ाई होना परम गुण कहा गया है ॥५०½॥

अब इस के बाद यन्त्रों के विचित्र-विचित्र कार्यों का यथाविधि न विस्तार से न सक्षेप से वर्णन करता हूं ॥५०½—५१½॥

किसी की क्रिया साध्य होती है और किसी का काल, और किसी का शब्द, और किसी की ऊंचाई अथवा रूप और स्पर्श। इस प्रकार कार्यवशात् क्रियायें तो अनन्त परिकीर्तित की गई है। ५१½-५२॥

क्रिया से उत्पन्न होने वाले भेद हैं—तिरछे ऊपर, नीचे, पीछे आगे अथवा दोनों बगलों में भी गमन, सरण और पात भद से अनेक भेद है।५३।

जहां तक यन्त्र से काल-ज्ञान की बात है वह काल, समय बताने वाले घटा-ताडनों के भेदों से अनेक भेद वाला होता है। यन्त्रों से उत्पादित शब्द विचित्र, सुखद, रतिकृत भी और भीषण भी होते है। उच्छ्राय गुण तो जल का होता है। कहीं पर पार्थिव में भी कहा जाता है ॥ ५४-५५½॥

गीत, नृत्य और वाद्य (गाना, नाचना और बजाना, पटह, वंश, वीणा, कांस्यताल (मजीरा), तुमला, करटा और भी जो बाजे विभावित होते हैं वे सभी यन्त्रों से उत्पन्न होते हैं।५५½-५७½॥

नृत्य में नाटकीय नृत्य होता है, उसके ताडव, लास्य, राज मार्ग और देशी ये सब भेद यन्त्र से सिद्ध होते है ॥५७½-५८½॥

उसी प्रकार स्वाभाविक चेष्टायें या विरुद्ध चेष्टायें व भी यन्त्र की सम्यक साधना से निष्पन्न होती हैं ।५८½-५६½॥

पृथ्वी पर रहने वालो की आकाश मे गति, आकाश मे चलने वालो की भूमि मे गति, मनुष्यो की विविध प्रकार की चेष्टायें तथा विविध मनोरथ मे सब यत्र के निर्माण से उत्पन्न होते है ॥५६½-६०॥

जिस प्रकार से असुर लोग हारे और जिस प्रकार से देवो के द्वारा समुद्र-मन्थन हुआ और उनका, नृसिंह भगवान् द्वारा हिरण्यकशिपु नामक दैत्य मारा गया, हाथियो का युद्ध और छोडना तथा पकडना और जो नाना प्रकार की चेष्टाय है और विविध प्रकार के धारा-गृह और विचित्र झूलो की केलिया और विचित्र रति-गृह और विचित्र सेना तथा कुटिया एव सेवक (Automatic) तथा विविध प्रकार की सच्ची और झूठी सभायें और इस प्रकार जितनी बाते हैं वे सब यन्त्र के कल्पन से सिद्ध होती हैं ।६१-६४॥

शय्या-प्रसर्पण यन्त्र —पाच भूमिकाओ अर्थात खण्डो का निर्माण कर पहिले खड मे स्थित शय्या प्रति पहर दूसर खडो मे प्रसर्पण करती हुई पाचवे खड मे पहुँच जाती है । इस प्रकार के चित्र विचित्र आश्चर्य, यन्त्र स ठीक सिद्ध होत है ॥६५-६६½॥

नाडी-प्रबोधन-यन्त्र —शय्यापरिसर्पण-यन्त्र कीर्तित हो चुका है, अब पुत्रिका नाडी-प्रबोधन यन्त्र का वर्णन करते है । क्रमश, तीन सौ आवत से स्थाली मे वह दन्तो को घुमाती है । उस क मध्य मे बनायी हुई पुतली प्रति नाडी मे जगावे और यन्त्र के द्वारा वह्नि का जल मे दर्शन, वह्नि के बीच से जल का निकलना, अवस्तु से वस्तुत्व, वस्तु से अन्य प्रकार की चीजें दिखाना एव सास म आकाश जाती है, एक सास में पृथ्वी आती है ॥६६½-६८॥

गोलक-भ्रमण यन्त्र —अब गोल-भ्रमण-यन्त्र का वर्णन है, जो सूर्यादि-ग्रहो की गति प्रदर्शन कराती है। क्षीर-सागर के मध्य मे एक सुन्दर शष-नाग के फण पर शय्या बनायी जाती है और सूची-विहित गोला सूर्य ग्रहो की प्रदक्षिणा करता हुआ दिन रात घूमता हुआ ग्रहो के दर्शन कराता है । लकडी के गज आदि रूप अथवा रथिक रूप मे दिखलाया गया मनुष्य नाडी के द्वारा घूम कर बाज की गति से चार कोश तक जाता है ॥ ६९-७१½ ॥

पृथ्वी तो निष्क्रिया है और उस में जो क्रिया है वह अंश में बचे हुए तीनों भूतों—वायु, जल, अग्नि में होती है। इस लिए वह क्रिया पृथ्वी में ही प्रयत्न-पूर्वक उत्पन्न करने योग्य है और ऐसा करने पर साध्य अर्थात् उपादान कारण पृथ्वी का रूपवशात् सन्निवेश होता है ॥४३½—४४॥

यन्त्र-गुण :—यन्त्रों की आकृति जिस प्रकार न पहचानी जा सके, उस प्रकार ठीक तरह से बीज-संयोग करना चाहिए। उनकी बहुत सुन्दर जड़ावट और सफाई होनी चाहिए। इस प्रकार यन्त्रों के निम्नलिखित गुण कहे गये हैं—सौश्लिष्ट्य, श्लक्ष्णता, निर्वहण, लघुत्व, शब्द-हीनता और जहां पर शब्द ही साध्य अर्थात् उपादान कारण हो, वहां पर आधिक्य, अशैथिल्य और अगाढता कहे गये हैं। अन्यथा सभी वाहक-यन्त्रों में सौश्लिष्ट्य, अस्खलितत्व, अभीष्टार्थ-कारित्व, लयतालानुगामित्व, इष्ट-काल में अर्थ-दर्शित्व और फिर ठीक तरह से गोपन, अप्रकाशन, अनुल्बणत्व, ताद्रूप्य मृसणत्व (चिकनाहट), चिरकाल-सहत्व—ये सब यन्त्र-गुण हैं ॥४५-४६½॥

पहला भेद बहुतों को चलाने वाला और दूसरा भेद बहुतों से चलाये जाने वाला कहा गया है ॥४६॥

यन्त्रों का न दिखाई पड़ना और ठीक तरह से उनकी जड़ाई होना परम गुण कहा गया है ॥५०½॥

अब इस के बाद यन्त्रों के विचित्र विचित्र कार्यों का यथाविधि न विस्तार से न संक्षेप से वर्णन करता हूं ॥५०½—५१½॥

किसी की क्रिया साध्य होती है और किसी का काल, और किसी का शब्द, और किसी की ऊंचाई अथवा रूप और स्पर्श। इस प्रकार कार्यवशात् क्रियायें तो अनन्त परिकीर्तित की गई हैं। ५१½-५२॥

क्रिया से उत्पन्न होने वाले भेद हैं—तिरछे, ऊपर, नीचे, पीछे आगे अथवा दोनों बगलों में भी गमन, सरण और पात भद से अनेक भेद है।५३।

जहां तक यन्त्र से काल-ज्ञान की बात है वह काल, समय बताने वाले घटा-नाडनों के भेदों से अनेक भेद वाला होता है। यन्त्रों से उत्पादित शब्द विचित्र, सुखद, रतिकृत भी और भीषण भी होते हैं। उच्छ्राय गुण तो जल का होता है। कहीं पर पार्थिव में भी कहा जाता है ॥ ५४-५५½॥

गीत, नृत्य और वाद्य (गाना, नाचना और बजाना, पटह, वंश, वीणा, कांस्यताल (मंजीरा), तुम्बल, करटा और भी जो बाजे विभावित होते हैं वे सभी यन्त्रों से उत्पन्न होते हैं ।५५½-५७½॥

नृत्य में नाटकीय नृत्य होता है, उसके ताण्डव, लास्य, राज-मार्ग और देशी ये सब भेद यन्त्र से सिद्ध होते हैं ॥५७½-५८½॥

उसी प्रकार स्वाभाविक चेष्टायें या विरुद्ध चेष्टायें वे भी यन्त्र की सम्यक साधना से निष्पन्न होती हैं ।५८½-५९½॥

पृथ्वी पर रहने वालों की आकाश में गति, आकाश में चलने वालों की भूमि में गति, मनुष्यों की विविध प्रकार की चेष्टायें तथा विविध मनोरथ ये सब यन्त्र के निर्माण से उत्पन्न होते हैं ॥५९½-६०॥

जिस प्रकार से असुर लोग हारे और जिस प्रकार से देवों के द्वारा समुद्र-मन्थन हुआ और उनका, नृसिंह भगवान्-द्वारा हिरण्यकशिपु नामक दैत्य मारा गया, हाथियों का युद्ध और छोड़ना तथा पकड़ना और जो नाना प्रकार की चेष्टायें हैं और विविध प्रकार के धारा-गृह और विचित्र झूलों की केलियां और विचित्र रति-गृह और विचित्र सेना तथा कुटिया एवं सेवक (Automatic) तथा विविध प्रकार की सच्ची और झूठी सभायें और इस प्रकार जितनी बातें हैं वे सब यन्त्र के कल्पन से सिद्ध होती हैं ।६१-६४॥

शय्या-प्रसर्पण यन्त्र —पांच भूमिकाओं अर्थात् खण्डों का निर्माण कर पहिले खंड में स्थित शय्या प्रति पहर दूसरे खंडों में प्रसर्पण करती हुई पांचवें खंड में पहुंच जाती है । इस प्रकार के चित्र विचित्र आश्चर्य, यन्त्र से ठीक सिद्ध होते हैं ॥६५-६६½॥

नाड़ी-प्रबोधन-यन्त्र.—शय्यापरिसर्पण-यन्त्र कीर्तित हो चुका है, अब पुत्रिका-नाड़ी-प्रबोधन-यन्त्र का वर्णन करते हैं । क्रमशः तीन सौ आवर्त से स्थाली में यह दलों को घुमाती है । उस के मध्य में बनायी हुई पुतली प्रति नाड़ी में जगाये और यन्त्र के द्वारा वह्नि का जल में दर्शन, वह्नि के बीच से जल का निकलना, अवस्तु से वस्तुत्व, वस्तु से अन्य प्रकार की चीजें दिखाना एक क्षण में आकाश जाती है, एक क्षण में पृथ्वी आती है ॥६६½-६९॥

गोलक-भ्रमण-यन्त्र —अब गोल-भ्रमण-यन्त्र का वर्णन है, जो सूर्यादि-ग्रहों की गति प्रदर्शन कराती है । क्षीर-सागर के मध्य में एक सुन्दर शेष-नाग के फण पर शय्या बनायी जाती है और सूची-विहित गोला सूर्य-ग्रहों की प्रदक्षिणा करता हुआ दिन रात घूमता हुआ ग्रहों के दर्शन कराता है । लकड़ी के गज आदि रूप अथवा रथिक रूप में दिखलाया गया मनुष्य नाड़ी के द्वारा घूम कर बाज की गति से चार कोस तक जाता है ॥ ६९-७१½ ॥

पुतली के द्वारा दीपक मे तेल डालने वाला यन्त्र है। बनी हुई दीपिका-पुत्तलिया नाल की गति से नाचती हुई धीरे २ दीप मे तेल डालती हैं। यत्र के द्वारा बनाया गया हाथी वह जाता हुआ नही दिखाई पडता। जब तक पानी दो तब तक वह निरन्तर पानी पीता रहता है। यन्त्र-शुक आदि बनाये गये जो पक्षी बार बार नाचते हैं, पढते हैं और मनुष्य का आश्चर्य करते है वे सब प्रमोद वितरण करते है। यन्त्र के द्वारा बनी पुतली अथवा गजेन्द्र अथवा घोडा अथवा वानर भी ताल से उलटते पलटते नाचते मनुष्य के मन को सुन्दर लगते हैं ॥७१½-७५½॥

जिस मार्ग से खेत धृत होता है उस मे वह पानी जाता है और आता है फिर उसी के समान गड्डे से पुष्करिणियो से पानी आता जाता है ॥७५½-७६½॥

फलक पर कौन बठती है, दौडती, है ताली बजाती है, और लड़ती है, नाचती है, गाती है, वाम आदि को बजाती है। वायु के बद हो जाने पर फिर छोड देने पर यन्त्र की मणियो की जो दिव्य और मानुष्य चेष्टाय होती हैं वे ही केवल नही और भी जो कुछ भी दुष्कर होता है यन्त्र के द्वारा सिद्ध होता है ॥ ७६½-७६½ ॥

यत्रो का निर्माण अज्ञानता-वश नही बल्कि छिपाने के लिए, नही कहा गया है। उसका कारण यह जानना चाहिये कि यत्र व्यक्त हो जाने पर फल-प्रद नही होते। इसी लिये यहाँ पर उनका बीज बता दिया गया बल्कि उनकी घटना निर्माण नही बताई गयी। क्योकि व्यक्त हो जाने पर न तो स्वार्थ-सिद्ध हो सकता है न कौतुक ही हो सकता है और वास्तव मे तो यत्रो के बीज अर्थात साधन कीर्तन करने से घटना आदि सभी कुछ कह दी गई है ॥७६½-८१ ॥

बुद्धिमान् लोगो को, अपनी बुद्धि से जैसा जो यन्त्रो का कर्म होता है, उस को समझ लेना चाहिए और जो यन्त्र देखे गये हैं और जो वर्णित किये गये हैं उन को भी समझ लेना अथवा अनुमान कर लेना चाहिए ॥८२॥

जो यत्र सुन्दर एव सुखद हैं उनको उपदेश के द्वारा बता दिया गया है। यह सब हमने अपनी बुद्धि से कल्पित कर लिया है। अब आगे पुरातनो (आचार्यो) के द्वारा जो प्रतिपादित किया गया है उसको कहता हू। यन्त्रो के सम्बन्ध मे चार प्रकार का बीज उन लोगो ने कहा। उनका प्रत्येक का विभाग जल, अग्नि, पृथ्वी और वायु के द्वारा बहुत प्रकार का कहा गया है और उनके पारस्परिक मिश्रण एव सार्व्य से फिर ये यन्त्र अगणित कहे जाते हैं। ससार में यन्त्रो से बढ कर

ग्रौर कौन सी आश्चर्य की बात है अथवा इस के अतिरिक्त और कौन सा तुष्टि का साधन है और आश्चर्य-जनक वस्तु है। इस से बढ कर कीर्ति का भी कौन सा स्थान है और यन्त्र के अतिरिक्त दूसरा काम-सदन या रति-केलि-निकेतन भी दूसरा नही है। इस से बढ कर पुण्य अथवा ताप शमन का और कौन सा उपाय है ॥८३—८५॥

मूत्र-धारो के द्वारा योजित बीज-योग अत्यन्त प्रीति देने वाले हो जाते है। भ्रान्ति-जनक और विस्मय-कारक लकड़ी से निर्मित दोला (झूला) आदि विस्मय-कारक चक्र है। अतः ये यन्त्रो का पांचवां बीज हुआ ॥८६॥

वही आदमी चित्र-विचित्र यन्त्रो का निर्माण करना जानता है जिस मे यह समग्र सामग्री होती है—परम्परागत कौशल, उपदेश-युक्त अर्थात् गुरु से अर्थात शास्त्राभ्यास, वास्तु-कर्म, उद्यम और निर्मल बुद्धि ॥८७॥

जो लोग चित्र-गुणो से युक्त यन्त्र-वास्त्राधिकार वाले इन पाचों बीजो को जानते है, अथवा जो इन बीजो को पूर्ण रूप से योजना करते हैं, उनकी कीर्ति स्वर्ग और भूमि दोनो पर फैलती है ॥८८॥

एक अंगुल से मित (नापा गया) और अगुल के एक पाद से ऊंचा, दो फुट वाला, गोल आकृति वाला, ऋजु, बीच मे छेद वाला, सुदृढ सन्धि वाला और मजबूत तांबे से निर्मित उसे सम्पादित करे। लकडी के बने हुऐ पक्षियो मे उसको उनके भीतर क्षिप्त कर निकलती हुई वायु के द्वारा चलने पर सुन्दर शब्द करता है और सुनने वालो के लिए आश्चर्य कारक होता है ॥८९-९०॥

सुदृढ दो खडो से सरन्ध्र (छेद-सहित) मध्य भाग मुरज नामक वाद्य-यन्त्र की आकृति के समान निर्मित कर दो कुण्डलो से ग्रस्त कर, बीच मे मृदु पुट देवे और पूर्वोक्त यन्त्र की विधि से इसके उदर के क्षिप्त होने पर शय्या-तल पर स्थित यह यन्त्र सचरण मे अनंग-क्रीडा के रसोल्लास करने वाली ध्वनि करता है और इस के शय्या-तल के नीचे रखने पर सुन्दर सुन्दर मनोमोहक विचित्र शब्द छोडता है जिससे मृग-शिशुओ के समान नेत्र वाली नायिकाओ का भय से मान चला जाता है और इन प्रेमासवतो, दयिताओ को अपने प्रिय के प्रति आसक्ति और अधिक २ काम-क्रीडायें प्रौढि को प्राप्त होती है ॥९१-९३॥

पटह, मुरज, वेणु, शख, विपंची, काहला, डमरु, टिविल, ये वाद्य-यन्त्र और आतोद्य-यन्त्र (Instruments by beating) बड़ा ही मधुर और विश-द्ध और उन्मुक्त वायु से भरे हुवे ध्वनि करन मे समर्थ होते हैं ॥९४॥

पुतली के द्वारा दीपक मे तेल डालने वाला यन्त्र है। बनी हुई दीपिका-पुत्तलिया ताल की गति से नाचती हुई धीरे २ दीप मे तेल डालती हैं। यंत्र के द्वारा बनाया गया हाथी वह जाता हुआ नही दिखाई पडता। जब तक पानी दो तब तक वह निरन्तर पानी पीता रहता है। यन्त्र-शुक आदि बनाये गये जो पक्षी बार बार नाचते हैं, पढते है और मनुष्य का आश्चर्य करते है वे सब प्रमोद वितरण करते हैं। यन्त्र के द्वारा बनी पुतली अथवा गजेन्द्र अथवा घोड़ा अथवा वानर भी ताल से उलटते पलटते नाचते मनुष्य के मन को सुन्दर लगते हैं ॥७१½-७५½॥

जिस मार्ग से खेत धृत होता है उस मे वह पानी जाता है और आता है फिर उसी के समान गड्ढे से पुष्करिणियो से पानी आता जाता है ॥७५½-७६½॥

फलक पर कौन बटती है, दौड़ती, है ताली बजाती है, और लड़ती है, नाचती है, गाती है, बाग आदि को बजाती है। वायु के बद हो जाने पर फिर छोड़ देने पर यन्त्र की भगियो की जो दिव्य और मानुष्य चेष्टाय होती हैं वे ही केवल नही और भी जो कुछ भी दुष्कर होता है यन्त्र के द्वारा सिद्ध होता है ॥ ७६½-७६½ ॥

यत्रो का निर्माण अज्ञानता-वश नही बल्कि छिपाने के लिए, नही कहा गया है। उसका कारण यह जानना चाहिये कि यंत्र व्यक्त हो जाने पर फल-प्रद नहीं होते। इसी लिये यहाँ पर उनका बीज बता दिया गया बल्कि उनकी घटना निर्माण नही बताई गयी। क्योंकि व्यक्त हो जाने पर न तो स्वार्थ-सिद्ध हो सकता है न कौतुक ही हो सकता है और वास्तव मे तो यत्रो के बीज अर्थात साधन कीर्तन करने से घटना आदि सभी कुछ कह दी गई है ॥७६½-८१ ॥

बुद्धिमान् लोगों को, अपनी बुद्धि से जैसा जो यन्त्रो का कर्म होता है, उस को समझ लेना चाहिए और जो यन्त्र देखे गये हैं और जो वर्णित किये गये हैं उन को भी समझ लेना अथवा अनुमान कर लेना चाहिए ॥८२॥

जो यत्र सुन्दर एव सुखद हैं उनको उपदेश के द्वारा बता दिया गया है। यह सब हमने अपनी बुद्धि से कल्पित कर लिया है। अब आगे पुरातनो (आचार्यों) के द्वारा जो प्रतिपादित किया गया है उसको कहता हूँ। यन्त्रो के सम्बन्ध मे चार प्रकार का बीज उन लोगो ने कहा। उनका प्रत्येक का विभाग जल, अग्नि, पृथ्वी और वायु के द्वारा बहुत प्रकार का कहा गया है और उनके पारस्परिक मिश्रण एव साकर्य से फिर ये यन्त्र अगणित कहे जाते हैं। ससार में यन्त्रो स बढ़ कर

और कौन सी आश्चर्य की बात है अथवा इस के अतिरिक्त और कौन सा तुष्टि का साधन है और आश्चर्य-जनक वस्तु है। इस से बढ़ कर कीर्ति का भी कौन सा स्थान है और यन्त्र के अतिरिक्त दूसरा काम-सदन या रति-केलि-निकेतन भी दूसरा नहीं है। इस से बढ़ कर पुण्य अथवा ताप शमन का और कौन सा उपाय है ॥८३—८५॥

सूत्र-धारों के द्वारा योजित बीज-योग अत्यन्त प्रीति देने वाले हो जाते हैं। भ्रान्ति-जनक और विस्मय-कारक लकड़ी से निर्मित दोला (झूला) आदि विस्मय-कारक चक्र है। अतः ये यन्त्रों का पांचवां बीज हुआ ॥८६॥

वही आदमी चित्र-विचित्र यन्त्रों का निर्माण करना जानता है जिस में यह समग्र सामग्री होती है—परम्परागत कौशल, उपदेश-युक्त अर्थात् गुरु स अर्थात् शास्त्राभ्यास, वास्तु-कर्म, उद्यम और निर्मल बुद्धि ॥८७॥

जो लोग चित्र-गुणों से युक्त यन्त्र-शास्त्राधिकार वाले इन पांचों बीजों को जानते हैं, अथवा जो इन बीजों की पूर्ण रूप से योजना करते है, उनकी कीर्ति स्वर्ग और भूमि दोनों पर फैलती है ॥८८॥

एक अंगुल से मित (नापा गया) और अंगुल के एक पाद से ऊंचा, दो पुट वाला, गोल आकृति वाला, ऋजु, बीच में छेद वाला, सुदृढ़ सन्धि वाला और मजबूत तांबे से निर्मित उसे सम्पादित करे। लकड़ी के बने हुए पक्षियों में उसको उनके भीतर क्षिप्त कर निकलती हुई वायु के द्वारा चलने पर सुन्दर शब्द करता है और सुनने वालों के लिए आश्चर्य कारक होता है ॥८९-९०॥

सुदृढ़ दो खंडों से सरन्ध्र (छेद सहित) मध्य भाग मुरज नामक वाद्य-यन्त्र की आकृति के समान निर्मित कर दो कुण्डलों से ग्रस्त कर, बीच में मृदु पुट देवे और पूर्वोक्त यन्त्र की विधि से इसके उदर के क्षिप्त होने पर शय्या-तल पर स्थित यह यन्त्र सञ्चरण से अनंग-क्रीडा के रसोल्लास करने वाली ध्वनि करता है और इस के शय्या-तल के नीचे रखने पर सुन्दर सुन्दर मनोमोहक विचित्र शब्द छोड़ता है जिससे मृग शिशुओं के समान नेत्र वालों नायिकाओं का भय से मान चला जाता है और इन प्रेमासक्तों, दयिताओं को अपने प्रिय के प्रति आसक्ति और अधिक २ काम-क्रीडायें प्रौढ़ि को प्राप्त होती है ॥९१-९३॥

पटह, मुरज, वेणु, शंख, विपंची, काहला, डमरु, टिविल, ये वाद्य-यन्त्र और आतोद्य-यन्त्र (Instruments by beating) बड़ा ही मधुर और चित्त-हृद्य और उन्मुक्त वायु से भरे हुवे ध्वनि करने में समर्थ होते है ॥९४॥

अम्बरचारि-विमान-यन्त्र —अब अम्बरचारि-विमान-यन्त्र का वर्णन करते है । छोटी लकडी से बनाया गया महा विहंग बना कर और उसके शरीर को दृढ और सुश्लिष्ट अर्थात् खूब मटा और जुड़ा हुआ बना कर उस के अन्दर पारा रक्खे और उस के नीचे अग्नि के स्थान को अग्नि से पूर्ण करे और उसमे बैठा हुआ पुरुष उसके दोनो पक्षो के संचालन से प्रोज्झित वायु के द्वारा भीतर रक्खे हुए इस पारद की शक्ति से आकाश में आश्चर्य करता हुआ दूर तक चला जाता है। इसी प्रकार से यह बडा दारु-विमान सुर-मन्दिर के समान चलता है और विधि पूर्वक इसके भीतर चार पारे से भरे हुए दृढ कुम्भो को रक्खे। लोहे के कपाल में रक्खी हुई मन्द वह्नि के द्वारा तपे हुए (तप्त) कुम्भो से उत्पन्न गुण से सन्तप्त और गर्जन करता हुआ पारद की शक्ति से आकाश का अलंकार बन जाता है अर्थात् आकाश में उड जाता है ॥९५—९८॥

सिंहनाद-यन्त्र —अब लोहे के यन्त्र को खूब ठीक तरह से कसकर और उसके अन्दर पारद को रखकर और फिर वह ऊंचे प्रदेश मे रक्खा हुआ सिंहनाद मुरज (वाद्य-विशेष) की ध्वनि करता है। इस नर-सिंह की महिमा विलक्षण है। इसके सामने मद और जल को छोडने वाले हाथियों की घटायें भी इसके गम्भीर घोष को बार-बार सुन कर अंकुश की भी परवाह न कर शीघ्र भागने लगते है ॥९९-१००॥

इस में हाथियों की जलक्रीडा करते हुए एक दूसरे की सूड से छोड़े गये सीकरों (जलकणों) से बन्द हो गए हैं नयन जिन के ऐसे जोड़ों को दिखाना चाहिए ॥१३४॥

इस प्रेमास्पद यन्त्र में वर्षा का अनुकरण करने वाला हाथी दूसरे हाथी को देख कर नाक, गण्ड-स्थल, मेहन और हाथों से मद के समान वर्षानुकूल जल को छोड़ता हुआ दिखलाना चाहिए। १३५।

वहा पर कोई ऐसी स्त्री बनावे, जो अपने दोनों स्तनों से दो जल-धारायें निकाल रही हो और वही सजल बिन्दुओं को आनन्दाश्रु-कणों के समान अपनी पलकों से निकाल रही हो ॥१३६॥

कोई स्त्री ऐसी दिखाई जाय, जो अपनी नाभि-रूपी नदी से धारा को निकाल रही हो और कोई अगुलियों की नखाशुओं के समान धाराओं से सिंचन कर रही हो। इस प्रकार के आश्चर्य-कारक स्वभाव-चेष्टायें और बहुत से रमणीय क्षोभों का निर्माण कर के स्वर्पति राजा के लिए मनोरंजन करे। ॥१३७-१३८॥

उसके मध्य मे निर्मल स्वर्ण और मणियों से निर्मित सिंहासन बनाना चाहिए और उस पर नरपति, अवनिपति, श्रीपति, देव (अर्थात् राजा जी) बैठें ॥१३९॥

कभी ? इस मे उसको स्नान करावे और मगल-गीतों से अपने आनन्द को बढ़ाता हुआ वादित्र और नाट्य निपुणों (गाने वालों, बजाने वालों, नकल करने वालों) से सेवित वह राजा साक्षात् इन्द्र के समान आनन्द का भोग करे ॥१४०॥

जो राजा भीषण गर्मी मे स्फुट जल-धारा वाले इस धारा-गृह में सुख-पूर्वक बैठता है और विविध-प्रकार की जल-कारीगरी को देखता है वह मर्त्य नहीं वरन पृथ्वी पर निवास करने वाला साक्षात् सुरपति इन्द्र है ॥१४१॥

प्रवर्षण :—पहिले की तरह मेघों के आठ कुलों (पुष्कारावर्तकादि) से युक्त दूसरा जल घर बनावे। बरसती हुई धाराओं के निकरों (समूहों) के कारण इसका नाम प्रवर्षण पड़ा है ॥१४२॥

इस में मेघों के प्रतिकूल मे दिव्य अलंकार धारण करने वाले सुदृढ एव सुन्दर तीन चार अथवा सात विधि-पूर्वक पुरुषों का निर्माण करे ॥१४३॥

फिर चौथे समोच्छ्राय-यन्त्र स उन टेढी नाली वाले उन पुरुषों को निर्मल जलों से पूरित करे ॥१४४॥

पुरुषों के सम्पूर्ण सलिल-प्रवेश वाले छेदों को बंद कर तदनन्तर उनके जल निकालने वाले अंगों को खोल दे ।।१४५।।

पुरुष-द्वार-प्रतिरोध और मोचनों से टेढ़े नल से निकले हुए पानी आश्चर्य-कारक पात से आश्चर्य-कारक स्वेच्छापूर्वक जल को छोड़ते हैं। ।।१४६।।

इस प्रकार इन जल-धारण करने वाले सब पुरुषों से अथवा दो से अथवा तीन से महान् आश्चर्य विधायक स्वेच्छापूर्वक प्रवर्षण करावे ।।१४७।।

यह नाना आकार वाला, रति-पति कामदेव का प्रथम कुल-भवन विचित्र पदार्थों का निवास और मेघों का एक ही अनुकरण ग्रीष्म में जल के पात से सूर्य के ताप का शमन करने वाला किन लोगों के नयनों का आनन्द दायक नहीं होता (अर्थात् सभी के लिये होता है) ।।१४८।।

प्रणाल —अब प्रणाल-नामक जल घर का वर्णन किया जाता है। एक, चार अथवा आठ अथवा बारह अथवा सोलह खम्भों से दुतल्ला मनोहर घर बनावे। सब दीवालों से युक्त चौकोर चार भद्रों से युक्त ईली-तोरण-युक्त पुष्पकाकार इसे बनाना चाहिये। उसके ऊपर बीच में एक सुदृढ़ प्रांगण-वापी बनावे और उसके बीच में कमलों से सुशोभित कणिका का निर्माण करे और उसके चारों कोनों पर वापी के मध्य भाग में खिले हुए कमल पर लगाये हुए आंखों वाली, अलङ्कार धारण किये और विभिन्न शृंगार किये रमणीय दारु-दारिकाओं का निर्माण करना चाहिये ।।१४९-१५२।।

पूर्वोक्त यन्त्र के क्रम से पद्मासन पर राजा के बैठने पर फिर भद्रों के निर्मल जल से आंगन की वापी को भरे और फिर उस वापी को भर कर फिर उस जल को उसके निकट नट्ट नभों में ले आया जाय। पुनः उस में सुगन्धि की योजना करें। मुख के कपड़े से गम्भीर्य रूप वाले चित्र-विचित्र नासिका, मुख, कान, नेत्र, आदि अखिल अंगों से जल छोड़ा जाता है। प्रणाल-नाम का यह अद्भुत धारा-भवन जिस राजा के प्रांगण प्रदेश में स्थित होता है अथवा जो स्थपति अपनी चतुर बुद्धि से इसका निर्माण करता है, ये दोनों ही (राजा और राज) संसार में बड़े यशस्वी होते हैं।।१५३—१५६।

जलमग्न— चौकोर, बहुत गहरी, सुदृढ़, मनोरम वापी बनाके फिर उसका घर जमीन के नीचे, भित्तियों को लिप्त करके, निर्माण करे। सुरंग में निवेशित द्वार से सुन्दर पुरुषों के द्वारा ऊपर जल लाया जावे ।।१५७ १५८।।

चित्राध्याय में वर्णित क्रम से फिर चित्र से अलकृत इसका मध्य भाग वरुण-धाम के समान बनावे ॥१५९॥

उस कपड़े के नाल से उत्पन्न उन नल वाले ऊपर निकले हुए कमलों में सछिद्र कर्णिका-स्थित सूर्य किरणो के द्वारा विकास कराया जाय ॥१६० ।

निर्मल कमलो तक गिरते हुए जल से उसे पूरा किया जाय और इसी विधि मे ठीक तरह से सुन्दर भवन का निर्माण करके नाना सजावट से युक्त आंगन का तोरण-द्वार बनावे और चारो दिशाओ मे लम्बी चौड़ी शालायें बना कर शोभा करे । बनावटी मछली, मगर और जल-पक्षियो से युक्त और कमलो से युक्त उस वापी को इस तरह से बनावे कि मानो वे सब जीव-जन्तु एव पक्षी सच्चे ही हों ॥१६१—१६३॥

सामन्त लोग प्रधान पुरुष राजा की आज्ञा प्राप्त कर आश्रय लेने वाले दूसरे रास्तो मे आये हुए दूत यहा पर एकान्त मे बैठें ।१६४॥

तदनन्तर पूर्वोक्त मार्ग से निरूपित विभिन्न रूपों की जल-क्रीडा को देख कर मुदित नृपति पर्यंकारोहण करे ॥१६५॥

वहा पर जल-भवन मे वारागनाओ से चारो तरफ घिरे हुए राजा का पाताल-गृह मे जिस प्रकार भुजगेश्वर शेष-नाग का प्रमोद होता है उसी के समान उसका अत्यधिक आनन्द वाला प्रमोद होता है ॥१६६॥

नन्द्यावर्त्त —पूर्वोक्त वापिका मे मध्य भाग मे चार खम्भो से निर्मित मोती-मूगो से युक्त पुरुष और लटभ का निर्माण करे । वापी के चारो ओर खूब निकलते हुए पानी से सुदृढ पुष्पक को भर कर अन्दर स्वस्तिक दीवालों से चारो ओर शोभा करावे । पूर्वोक्त जल-योग से कान तक पानी भरा कर जल-क्रीडा के लिये उत्कण्ठित राजा पुष्पक पर जाए और फिर वहा पर विदूषकों और वार-विलासिनियो के साथ उस दीवाल के अन्दर होकर जल मे डूबने और निकलने की क्रीडा करे ॥१६७– १७०॥

एक जगह डूबते हुए, दूसरी जगह पानी से मार कर नष्ट होते हुए केलि करने वाले सहायको के साथ राजा खूब खेलता है और आनन्द लेता है ।।१७१॥

वापी-तल मे स्थित, लज्जा से झुके हुए कर-पल्लव से अपने स्तन-भाग को ढके हुए, शरीर से गाढासक्त वस्त्र वाली जलरोध को छोड़ने वाली ऐसी प्रणयिनी को जो आदमी देखता है, वह धन्य है ॥१७२॥

दोला-यन्त्र :–जो पांचवा बीज-संयोगात्मक यन्त्र-भ्रमणक-कर्म कीर्तित किया गया है ; अब दारू-निर्मित उस रथ-दोला आदि के विधान को ठीक तरह से कहता हू । उनमे वसन्त, मदन-निवास, वसन्त-तिलक, विभ्रमक तथा त्रिपुर नाम वाले ये पांच झूले कहे गए हैं ॥१७३—१७४॥

वसन्त :—ऋजु, सुदृढ एक सूत्र वाले चार खम्भो को खचित करे, भूमि-वश उनके अवकाश बराबर हों और सुश्लिष्ट तथा पीठगत हो । प्रासाद की उक्त दिशा से अर्थात् प्रकार से आठ हस्तों से उस का दैर्घ्य सम्पादन करे और उसके आगे से गहरा रमणीय भूमि-गृह बनावे ॥१७५–१७६॥

उस के गर्भ मे भ्रम-सहित, पीठ-सहित और छादक तुलाओं से ग्रस्त लोहे का खम्भा स्थापित करे ॥१७७॥

पीठ के ऊपर खूब मजबूत विभक्त कुम्भिका स्थापित कर, फिर उस को धनुष की ऊंचाई में आठ भद्रो से घेरे । इसके उपरान्त इसके ऊर्ध्व भाग मे ऋजु स्वेच्छा पूर्वक भूमिका की ऊंचाई बनावे और वेष्टन के ऊपर पट्टयुत स्तम्भ-शीर्ष रक्खे । हीर-ग्रहण तक मदला गज-वीथिका बनानी चाहिए । वह खूब मजबूत हो, प्रयत्न से बनाई गई हो और मनोज्ञ हो ॥१७८–१८०॥

पट्ट के ऊपर असीम क्षेत्र के मान (प्रमाण) से रथिया (चतुष्किका) बनावे और उसके ऊपर मजबूत तल-बन्ध निर्माण करे ॥१८१॥

तदुपरान्त क्षेत्र में युक्ति से उठाए हुए, सुन्दर बारह खम्भो से रूपवती-कोणस्थिति से अधिक, पहली भूमि बनावे ॥१८२॥

उस के मध्य मे गर्भ-स्तम्भ-प्रतिष्ठित भ्रम की रचना करे और पश्चात् क्षेत्र-मान से उसको वस्त्रो से ढक दे ॥१८३॥

रथिका के दिशा के अग्र-भागो मे फलकावरण के ऊपर स्तम्भ के मध्य पाच भ्रम-चक्रों का न्यास करे ॥१८४॥

इस के ऊपर पुष्पक की आकृति की सुशोभित भूमि का निर्माण करे, उस आधार मध्य का स्तम्भ होता है और उस के सिर पर बनाये हुए कलश सुशोभित होते हैं। खम्भ के नीचे घुमाए जाने पर अर्ध भूमिका उसमें खूब घूमती है । वह अर्धभूमिका चक्र-यन्त्र से ऊपर ऊपर रथिका-भ्रमर से युक्त हो कर घूमती है ॥१८५–१८६॥

इस प्रकार वसन्त-रथिका-भ्रम-नामक झूले मे बैठी हुई वार-विलासिनियो के परिभ्रमण से उत्पन्न अधिक विभ्रम वाला मदनोत्सव जो

स्वर्ग मे कहा गया है, वैसा ही वसन्त के समय अमल कीर्तिवाला यह धाम राजा के लिये होता है। १८७।

मदन-निवास :—इसके बाद बिना नींव के एक स्थिर, खम्भे का आरोपण कर फिर इसके ऊपर चार हाथ ऊंची भूमिका बनावें ॥१८८॥

मध्य मे भ्रमरक-युक्त बनावें और शेष पहले के समान यहा पर भी निवेश करें और स्तम्भ में पुष्पक को भी कलश से ऊंचा और शिथिल न्यास करे। उस के ऊपर चार आसनो से युक्त ग्रीवा का निर्माण करे और फिर वहा पर बड़े बड़े दो घण्टा-स्तम्भो का निर्माण करे ॥१८९–१९०॥

इस प्रकार पुष्पक-भूमिकाओ के भीतर बैठा हुआ गुप्त जन तब तक भ्रामक यन्त्र-चक्र-समूह को क्रमशः चलाये जब तक रथिका पर बैठी हुयी मृगनयनियां पुष्पक में सब की सब काम-वासना से कौतूहल से अर्पित आखो वाली घुमाई जाने लगें ॥१९१॥

वसन्त-तिलक :—इस के बाद सब चार कोनो पर ऋजु एवं सुदृढ चार खम्भो को निवेशित करे और भूमि के अनुसार बराबर अन्तर पर पृष्ठ-भूमि पर उन्हे स्थापित करे। उनके ऊपर तलान्तर-संयुक्त भूमिका बनानी चाहिए और प्रत्येक दिशा मे स्थापित पहले की तरह वहा पर चार रथिकायें बनाई जाती है। उस के ऊपर सुश्लिष्ट दारु-संघानित अग्र-भूमि का निर्माण करना चाहिए। उस का मध्य भाग भ्रमरक-युक्त और मत्तवारण-युक्त एवं रूपको युक्त होना चाहिए ॥१९२–१९४॥

परस्पर यन्त्र के परिवर्तन से चलायमान अखिल चक्रो की रथिकाओ के भ्रमण से सुन्दर इस वसन्त-तिलक झूले को देख कर सुर-मन्दिरों के भूपायमान कौन विस्मय को प्राप्त नही होता ॥१९५॥

विभ्रमक :—पहली रंगभूमि बना कर चौकोर चार-भद्रा वाली रूपवती भूमि का निर्माण करे ॥१९६॥

इस के भद्रो से प्रत्येक कोने पर भ्रमर-संयुत होते हैं और भूमि के ऊपर आठ आसन वाले भ्रमरो का निर्माण करे ॥१९७॥

बाहर भीतर और बहुत सी चित्र-विचित्र शुद्ध रेखाओं को खचित करे। फिर पीठो में मध्य भाग मे स्थित दूसरी भूमिकाओ का निर्माण करे ॥१९८॥

पीठ के मध्य-भाग मे स्थित परस्पर निकट योजित चक्रो से सब भ्रमर

शीघ्रता से घूमने लगते हैं। स्वर्ग मे बैठने के समान झूले पर बैठा हुआ वह राजा वारि-विलासिनियो के द्वारा सम्भृत चित्र-विचित्र विभ्रम से जोहर्ष को प्राप्त करता है तथा उसकी कीर्ति तीनों लोको मे समुल्लसित होती हुई समाती नही है ॥१९९—२००॥

त्रिपुर :—अब क्षेत्र को चौकोर बना कर आठ अंशो से विभाजित कर शेष कोणो के द्वारा चौकोर भद्र का कल्पन करे ॥२०१॥

उस से दुगुनी भूमिकाओ की भाग-सख्या से इसका ऊर्ध्व-भाग निर्मित करे। वहा पर भूमिका की ऊंचाई चार अंश की हो। २०२।

वहा पर आठ, छै, चार भागो से वर्जित ऊपर २ भूमिकायें क्रमशः होती है और उन मे से तीन अर्ध-सयुत होती हैं। शेषाश से उच्छ्राय-युक्ता चतुरश्रायता घण्टा बनानी चाहिए। तीसरी और चौथी भूमि का निर्माण ६ और ४ भागो के विस्तार से करना चाहिए। प्रथम भूमि मे रंग, दूसरी भूमि मे कोनो मे रथिकाय और वहा पर भद्रो की आकृति से युक्त रमणीय दोला भी हो ॥ २०३—२०५ ॥

तीसरी भूमि में भद्रों में अतिरमणीय रथिकायें बनानी चाहिए। कोनो में आसन और अन्य अर्ध-वास्तुक में भी भ्रम का न्यास करे ॥२०६॥

चार आसन वाले दोला-रथिक में आठ आसन वाला भ्रम होता है। आसन से यहा पर अभिप्राय है कि वह युवती का एक स्थान होवे। २०७।

जो सब आसन भ्रमण सन्मुख घूमते है वे सारे के सारे आसन एक प्रकार से भ्रम ही हैं ॥२०८॥

यष्टि के ऊर्ध्व भाग में भ्रम के नीचे एक चक्र को योजित करे और उसी प्रकार यहा पर आसनो में लघु चक्रो का नियोजन करे ॥२०९॥

लघु चक्राकार वृत्त मे (चौकोर गोले में) कीलो को लगाना चाहिए और वह समान अन्तर पर सभी छोटे चक्र के वृत्त दिखाई पडने चाहिए ॥२१०॥

रथिका का ऊपर का चक्र भ्रम-चक्र से विनियोजित करे और इस में दो चक्रो से युक्त चार यष्टिया टेढी २ लगावे ॥२११॥

रथिका-यष्टि-भ्रम में सलग्न यन्त्रो को द्वितीय भूमि के ऊपर और तृतीय भूमि के अन्तर में करना चाहिए ॥२१२॥

आसन की आधार-यष्टियो के नीचे समान अन्तर पर रथिका-चक्रो से योजित चार परिवर्तनों का निर्माण करे ॥२१३॥

उसी प्रकार द्वितीय भूमि दोला-गर्भ मे दो समानान्तर यष्टियों का निर्माण करना चाहिए, जिस मे एक २ पहिया लगा हो और इनका दक्षिण और उत्तर के चक्रो मे न्यास करे। इसी प्रकार नीचे भू-कोण तक आने वाली रथिका-समूह के अग्र-चक्र मे लगी हुई दो दो पहियो वाली चार यष्टियो का दूसरी दिशाओं के चक्रो में न्यास करे। प्रान्त के दोनो चक्रो में कोनो की रथिका-चक्र मे योजित दोला के गर्भ में आने वाली दूसरी दो यष्टिया तिरछी बनानी चाहिए। पूर्व-भद्र में सोपानो से शोभित द्वार-निर्माण करे और नीचे गर्भ के पश्चिम भाग में देवता-दोला का निवेश करे ॥२१४–२१७॥

इच्छानुसार छोडा जाने वाला चक्र-भ्रम विधान-पूर्वक ठीक तरह से जानकर शीघ्र चलने वाला अथवा मन्द चलने वाला प्रयोजित करे ॥२१८॥

सक्षेप से जहा तक हो सका हमने इस प्रकार से भ्रम-मार्ग कीर्तित किया। दूसरो में उसी तरह भ्रम-हेतु के लिए ठीक तरह से करना चाहिए ॥२१९॥

दृढ और चिकने स्तम्भ-आदि द्रव्यो के विन्यासो मे कल्पित सुश्लिष्ट सन्धि-बन्ध वाला बडे मुख्य-स्तम्भो से धारण दिया गया, तिलको से परिवारित और चारो तरफ सिंहकर्णों से युक्त, अपने चित्रों से विचित्र रूप वाला त्रिपुर नाम का दोला ठीक तरह से बनावे ॥२२०-२२१॥

बुद्धि से निर्मित और पूर्व यत्रो से युक्त जो मनुष्य इस यंत्राध्याय को ठीक तरह से जानता है, वह वाञ्छित मनोरथो को ठीक तरह से प्राप्त करता है और प्रतिदिन राजाओं के द्वारा पूजित होता है ॥२२२॥

जिस राजा के भुज-स्तम्भो से प्रतिबद्ध (रोकी गयी) वृत्ति वाला यह सम्पूर्ण द्वादश राज-मण्डल इच्छा से घूमता है ॥ श्रीमान् भुवन में एक ही राम नाम के राजा ने इस यन्त्राध्याय को अपनी बुद्धि से रचित यन्त्र-प्रपचो के साथ बनाया है ॥२२३॥

पंचम पटल

चित्र-लक्षण

अथ चित्रोद्देश-लक्षण

अब इसके बाद हम लोग चित्र-कर्म का प्रपंच करते है, क्योकि चित्र ही सब शिल्पो का प्रधान अंग तथा लोक प्रिय-कर्म है ॥१॥

चित्रोद्देश :—पट्ट पर अथवा पट पर अथवा कुड्य (दीवाल) पर चित्र-कर्म का जैसा सम्भव है और जिस प्रकार की वर्तिया, कृत-बन्ध और लेखा-मान होते है, वर्ण का जैसा व्यतिक्रम, जैसा वर्तना-क्रम, मान, उन्मान की विधि, तथा नव-स्थान-विधि, हस्तो का विन्यास—उन सबका प्रतिपादन किया जाता है। स्वर्गियो का, देवादिको का, मनुष्यो का तथा दिव्य-मानुष-जन्मा व्यक्तियो का, गण, राक्षस, किन्नर, कुब्ज, वामन एवं स्त्रियो का विकल्प आकृति-मान और रूप-संस्थान, वृक्ष, गुल्म, लता, वल्ली, वीरुध, पाप-कर्मा व्यक्ति, शूर, दुर्विदग्ध धनी, राजा, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्रजाति, क्रूर-कर्मा मानी, रंगोपजीवी—इन सब का वर्णन किया जाता है। सतियो का, राज-पत्नियो का रूप, लक्षण, वेष-भूषा (नेपथ्य), दासियो, सन्यासिनियो, रांडो, भिक्षुणियो आदि अथच हाथियो, घोडो मकर, व्याल, सिंह तथा द्विजो का भी वर्णन किया जाता है। इसी प्रकार रात दिन का विभाग और ऋतुओ का भी लक्षण तथा योग्यायोग्य-व्यवस्था का भी प्रतिपादन आवश्यक है। देवो का प्रविभाग और रेखाओ का भी लक्षण, पाच भूतो का लक्षण और उनका आरम्भ भी बताया जायेगा। वृक आदि हिंसक जन्तुओ, पक्षियों और सब जल-वासियो के चित्र-न्यास-विधान का अब लक्षण कहता हूं ॥२—१२॥

चित्राङ्ग —जिसे चित्र-कर्म मे वर्ता जाता है उसके सब अंगो का सविस्तार वर्णन किया जाता है। पहला अंग वर्तिका, दूसरा भूमि-बन्धन, तीसरा लेख्य, चौथा रेखा-कर्म, पाचवा वर्ण-कर्म, छठा वर्तना-क्रम, सातवा लेखन और आठवां रसावर्तन ॥१३—१५॥

चित्र-कर्म का यह संग्रह जो क्रमशः सूत्रित करता है वह कभी मोह को नही प्राप्त होता है और वह कुशल चित्रकार होता है ॥१६॥

अथ-भूमिबन्धन-लक्षण-

अब वर्तिका का लक्षण और भूमि-बन्धन का लक्षण वर्णन किया जाता है ॥१॥

गुल्मो के अन्तर मे, शुभ क्षेत्र में पद्मिनो मे, नदी के तट पर, पर्वतो के वक्षो मे, वापिका और वनो के अन्तर में और वृक्षो के मूलो मे जहा पर भौम लवण-पिण्ड हो, इन क्षेत्रो मे जो मृत्तिका स्थिर, सुश्लिष्ठ (चिकनी) पाण्डर तथा शर्करामयी होने पर मृदु एव चित्र-बन्धोपयोगिनी हो इस प्रकार क्षेत्रानुसार मृत्तिका शुभ बनाई गई है। उसको कूट कर पीसे फिर कल्क बनावे। भात का अर्थात् शालिभक्त का पूर्वोक्त भाग वहा परा देना चाहिये। ग्रीष्म-ऋतु मे सातवा भाग, शीतकाल मे पाँचवा, शरद् मे छटा और वर्षा मे चौथा भाग ग्रहण करे। वर्तिका-बन्धन के लिये इस प्रकार की मृत्तिकायें दृढता को प्राप्त होती हैं। पुन कल्क-बन्धन मे पूर्ण कौशल की अपेक्षा होती है। रेखा-वर्तन मे—शिक्षा-काल मे, वर्तिका दो अगुल के प्रमाण से बनाई जाती है। कुछ रेखाओं मे वर्तिकायें तीन अगुल की बताई गई हैं। जहा तक पट-चित्र मे रेखाओ का प्रश्न है, उन मे चार अगुल के प्रमाण से करना चाहिये ॥१-६½॥

भूमि-बन्धन :—अब भूमि-बन्धन-क्रिया का वर्णन करूगा। भूमि-बन्धन अर्थात् pictorial back-ground मे विशेष कर जो आवश्यक एव अनिवार्य सामग्री होती है उसी से भूमि-बन्ध किया जाता है। पूर्ण नक्षत्र-वारो मे और माङ्गल्य दिवसो मे वास करके कर्ता, भर्ता और शिक्षक नाना वर्ण के सुगन्धित कुसुमो से और सुगन्धित धूपो से पूजन करके उसका आरम्भ करें। सर्व-प्रथम मान उन्मान-प्रमाण के अनुरूप भूमि आदि सब सामग्री का निक्षेप एव साधन जुटाकर पहले भूमि का विधान करे पुन: सम्यक् आलोचन करके बुद्धिमान को फिर इस भूमि-क्रिया का आलोचन करके पश्चात् बन्धन-विधान करना चाहिये। कल्क के आचरण में गेहू व तडुल के सदृश अथवा तादृश मृत्तिका पीसकर कल्क बनाना चाहिये। फिर उसका पिण्ड बनाकर उसको धूप में सुखाना चाहिये। सुखाने के साथ साथ उसे श्रपण भी करे तथा गोला भी बनाता रहे। इस प्रकार

से चारों कोनो से इसे सात दिन तक घिसना चाहिये फिर हाथ से उसे मलना चाहिये जिससे यह भौम लवण पिण्ड हो जावे। अथवा शिक्षिका-भूमि पर खर-बन्धन का निर्माण करना चाहिये। तथा पूर्वोक्त वल्क के निर्यास में बन्धन को फेंकना चाहिये। ग्रीष्म काल में पांच भाग भी प्रशस्त कहा गया है शरद् में ३½ अंशों से विधानं है। अथच वर्षा-काल में एक भाग के प्रमाण से देना चाहिये यह निश्चित क्रम है। पांचो भाग के प्रमाण से ग्रीष्म में विधान है। पूर्वोक्त विधान से भूमि में बन्धन करना चाहिये। और रोमकूर्च (बुरुश) से सूखी सूखी का क्रमश: लेप करना चाहिये। इस प्रकार विचक्षणों को जल से हस्त-लाघव देना चाहिये। इस प्रकार से बनाया गया शिक्षिका-भूमि बन्धन श्रेष्ठ कहलाता है॥१६½—२३॥

कुड्य-भूमि-बन्धन—अब कुड्य-भूमि के बन्धन का यथावत् वर्णन करते हैं। स्नुही-वास्तुक, कूष्माण्ड कुद्दालो—इन वस्तुओं को लाए, अपामार्ग अथवा गन्ने के रस में अथवा दुग्ध में उनको सात रात तक रक्खे। शिंशपा, सन और निम्बा तथा त्रिफला और बहेड़ा इन का यथालाभ समान समान भाग लेकर और कुटज का कषाय-क्षार-युक्त सामुद्रिक नमक से पहले कुड्य (दीवाल) को बराबर बनाकर फिर इन कषायो से सींचे। फिर स्थूल पाषाण वर्जित चिकनी मिट्टी लाकर दुगना न्यास करके, बालुका-मृदा (बालुकामयी मिट्टी) का क्षोदन करना चाहिये। फिर ककुभ, माष (उड़द), शाल्मली श्रीफल इनका रस कालानुसार देना चाहिये। पूर्वकालानुसार से जिस प्रकार का भूमि-बन्धन बताया गया है उसी प्रकार का सब बालू से एकत्र करके पहले हाथी के चमड़े की मोटाई के बराबर दीवाल को लेपे। पुन उसे दर्पण सदृश चिकना एवं प्रस्फटित कर देवे। विशुद्ध, विमल, स्निग्ध, पाडुर, मृदुल स्फट-प्रथम प्रतिपादित कट-शर्करा (भुरभुरी मिट्टी) को विधि-पूर्वक कूट कर और घिसकर श्लक्ष्ण बनाना चाहिये और पूर्वोक्त प्रकार से भक्त-भाग का लेपन और निर्यास करना चाहिए अथवा उसे कटशर्करा के साथ देना चाहिये। इस प्रकार विचक्षण लोग कुड्य का लेपन करते हैं। हल से हस्त-मात्र लेपन कर कट शर्करा देनी चाहिये। इस विधि से कुड्य बन्धन उत्तम सम्पन्न होता है॥२४—३१॥

पट्ट-भूमि-बन्धन—अब इस समय पट्ट भूमि का निबन्धन वर्णन करूंगा। नीम के बीजो को इकट्ठा करके उनके मल को त्याग कर इस प्रकार से उनका छिलका निकाल कर अथवा शालि-तंडुलों को इन दोनों में से एक को पीसकर बर्तन में पकावे। बसन से पट्ट को लेपकर पूर्वोक्त विधान समाचरण करे।

पूर्वोक्त प्रकार से कटशर्करा को निर्यासित करके फिर पानी से पट्ट को भिगोकर पट्ट का आलेखन करे। इस विधि से चित्र-कर्म में बधा प्रशस्त होता है अथवा दूसरी विधि से पट्ट-भूमि-बन्धन करना चाहिये । तालादि-पत्रो के निर्यास-समुचित बनाकर तदनन्तर निर्यासयुत कटर्शकरा तीन बार देना चाहिये । इस प्रकार से यह पट्ट-भूमि-बन्धन विशेष-रूप से प्रयत्न पूर्वक बनावें।

पट-भूमि बन्धन :—जैसा पट्ट-भूमि-बन्धन मे गोमय आदि निर्यास का विधान है उसी प्रकार पट-भूमि-बन्धन भी विहित हैं

"यथा पट्टे तथैव स्याद् भूमिः बन्धः पटेऽपि सः।

इस प्रकार से हमने चित्राङ्ग विशेष–वर्तिका एवं भूमि-बन्धन के सब साधनो एव साध्यो का लक्षण-पुरस्सर वर्णन किया। जो शिल्पी इस चित्र-क्रिया मे कौशल से कर्म करता है वह विधाता की इस सृष्टि मे बडी कीर्ति पाता है ॥३६—४३॥

लेप्यकर्मादिक-लक्षण

मृत्तिका और लेखा के लक्षण के साथ अब लेप्य-कर्म का वर्णन किया जाता है ॥ ½ ॥

वापी, कूप, तडाग, पद्मिनी, दीर्घिका, वृक्ष-मूल, नदी-तीर और उसी प्रकार गुल्म-मध्य–ये तत्त्वपूर्वक मृत्तिकाओं के क्षेत्र बताये गये हैं ॥½—२॥

उक्त मिट्टियों के रंग विभिन्न प्रकार के होते हैं .–सित (सफेद), क्षौद्र-सदृश गौर और कपिल ये चिकनी मिट्टियां ब्राह्मण आदि वर्णों में क्रमशः प्रशस्त मानी जाती हैं ॥ ३ ॥

यथाशास्त्रानुकूल स्थूलपाषाण-वर्जिता मृत्तिका लेनी चाहिये।

शाल्मली (सेमल), माष (उडद), ककुभ, मधूक (महुवा) तथा त्रिफला इन वृक्षों का रस उस मिट्टी पर डाल कर और बालू को भी मिला कर घोड़े के सटा-लोम अथवा गौओं के रोम या नारियल का बकला देना चाहिये और मिट्टी में मिला कर फेंटना चाहिए अथवा उससे दूनी भूसी मिलानी चाहिये और जितनी बालुका हो उतना ही मिट्टी मिलानी चाहिए। मिट्टी में कपास के दो भाग मिलाने चाहिएं। इन सब को एकत्रित करके तीसरा मिट्टी का भाग ऊपर फेंकना चाहिए। तदनन्तर पूर्वोक्त कटशर्करा को रखकर कल्क बनाना चाहिए और उसे कपड़े से ढक देना चाहिए।

लेप्य-कर्म मृत्तिका–निर्णय के लिये शिल्प कौशल के साथ साथ आवश्यक विधान भी अनिवार्य है। वृक्ष से कट-शर्करा का निष्पन्न, मृत्तिका-स्वाथादि अन्य उपादान भी मानादि के साथ २ भी उपादेय हैं

शास्त्र प्रतिकूलाचरण से कर्ता का नाश भी प्राप्त होता है ॥४—१२½॥

अब लेखा का लक्षण ठीक तरह से बताया जाता है। पहला कूर्च अथवा कूर्चक, दूसरा हस्त-कूर्चक, तीसरा भास-कूर्चक चौथा वल्ल-कूर्चक, पांचवा वर्तना-कूर्चक ये पांच प्रकार के कूर्चक (ब्रुश) बताये गए हैं।

बैल के कान के रोमों से बना हुआ कूर्चक बुद्धिमान मनुष्य को धारण करना चाहिए।

अथवा उसे वल्कलो से अथवा खरकेशगो से बनाना चाहिए। कूर्चक सिद्ध-हस्त के द्वारा जो बनाया जाता है वह प्रशस्त होता है।

तन्तु से कूर्चक विलेखा-कर्म में श्रेष्ठ होता है। पहला वट-वृक्ष के अकुर के आकार वाला और दूसरा पीपल-वृक्ष के अकुर के आकार वाला और तीसरा प्लक्ष के अ कुर के आकार वाला, पुनः चौथा उदुम्बर (गूलर) वृक्ष के अंकुर के आकार वाला बताया गया है। वटाकुर-सदृश आदि कूर्चक से मोटी लेखा नही बनाना चाहिए और प्लक्ष के अकुर के समान छोटी लखा नहीं होनी चाहिए। पीपल के अकुर के समान जहा पर विद्वान लोग लेखा करते हैं वहा गूलर (उदुम्बर) के अकुर के आकार वाला कूर्चक लेप्य-कर्म मे प्रशस्त माना जाता है। बांस का कूर्चक भी चित्र-कर्म में प्रशस्त माना गया है। कूर्चक के दण्ड मे वास्तव मे वेणु (वास) की ही लकडी विशेष श्रेष्ठ मानी गयी है ॥१२½–२२½॥

लेप्य-कर्म सक्षेप से बताया गया। पुनः मिट्टी की संस्कार-विधि बताई गई। अथच यहा पर ठीक तरह से विलेखनी और कूर्चक की पाच प्रकार की रचना सम्यक् प्रकार से वर्णन की गई है ॥२३॥

अथाण्डक-प्रमाण-लक्षण

अब प्रक्रम-प्राप्त अण्डक-वर्तना का वर्णन किया जाता है तथा जातिभाव आदि से सम्बन्धित का प्रमाण भी वर्णित किया जाता है ॥१॥

टि० द्वितीय श्लोक भ्रष्ट है अतः अननूद्य ।

शास्त्रानुकूल प्रमाण से गोले का प्रमाण उत्तम बताया गया है । उसी के अनुसार मान और उन्मान बनाना चाहिये ॥२—३॥

मुखाण्डक अर्थात प्रधान अण्डक का विस्तार छै भाग समित विहित है और दो भाग समित लम्बाई विहित है। सात गोले बनाने चाहिये और इसी प्रकार तथा की का सस्थान इस प्रधान अण्डक के निर्माण से चित्र-कर्म मे उत्तम बताया गया है । तीन कोटि का वृत्त आलखन करके और अण्डक क्रमश बनाने चाहियें । नाना-विध अण्डको का निर्माण चित्र-कर्म म आवश्यक है । अण्डक का अर्थ है बादामा । बिना पहिले सोच-विचार के चित्र-न्यास असभव है । अर्धे गोले के आयाम से अलसाण्डक बताया गया है और नौ गोले की मोटाई से हास्य ण्डक होता है । पुरुषाण्डक का मान छै गोलो मे आयात और पाच गोलो मे विस्तृत होता है । वनिताण्डक नारियल के फल-सदृश आलेख्य होता है । उसका विस्तार चार गोलो से और लम्बाई पाच गोलो से होती है । शिशुओ का अण्डक चित्र-कर्म मे निश्चय ही करना चाहिये। हास्याण्डक भी उसी प्रकार अनिवार्य है । इसी प्रकार से आलस्याण्डक तथा रोदनाण्डक करना चाहिये । हास्याण्डक भी शास्त्रानुकूल विनिर्मेय है । दवाण्डक प्रमाण आलस्य के समान बताया गया है। वह छै गोलो के विस्तार से और आठ गोलो की लम्बाई से सम्पन्न होता है । वृत्तायत समालेख्य दिव्याण्डक बताया गया है ॥४-१३॥

अब दिव्य और मानुष अण्डको का लक्षण कहता हू । आधे गोले से अधिक मानुषाण्डक के प्रमाण से उसे बनाना चाहिये । पाच गोलो से विस्तीर्ण और छै गोलो से आयत मुखाण्डक को मानुष-रूप बनाकर उसे पूर्ण बनाया जाता है । शिशुकाण्डक-प्रमाण से प्रमथो का मुखाण्डक होता है। राक्षसाण्डक-प्रमाण से यातुधानाण्डक होता है । देवो के मुख-सदृश दानवाण्डक बनाना चाहिये और

उसी के समान गन्धर्वों, नागो और यक्षो के अण्डक होते हैं। विद्याधरो का दिव्य-मानुष-अण्डक समझना चाहिये।१४—१८½॥

कोई लोग शास्त्र जानते हैं, कोई लोग कर्म करते है। जो इन दोनो चीजो (शास्त्रार्थ ज्ञान और कर्म कौशल) को करामलकवत् नहीं जानते हैं पुनः वे शास्त्रज्ञ होकर भी कर्म को नही जानते और कर्मज्ञ होते हुये शास्त्र को नही जानते और जो दोनो को जानते हैं वे ही श्रेष्ठ चित्रकार कहलाते हैं॥१८½-२०½॥

टि० इस अध्याय में कुछ विगलन प्रतीत होता है जैसा हमने मूल में अपने परिमार्जित संस्करण में निर्दिष्ट किया है।

चित्रकर्म-मानोत्पत्ति-लक्षण

१ चित्र-कर्म-मानोत्पत्तिलक्षण :—अब परमाणु आदि जो मान-गणना होती है उसका वर्णन करता हू ॥१॥

परमाणु, रज, रोम, लिक्षा, यूका, यव, अगुल क्रमश अठगुणी वृद्धि से इस प्रकार से मान का अगुल होता है—अर्थात ८ परमाणु का रज, ८ रज का रोम, ८ रोम की लिक्षा, ८ लिक्षा की यूका, ८ यूका का यव और ८ यव का अगुल होता है। दो अगुल वाला गोलक समझना चाहिये। अथवा उसको कला कहा जाता है। दो कलाओ अथवा दो गोलको किसी इन दोनो मे से, उस प्रमाण एव भाग तथा उसी प्रमाण से एव आयाम से विस्तार का न तो कम न ज्यादा चित्र निर्माण करना चाहिये ॥२ ४॥

देवता आदि के शरीर, विस्तार से आठ भाग माप होते हैं और उनका यह शरीर चित्र-शास्त्रियो को तीस भाग की लबाई से बनाना चाहिये। असुरो का शरीर तो साढे सात भागो से विस्तृत और उतीस भाग से लबा बनाना इष्ट बताया गया है। राक्षसो का शरीर सात भाग से विस्तृत और सत्ताईस भाग से आयत होता है और दिव्य मानुष के शरीर तो शास्त्रानुकूल विहित हैं। छै भाग से विस्तृत मनुष्यों का करना चाहिये और उनकी लबाई साढे चौबीस भागों से बनना चाहिये। यह मान हमने उत्तम पुरुष का बताया है। मध्यम पुरुष का तो विस्तार साढे पाच भाग का होता है और उसका आयाम तो २३ भागो का बताया गया है और कनिष्ठ शरीरो का विस्तार पाच भाग के प्रमाण का होता है और इस शरीर का आयाम बाईस भागो का प्रशस्त माना गया है। कुब्जो (कुबडो) के शरीर का विस्तार पाच भाग से और दैर्घ्य चौदह भागो से बनाना चाहिय। य य विकल्प-प्रमाण जैसे वामनादि अर्थात बौनो के भी शास्त्रानुसार विनिर्मित हैं। किन्नरो का भी यही प्रमाण बताया गया है। प्रथयो के शरीर का विस्तार तो चार अशो से बताया गया है और लबाई छै अशो मे यह अलग २ हमने देह के प्रमाण को भाग सूत्र बताया। देवो का असुरो का

रसदृष्टि-लक्षण

चित्र-रस:—अब रसो का और दृष्टियो का यहां पर इस वास्तु-शास्त्र में लक्षण कहूंगा। क्योंकि चित्र मे रस के आधीन ही भाव-व्यक्ति होती है। श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, प्रेम, भयानक, वीर, प्रत्याम (?) और वीभत्स तथा अद्भुत और शान्त—ये ग्यारह रस, चित्र-विशादो के द्वारा बताये गये है। अब इन सब रसो का क्रमशः लक्षण कहा जाता है ॥१—३॥

श्रृंगार—भ्रू-कम्प-सहित तथा प्रेम-गुणान्वित श्रृंगार रस बताया गया है और इस रस मे अपने प्रिय के प्रति मनोहर (ललित) चेष्टायें होती है ॥४॥

हास्य—अपाग आदि को ललित एवं विकसित करने वाला तथा अधरो को स्फुरित करने वाला, मृदु लील-सहित जो रस होता है, वह हास्य-रस के नाम से पुकारा जाता है ॥५॥

करुण—आंसुओ से कपोल-प्रदेश को क्लिन्न करने वाला, शोक से आखो को सकुचित करने वाला और चित्त को सताप देने वाला करुण-रस कहलाता है ॥६॥

रौद्रः जिस रस से ललाट-प्रदेश निर्मीलित हो जाता है, आखे लाल हो जाती हैं, अधरोष्ठ दातो से काटे जाते हैं, उसे रौद्र-रस कहते है ॥७॥

प्रेमा-रसः—अर्थ-लाभ, पुत्र-उत्पत्ति, प्रिय-जनो का समागम और दर्शन, जात-हर्ष से उत्पन्न होने वाला तथा शरीर को पुलकित करने वाला प्रेमा-रस कहा जाता है ॥८॥

भयानकः—शत्रु-दर्शन से उत्पन्न त्रास एवं सम्भ्रम से लोचनो को उद्भ्रान्त करने वाला और हृदय को सक्षुब्ध करने वाला भयानक रस कहलाता है ॥९॥

वीर—धैर्य, पराक्रम एवं बल को उत्पन्न करने वाला—वह रस वीर के नाम से प्रसिद्ध होता है ॥१०॥

टि०:—यहा पर वीर के बाद अन्य दो रसो का लोप हो गया है। ग्रन्थ भ्रष्ट एवं गलित है।

अद्‌भुत-रसः , दो तारकाओं को स्तिमित करने वाला, यह रस असम्भाव्य वस्तु को देखकर अद्‌भुत-रस की संज्ञा से प्रसिद्ध होता है ॥११॥

शान्त-रस.—बिना विकारों के शान्त एवं प्रसन्न भ्रू नेत्र तथा वदन आदि से एवं विषय-वैराग्य से यह रस शान्त-रस के नाम से प्रथित होता है ॥१२।

इस प्रकार चित्र-संयोग में सलक्षण इन रसों का प्रतिपादन किया गया है। मानव-सम्बन्ध-पुरस्सर सब सत्वों अर्थात् प्राणियों में इनको नियोजित करना चाहिये ॥१३॥

चित्र-रस-दृष्टियाः अब रस-दृष्टियों का वर्णन करता हूँ। ये अठारह बताई गई हैं :-

(१) ललिता (२) हृष्टा, (३) विकासिता, (४) विकृता, (५) भ्रु कुटि, (६) विभ्रमा, (७) संकुचिता, (८) ऊविता (?) (९) ऊर्ध्वगता, (१०) योगिनी, (११) दीना, (१२) दृष्टा, (१३) विह्वला, (१४) शंकिता, (१५) विषिद्दया, (?), (१६) जिम्हा, (१७) मध्यस्था एव, (१८) स्थिरा—ये अठारह दृष्टियां होती हैं। अब इनका क्रमशः लक्षण कहा जाता है ॥१४ १६॥

ललिताः—विकसित-मुखाब्ज, कटाक्ष-विक्षेप वाली शृंगार रस से उत्पन्न ललिता दृष्टि समझनी चाहिये ॥१७॥

हृष्टाः—प्रिय-दर्शन पर प्रसन्न और पूर्ववत रोमाञ्च करने वाली तथा अपांगों को विकसित करने वाली हृष्टा नाम की दृष्टि प्रसिद्ध होती है ॥१८॥

विकासिताः—नयन-प्रान्तों को विकसित करने वाली तथा अपांगों, नयनों एव गण्ड-स्थलों को विकसित करने वाली क्रीडा-चापल्य-युत हास्य-रस में विकासिता दृष्टि होती है ॥१९॥

विकृताः—भय को व्यक्त करने वाली और जिस में तारकायें भ्रान्त होने लगती हैं, उस भयानक रस में इस दृष्टि को विकृता नाम से पुकारा जाता है॥२०॥

भ्रु कुटि :—दीप्त ऊर्ध्वतारका के रक्त वर्ण होने से मन्द-दर्शना तथा ऊर्ध्व-निविष्टा दृष्टि को भ्रुकुटि बताया गया है ॥२१॥

विभ्रमा :-मत्त-स्था, दृढ़-पक्ष्मा, सुन्दर-तारका, सौम्या एव उद्वेलिता इस दृष्टि को विभ्रमा नाम से बताई गई है ॥२२।

संकुचिता :-मन्मथ-मद से युक्त, स्पर्श-रस से उन्मीलित, दोनों अक्षि-पुटों वाली, सुरतानन्द से युक्त संकुचिता नाम की यह दृष्टि विख्यात होती है ॥२३॥

योगिनी :–निर्विकारा, कही पर नासिका के अग्र भाग को देखने वाली अर्थात् ध्यानावस्थित चित्त के तत्व में रममाणा योगिनी नाम की दृष्टि होती है ॥२४॥

दीना -अर्ध-अन्तोत्तर-पुटा अर्थात् ओष्ठादि-वदन अवनत से प्रतीत हो रहे हों, पुनः कुछ रुद्ध–तारका, मन्द-सञ्चारिणी, शोक में आंसुओं से युक्ता, दीना नाम की दृष्टि कही गई है ।२५॥

हृष्टा.—जिसकी तारकायें स्थिर हों और जिसकी दृष्टि स्थिर एवं विकसित प्रतीत हो रही हो, वह उत्साह से उत्पन्न होने वाली हृष्टा नाम की दृष्टि बताई गई है ॥२६॥

विह्वला :—भ्रू-पुट तथा पक्ष्मों को म्लान करने वाली, शिथिला, मन्द-चारिणी तथा तारकाओं से आभासित वह विह्वला नाम की दृष्टि बताई गई है ॥२७॥

शंकिता :—कुछ चञ्चल, कुछ स्थिर, कुछ उठी हुई, कुछ टेढ़ी-मेढ़ी और चकित-तारा दृष्टि को शंकिता नाम से पुकारते हैं २८॥

जिह्मा :—जिसके मुखाङ्ग सभी पुट लम्बित हो रहे हों, दृष्टि टेढ़ी तथा रूखा दिखाई पड़ रही हो, ऐसी निगूढ़ा और मूढ़-तारा को जिह्मा दृष्टि कहते हैं ॥२९–३०॥

मध्यस्था:—सरल-तारा, सरल-पुटा, प्रसन्ना, राग-रहिता, विषय-पराङ्मुखा ऐसी मध्यस्था दृष्टि कहलाती है ॥३१॥

स्थिरा :—सम-तारा, सम-पुटा तथा सम-भ्रू वाली, अविकारिणी और रागों से विहीन स्थिरा दृष्टि कहलाती है ॥३२॥

हस्त से अर्थ को सूचित करता हुआ तथा दृष्टि से प्रतिपादित करता हुआ सब अभिनय-दर्शन ही सजीव सा जो प्रतीत हो अर्थात जो नाट्य में अनिवार्य एवं आवश्यक अंग है, वही चित्र में भी अनिवार्य है ॥३३–३४॥

इस प्रकार से यहां पर रसों का तथा दृष्टियों का संक्षेप से लक्षण कहा गया । लिखने वाला मनुष्य चित्र का यथावत् ज्ञान-सम्पादन करके कभी संशय को नहीं प्राप्त होता है ॥३५॥

षष्ठ पटल

चित्र एव प्रतिमा—दोनों के सामान्य अङ्ग

१. प्रतिमा एवं चित्र के द्रव्य

२. प्रतिमा एवं चित्र में दिव्य देवादिकों के रूप एवं प्रहरण आदि लाञ्छन

३. प्रतिमा एवं चित्र के दोष-गुण

४. प्रतिमा एवं चित्र की आदर्श आकृतियां (Models) एवं उनके मान

५. प्रतिमा एव चित्र में मुद्रायें :—

(अ) शरीर-मुद्रायें

(ब) पाद-मुद्रायें

(स) हस्त मुद्रायें

प्रतिमा-लक्षण

अथ प्रतिमाओं—चित्रों का लक्षण कहता हूं। उनके सात निर्माण-द्रव्य प्रकीर्तित किये गये हैं—वे हैं सुवर्ण (सोना), रजत (चांदी), ताम्र (तांबा), अश्मा (पाषाण पत्थर), दारु (लकड़ी), लेप्य अर्थात मृतिका तथा अन्य लेप्य जैसे माहिष और ताण्डुल आदि तथा आलेख्य अर्थात चित्र। ये सब शकुनानुसार विहित एवं निर्माण्य बताये गये हैं।। पूजा-चित्रों में इस प्रकार से ये प्रतिमा-द्रव्य सात प्रकार के बताये गये हैं। सुवर्ण पुष्टि-प्रदायक माना गया है, रजत कीर्ति-वर्धन-कारी, ताम्र प्रजा-वृद्धि-कारक, शैलेय अर्थात पाषाण, भूमि या वह भास्य-द्रव्य आयुष्य-कारक और लेप्य तथा आलेख्य ये दोनों धन प्राप्ति-कारक कहे गये हैं ॥ १—३ ॥

विद्वान ब्रह्मचारी और जितेन्द्रिय स्थपति को विधि-पूर्वक प्रतिमा-निर्माण तथा यह चित्र कर्म-प्रारम्भ करना चाहिये। वह हविष्य-नियताहारी तथा जप-होम-परायण और धरणी अर्थात् पृथ्वी पर सोने वाला होना चाहिये ॥४-५½॥

टि० पूर्वाध्याय के अन्तिम पृष्ठ पर जो प्रक्षेप बताया गया है वह यहां पर लाना प्रासंगिक माना गया है। अतः वह यहां पर सयोज्य है :—

"मुख का भाग से विधान है। ग्रीवा मुख से तीन भाग वाली बतायी गयी है। आयामानुरूप केशान्त पूर्ण मुख द्वादशांगुल विस्तारानुरूप परिकल्प्य है। दोनों भौहों का प्रमाण त्रिभाग से विहित है। नासिका भी त्रिभाग-परिकल्प्य है। उसी प्रकार ललाट का प्रमाण भी विहित है। ऊंचाई में तीन के बराबर मुख कहा गया है। दोनों आंखें दो अंगुल के प्रमाण में होती हैं। उसका विस्तार आधा कहा गया है। अक्षि-तारका आंख के तीन भाग से सुप्रतिष्ठित करणीय है। पुनः इन दोनों तारकाओं के मध्य में ज्योति (आंख की ज्योति) तीन अंश से परिकल्प्य है। इसी प्रकार इन अखिल मुखांगों का प्रमाणानुरूप परिकल्पन विहित है ॥५½-१०½

पांच अंश के प्रमाण से ... (?) दोनों का मध्य बनाना चाहिये। नेत्रों और कानों का मध्य पांच अंगुल का होता है। ऊंचाई से दुगने

आयत वाले दोनो कान आख के समान समझने चाहियें। कर्ण-पाली तथा उसके अन्य उपाग भी शास्त्रानुकूल निर्मेय हैं। वह खीचे हुए धनुष की आकृति-वाली अरोम-प्रभवा समझनी चाहिये। इसी प्रमाण से इन का कर्ण-पृष्ठाश्रय भी होना चाहिये ॥१०३—१४॥

ऊर्ध्व-वध से कर्ण-मूल-समाश्रित अधोवध वह होना है। आधे २ से गोलक समझना चाहिये और पीछे मे इसी प्रकार विधान है। निष्पाव के सदृश आकार वाली कर्ण-पिप्पली बनानी चाहिये। उसका आयाम एक अगुल का और विस्तार चार यवो का होना चाहिये। पिप्पली के नीचे लाकर मध्य में लकार 'न' इसकी सज्ञा लकार दी गयी है, इसका आयाम आधे अगुल का और विस्तार पूरे अगुल का होना चाहिये। बीच में जो लकार है उसका विस्तार चार यवो के निम्न से होता है। पिप्पली के मूल मे चार यव के प्रमाण से कर्ण-छिद्र होता है। जो स्तूतिका की सज्ञा पीयूषी गोलाकार बतायी गयी है, वह आधे अगुल से आयत और दो यवो के विस्तार से बनायी जाती है। लकार और आवर्त (परदा) के मध्य मे उसको पीयषी के नाम से पकारते हैं। वह दो अगुल के आयाम वाली और डेढ अंगुल के विस्तार वाली होनी है। कान की जो बाह्य रेखा होती है उसको भी आवर्त कहते है। वह छै अंगुल का प्रमाण वाला वक्र और वृत्तायत होता है। मूल का अंश आधे अगुल का बनाना चाहिये और क्रमशः मध्य मे दो यव का। फिर आगे एक यव के प्रमाण के विस्तार से बनाया जाता है। लकार और आवर्त के मध्य को उद्वान के नाम से पुकारा जाता है। ऊपर से गोलक म दो यव से युक्त कर्ण का विस्तार होता है। मध्य मे दुगुना नाल और मूल मे छै यवो से इन दोनो समुदायो के प्रमाण से आयामादि विहित है। इसी प्रकार अन्य भाग विहित हैं। पश्चिम नाल एक अंगुल के प्रमाण से बनाया जाता है तथा दो सुकोमल नाल दो कलाओ के आयत से बनाना चाहिए। कान के भाग का इस प्रकार सम्यक वर्णन कर दिया गया। उसका प्रमाण तो कम और न अधिक होना चाहिये। तब उसका कौशल प्रशस्त माना जाता है, अन्यथा दूषित ॥१५-२१॥

चिबुक (ठोडी) अगुल के आयाम मे बनाया जाता है। उसके आधे से कन्धर बनाया गया है, फिर उसके आधे से उत्तरोष्ठ होता है और भाजी आधे अगुल की उचाई से बनायी जाती है। ओठो के चतुर्थ भाग से दोनो नासा-पुट समझने चाहिये। उनके दोनो प्रान्त करवीर के समान सुन्दर बनाने

देवादि-रूप-प्रहरण-संयोग-लक्षण

अब देवताओ के आकार और अस्त्र-शस्त्र का वर्णन करता हू और उसी प्रकार दैत्यो के, यक्षो के, गन्धर्वों, नागो और राक्षसो के तथा विद्याधरो और पिशाचो के भी विवरण प्रस्तुत करता हूँ ॥१३॥

ब्रह्मा :- अग्नि की ज्वालाओ के सदृश, महा तेजस्वी बनाने चाहियें और स्थूलाग, श्वेत-पुष्प धारण किये हुए, श्वेत वस्त्र पहने हुए और कृष्ण मृग-चर्म को उत्तरीय (ऊर्ध्व वस्त्र) धोती के रूप मे धारण किए हुए सफेद कपडो की ड्रेस मे चार मुख वाले बनाने चाहियें। इनके दोनो वाम हस्तो म दण्ड और कमण्डलु का न्यास करना चाहिए, उसी प्रकार उन्हे मौञ्जी मेखला और माला धारण किए हुए बनाना चाहिए, और दक्षिण हाथ मे ससार की वृद्धि करते हुए बनाना चाहिए । इस प्रकार बनाने पर ससार मे सब जगह क्षेम होता है और ब्राह्मण लोग सब कामनाओ से बढते है, इसमे कोई शक नही । जब विरूप, दीना कृशा, रौद्रा, कृशोदरी यदि ब्रह्मा जी की प्रतिमा बनाई जाय तो वह कल्याण-कारक नही होती है। रौद्र-मूर्ति, बनवाने वाले को मारती है और दीन-रूपा कारीगर को मारती है। कृशा मूर्ति बनवाने वाले को सदा विनाश प्रदान करती है और कृशोदरी तो दुर्भिक्ष लाती है और कृष्णा धनपरयता को प्रदान करती है। इस लिये इन दोषो को छोड कर यह प्रतिमा ब्राह्म प्रतिमा-निर्माण-कुशल शिल्पियो द्वारा सुन्दर बनानी चाहिये ॥१३-६॥

शिव :- प्रथम यौवन मे स्थित, चन्द्रांकित-जटा-धारी श्रीमान्, संयमी, नीलकठ, विचित्र-मुकुट, निशाकर-चन्द्र-सदृश तेजस्वी भगवान् शभु की प्रतिमा बनानी चाहिये। दो हाथो से, चार हाथो से अथवा आठ हाथो से युक्त वह मूर्ति बनायी जानी चाहिए। पट्टिश अस्त्र से व्यग्र हस्त, सर्पों और मृग-चर्म से युक्त, सर्व-लक्षण सपूर्ण तथा तीन नेत्रो से भूषित इस प्रकार के गुणो से युक्त जहां लोकेश्वर भगवान् शिव बनाये जाते हैं, वहा पर राजा और देश अर्थात् राष्ट्र की परम उन्नति होती है ॥१०-१३३॥

जब जगल मे अथवा श्मशान मे महेश्वर की प्रतिमा बनायी जाती है तो

वहा भी यह रूप कुछ भिन्न बनाना चाहिये—विशेकर आकृति एवं हस्त-प्रयोग। ऐसा रूप बनाने पर बनवाने वाले का कल्याण होता है। अठारह बाहु वाले अथवा बीस बाहु वाले अथवा शत बाहु वाले अथवा कभी सहस्र बाहु वाले, रौद्र रूप धारण किये हुए, गणो से घिरे हुये, सिंह-चर्म को उत्तरीय-वस्त्र के रूप मे धारण किये, तीक्ष्ण दंष्ट्रा के समान आगे के दाँत वाले, शिरोमालाओं से विभूषित चन्द्र से अंकित मस्तक वाले, श्रीमान, पीनवक्षस्थल तथा भयंकर दर्शन वाले इस प्रकार श्मशान-स्थित भद्र-मूर्ति महेश्वर का निर्माण करना चाहिये। ॥१३½-१७½॥

दो भुजा वाले राजधानी मे और पत्तन (शहर) मे चतुर्भुज तथा श्मशान और जंगल के बीच मे बीस भुजाओं वाले महेश्वर की प्रतिमा स्थापित करनी चाहिये ॥१७½-१८½॥

यद्यपि भगवान भद्र (शिव) एक ही हैं, स्थान-भेद से वे भिन्न भिन्न रूप वाले तथा रौद्र और सौम्य स्वभाव वाले विद्वानो के द्वारा निर्मित होते हैं। जिस प्रकार से भगवान् सूर्य उदय-काल मे सौम्य-दर्शन होते हुये भी मध्याह्न के समय प्रचण्ड हो जाते है, इसी प्रकार अरण्य मे स्थित वे भगवान् शंकर निरंत्र ही रौद्र हो जाते हैं। वही फिर सौम्य स्थान मे व्यवस्थित होने पर सौम्य हो जाते हैं। इन सब स्थानो को जानकर किन्नर आदि प्रमथों के सहित लोक-शंकर का निर्माण करना चाहिये। इस प्रकार से त्रिपुर-घ्न भगवान् शंकर का यह संस्थान सम्यक् प्रकार से वर्णन किया गया है ॥१८½-२२॥

कार्तिकेय:—अब इस समय कार्तिकेय भगवान् स्वामि-कार्तिकेय के संस्थान का वर्णन किया जाता है। तरुण-सूर्य-सदृश, रक्त-वस्त्र धारण किये हुये, अग्नि के समान तेजस्वी, कुछ बालाकृति धारण किये हुए, सुन्दर, मङ्गल-मूर्ति, प्रिय-दर्शन, प्रसन्न-वदन, श्रीमान, ओज और तेज से युक्त विस्तार चित्र-विचित्र मुकुटों और मुक्ता-मणियों से विभूषित छ मुख वाले अथवा एक मुख वाले शक्तिधारी-शक्ति अर्थात् अस्त्र को धारण किये हुये कार्तिकेय की प्रतिमा का संस्थान बताया गया है। नगर मे बारह भुजाओं की मूर्ति बनानी चाहिये, खेटक मे छै भुजाओं की विहित है। कल्याण चाहने वालो को ग्राम मे दो भुजाओं वाली प्रतिमा का सन्निवेश करना चाहिये। शक्ति, शर, खड्ग, भुशुण्डी और मुद्गर—ये पांचो आयुध इनके दक्षिण हाथो मे दिखाने चाहिये। एक हाथ प्रसारित भी होना चाहिये। इस प्रकार से दूसरा छठा हाथ बताया गया है। धनुर, पताका,

घंटा खेट, और कुक्कुट (जो Improvised object-weapan योध्य है)–ये पाच आयुध वायें हाथ मे बताये गये हैं। तो छठा हाथ यहा पर सवर्धनकारी हस्त (हस्त-मुद्रा) वाला होना है। इस प्रकार से आयुधो से सम्पन्न, सग्राम-भूमि में स्थित बनाये जाते हैं। अन्य अवसर पर तो उन्हें क्रीडा और लीला से युक्त बनाना चाहिये। छाग (बकरा), कुक्कुट (मुर्गा) से युक्त तथा मयूर से युक्त मनोरम भगवान् स्कन्द का शत्रुओ पर विजय करने की इच्छा करने वालो को सदा नगरो में बनाना चाहिये। खेटक मे तो षण्मुख, ज्वलन प्रभ तथा तीक्ष्ण आयुधो से युक्त और पुष्प-मालाओ से सुशोभित बनाना चाहिए। ग्राम मे भी कान्ति और द्युति म युक्त उन्हें दो भुजा वाला बनाना चाहिये। दक्षिण हाथ में तो शक्ति होती है और वाम-हस्त मे कुक्कुट। इस प्रकार से विचित्र-पक्ष बड़े महान तथा सुन्दर विनिर्मित है। पुर में, खेटक में और ग्राम मे इस प्रकार शास्त्रज्ञ आचार्य, भगवान् मगलकारी कार्तिकेय की मूर्ति का निर्माण करते हैं। अविरुद्ध कार्यों में खेट, ग्राम तथा उत्तम पुर में कार्तिकेय का यह संस्थान प्रयत्न-पूर्वक करवाना चाहिये ॥२३-३५॥

बलरामः–इस मे तो सुन्दर भुजाओं वाले तालकेतु धारण किये हुए महाद्युति, वन-माला-कुल-वक्षस्थल वाले, चन्द्र-सदृश-कान्ति वाले, हल और मुसल धारण करने वाले, महान यशस्वी चतुर्भुज, सौम्य-मुख, नीलाम्बर-वस्त्र-धारी, मुकुटो एवं अलंकारो स तथा कुण्डल से विभूषित रेवती-सहित बलदाऊ की मूर्ति का निर्माण करना चाहिय ॥३६-३८॥

विष्णु:—विष्णु वैदूर्य-मणि क सदृश पीताम्बर धारण किये हुए, लक्ष्मी के साथ, वाराह रूप में, वामन-रूप मे अथवा भयानक नृसिंह-रूप में अथवा दाशरथि राम-रूप में, वीर्यवान जामदग्नि के रूप म, दो भुजा वाले अथवा आठ भुजा वाले अथवा चार बाहु वाले अरिन्दम, शख, चक्र, गदा को हाथ में लिये हुये ओजस्वी कान्तिमान् नाना-रूप-धारी इस रूप में प्रतिमा में विभाव्य हैं। इस प्रकार से सुरो और असुरो से अभिनन्दित भगवान् विष्णु की प्रतिमा का सन्निवेश करना चाहिए ॥३९-४२½॥

इन्द्रः–देवाधीश इन्द्र वज्र धारण किये हुये, सुन्दर हाथो वाले, बलवान किरीट-धारी गदा-सहित श्रीमान् श्वेताम्बर-धारी, श्रोणि-सूत्र से मण्डित, दिव्या-भरणो से विभूषित, पुरोहित-सहित, राज-लक्ष्मी से युक्त, इन्द्र को बनवाना चाहिये ॥४२½-४४½॥

यमः—वैवस्वत यम-राज (धर्मराज) समझना चाहिये। तेज में सूर्य के सदृश, सुवर्ण-विभूषित सम्पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाले पीताम्बर-वस्त्र-धारी और शुभ-दर्शन, विचित्र मुकुट वाले तथा वरागद-विभूषित बनाना चाहिये ॥४४½-४६½॥

ऋषि-गणः—तेज से सूर्य के सदृश बलवान एवं शुभ भरद्वाज और धन्वन्तरि बनाने चाहियें। दक्ष आदि आर्ष प्रजापति भी इसी प्रकार परिकल्प्य हैं ॥४६½-४७॥

अग्निः—ज्वालाओं से युक्त, अग्नि की प्रतिमा बनानी चाहिये। उसकी वैसे तो कान्ति तो सौम्य ही होनी चाहिये ॥४८½॥

राक्षसादिः—ये रुद्र-रूप-धारी, रक्त-वस्त्र धारण करने वाले, काले, नाना आभूषणों एवं आयुधों से विभूषित सब राक्षस बनाने चाहियें ॥४८½-४९॥

लक्ष्मी.—पूर्ण चन्द्र के समान मुख वाली, शुभ्रा, बिम्बोष्ठी, चारु-हासिनी श्वेत-वस्त्र-धारिणी सुन्दरी, दिव्य अलंकारों से विभूषिता, कटि-देश पर निवेशित वाम-हस्त से सुशोभिता एवं पद्म लिये हुये दक्षिण हाथ से सुशोभिता एवं शुचि-स्मिता, प्रसन्न-वदना लक्ष्मी प्रथम यौवन में स्थिता बनानी चाहिये ॥५०-५२½॥

कौशिकीः—शूल, परिघ, पट्टिश पादुका, ध्वजा आदि लक्षणों से लाञ्छित कौशिकी का निर्माण करना चाहिये। पुनः उसके हाथों में खेटक, लघु खड्ग, तथा सौवर्णी घण्टा होनी चाहिये। वह घोर-रूपिणी परिकल्प्य है। उसके वस्त्र पीत एवं कौषेय होने चाहियें तथा उसका वाहन भगवती दुर्गा के समान सिंह होना चाहिये ॥५२½-५४½॥

अष्ट दिग्पाल—आठों दिग्पाल—शुक्लाम्बर-धारी, मुकुटों से सुशोभित एवं नाना रत्नों से मण्डित इन आठों दिग्पालों का निर्माण करना चाहिये॥५४½-५५½॥

अश्विनौः—संसार के कल्याण-कारी दोनों अश्विनियों को एक ही समान बनाना चाहिये। वे शुक्ल माला और शुभ वस्त्र धारण किये हुये स्वर्ण कान्ति वाले निर्मेय हैं॥५५½-५६½॥

पिशाच एवं भूत-गण:—इनके दांत भयंकर तथा विचित्र होते हैं। इनके बाल मेचक-प्रभ प्रदर्श्य हैं। इनका वर्ण वैदूर्य-प्रकाश होना चाहिये इनकी मूछें हरी परिकल्प्य हैं। रंग रोहित एवं आकृति भयावह, लोचन लाल, रूप नाना-विध एवं भयकर भी प्रदर्श्य हैं। इनके शिरों पर सर्पों का प्रदर्शन भी अनिवार्य है। इनके वस्त्र भी अनेक-वर्ण हो सकते हैं। इनके रूप भयंकर, कद छोटे भी ये

े परुष, असत्य-वादी, भयकर आदि रूपो मे निर्मेय हैं । साथ ही साथ भूतो की प्रतिमाओ में वैशिष्ट्य यह है कि वे भी बड़े भयकर, उग्र-रूप तथा भीम-विक्रम विवृतानन, सध-रूप मे, यज्ञोपवीत धारण किये हुए, कवचो को लिये हुए तथा शाटिकाओं मे शोभ्य ऐसे भूतों तथा उनके गणो को बनाना चाहिये ॥५६३-६०॥

अब जो सुर और असुर नही बताये गये हैं, उनको भी कार्यानुरूप बनाना चाहिये और जिस असुर और सुर का लिङ्ग हो, राक्षसो और यक्षो, गन्धर्वों और नागो का जो लिंग हो, विशेषज्ञ लोग उनका निर्माण करें। प्राय पराक्रमी, क्रूरकर्मा दानव लोग होते हैं, उन्हें किरीट-धारी तथा विविध आयुधो से सुसज्जित बाहु वाले बनाना चाहियें। उनसे भी कुछ छोटे और गुणो से भी छोटे दैत्य लोग बनाने चाहियें। दैत्यो से छोटे मदोत्कट यक्ष लोगो का निर्माण करना चाहिये। उनसे हीन गन्धर्वों और गन्धर्वों से हीन पन्नगो और उनसे हीन नागो को बनाना चाहिए। राक्षस तथा विद्याधर लोग यक्षो से हीन देह धारी बताये गये हैं। चित्र-विचित्र माला एव वस्त्र धारण किये हुये तथा चित्र-विचित्र तलवारो और चमडो को लिये तथा नाना वेष धारण करने वाले भयानक घोर रूप भूत गण होते हैं। वे पिशाचों मे भी अधिक मोटे और तेज से कठोर होते हैं ॥ ६१—६७ ॥

विशेष सकेत यह है कि न तो अधिक न कम प्रमाण, पुरुष वेष इन सुरासुर गणो की प्रतिमाओ मे यह परिकल्पन आवश्यक है ॥६८३॥

टि० अन्तिम श्लोक अर्धमात्र एव गलित है।

पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण

हंस-प्रभृति पाच पुरुषो और दण्डिनी-प्रभृति पाचो स्त्रियो के देह-वन्धाधिक का वर्णन करता हूं। हंस, शश, रूचक, भद्र, और मालव्य ये पाच पुरुष बताये गये हैं ॥१॥

हंसः—उनमे हंस-नामक पुरुष का मान बताया जाता है। हंस का आयाम ८८ अंगुलो का बताया गया है। अन्य चार पुरुषो का आयाम क्रमशः दो दो अगुल की वृद्धि से समझना चाहिए। उसका ललाट ढाई अगुल के प्रमाण से तथा नासिका और ग्रीवा तथा वक्ष-स्थल ग्यारह अंगुल के आयाम से होता है। इस प्रकार उदर, नाभि, और लिंग का अन्तर दश अंगुलो के प्रमाण का होता है। ऊरू बीस अगुल और जघा तीन अगुल और जानु पाच अगुल और दो अगुल का शिर। केशान्त प्रमाण अपने मानानुसार सबसे अधिक होता है। उसी के बीस अगुल के प्रमाण से वक्षस्थल का विस्तार होता है। हंस के हाथों का विस्तार बारह अगुल का होता है। दोनो प्रकोष्ठ दश अगुल के प्रमाण से विहित हैं। अलग २ श्रोणि नितम्ब आदि प्रदेश मानानुसार विहित होते हैं॥२-८॥

शशः—हंस के स्वभाव के विपरीत तथा अपने के अनुसार ही यह शश-रूप विहित है। तथैव उसके अग निर्मेय है। शास्त्रानुकूल तीन अगुल के प्रमाण से (?) नासिका और मुख होता है। ग्रीवा भी उसी प्रमाण वाली होती है, वक्ष-स्थल तो ग्यारह अगुल के प्रमाण से होता है तथा उदर और नाभि और मेढ़ का अन्तर दश अगुल होता है। दोनो ऊरू बीस मात्रा, शश-नामक पुरुष की बतायी गयी है और दोनो जानु बीस अगुल की और दोनो जंघा बीस मात्रा की। दोनो गुल्फ तीन अगुल के आयाम वाले और शिर भी उसी प्रमाण का होता है। इस प्रकार से इस शश-नामक पुरुष का आयाम ९० (नब्बे) अगुल के प्रमाण से होता है। इस का वक्षःस्थल बाईस अगुल के प्रमाण का बताया गया है। बाहु, प्रबाहु और पाणि, हंस के समान शश के भी होते हैं। समयानुसार एव स्वभावानुरूप वह कृशोदर अर्थात् दुबला बनाना चाहिये ऐसा विचक्षण विद्वानो ने बताया है॥१४॥

रुचक —रुचक-नामक पुरुष का मुखायाम साढे दश अगुल के प्रमाण से बताया गया है। इसकी ग्रीवा साढे तीन अगुल के प्रमाण से बतायी गयी है। उसका वक्षस्थल ग्यारह अगुल का और उसी प्रकार से उदर। नाभि और मेढ़ का अन्तर दश अगुल का बताया गया है। ऊरू बीस अगुल और जानु तीन अंगुल और उनकी दोनो जघाओ का आयाम बीस अगुल के प्रमाण से बताया गया है। उसके दोनो गुल्फ और शिर तीन अगुल के प्रमाण के होते हैं। इस प्रकार से रुचक-नामक पुरुष ९२ अगुल का बताया गया है। इसके वक्षस्थल का विस्तार बीस अगुल का और इसकी दोनो भुजाये और प्रकोष्ठ दश अगुल के प्रमाण से बताये गये हैं। इसके दोनो हाथ ग्यारह अगुल के विस्तार वाले बताये गये हैं। इस प्रकार से पीन-स्कन्ध, पीन-बाहु, लीला-सहित गति वाला और चेष्टा वाला, बलवान और वृत्त-बाहु, सुन्दर आकृति वाला रुचक पुरुष होता है ॥१५—२१½॥

भद्र —भद्र के मस्तक का आयाम तीन अगुल मे होता है।(?) ग्यारह अंगल से और ग्रीवा साढे तीन अगुल से। इस का वक्षस्थल और जठर पाद सहित ग्यारह अगुल का होता है। इसकी नाभि और इसके मेढ़ का अन्तर साढे दश अगुल से समझना चाहिए। दोनो ऊरुओ का आयाम पाद-सहित बीस अंगुल का समझना चाहिए। दोनो जघाओ का भी आयाम उसी प्रकार से, और जानु और गुल्फ त्रिमात्रिक होते हैं। इस प्रकार से भद्र का आयाम ९४ अगुल का बताया गया है। वक्ष का आयाम २१ तथा दोनो बाहु ११ अगुल विहित हैं ॥ २१½—२५ ॥

टि० —लेखक Scribe not author) के प्रमाद-वश इस अध्याय का यह दूसरे अध्याय मे प्रक्षिप्त प्राप्त होता है, अत इस परिमार्जित एव वैज्ञानिक सस्करण मे यथा-स्थान उसको (प्रक्षिप्तांश दे० स० सू० मूल अध्याय ७६ ८४½-९६) यहा पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण अध्याय (परि० स० ५८. २६ ३८। में लाया गया है। अतएव इसका अब यहा अनुवाद दिया जा रहा है।

इस भद्र-पुरुष का वक्ष-स्थान एव श्रोणि अर्थात् नितम्ब पृथक् पृथक् परिकल्प्य हैं। उसके बाहु गोल एव सुसस्कृत निर्मेय हैं, अतएव वह वास्तव मे भद्र (सौम्य) रूप बन जाता है। उसका मुख स्वभावतः गोल ही बनाना चाहिये ॥२६॥

मालव्य :—इस मालव्य नामक पाचवें पुरुष का मूर्धा-प्रमाण अगुल-त्रय बताया गया है। इसी प्रकार इसके ललाट, नासिका, मुख, ग्रीवा, वक्ष, नाभि, मेढ़ एव ऊपर आदि के अंग भी शास्त्र-मानानुरूप परिकल्प्य है। दोनो ऊरु इसकी

अष्टाग्ह अगुल की हो, जघायें भी उसी प्रमाण की हों। अन्य अग जैसे जानु आदि वे चार अगुल से विहित हैं। इस प्रकार इस मालव्य-पुरुष का आयाम ९६ अगुल का प्रमाण प्रतिपादित किया गया है। उसके वक्षः-स्थल का विस्तार वास्तव में २६ मात्राओं का होता है। बाहु एव प्रबाहु इन दोनों का १६ मात्राओं में विहित है। पार्ष्णि दोनों द्वादश मात्रा के प्रमाण में परिकल्प्य हैं। इस प्रकार इस मालव्य पुरुष की विशेषता यह है कि वह पीनास (पीन-स्कन्ध), दीर्घ-बाहु (आजानु-बाहु), विशालवक्षा एव कृशोदर हो क्योंकि इस पुरुष-प्रमाण में महा-पुरुषों की प्रतिमा परिकल्पित की जाती है। इसके ऊरु, कटि, जघा सभी गोल होने चाहिये। अतएव यह पुरुष पुरुषोत्तम माना गया है २७—३१½॥

हसादि पाचों पुरुषों की अब सामान्य समीक्षा की जा रही है, जिसका सम्बन्ध विशेष कर मुखाकृति से है। हस का टेढ़ा मुख तथा गण्ड-भाग भी कुछ पृथुल सा प्रतीयमान हो रहा हो। शश-नामक द्वितीय पुरुष का आनन कृश एव आयत सा प्रतीत हो रहा हो। विस्तार एव लम्बाई में भद्र-पुरुष का आनन जैसा ऊपर बताया गया है, वह सुन्दर, सुडोल एव गोल हो। मालव्य की आकृति तो पहले ही पुरुषोत्तम के रूप में प्रकीर्तित की जा चुकी है, वैसी यहां पर भी निर्दिष्ट है ॥३१½-३४॥

अब पञ्च-स्त्री-लक्षण प्रतिपादित किया जाता है। हसादि के समान इनके नाम हैं: वृत्ता, पौरुषी, बालकी (बलाका), दण्डा.... (?)

टि०:—परन्तु यहां पर तो केवल तीन ही भेद मिल रहे हैं अतः अधिपाठ भी यह गलितांश है।

वृत्ता.—नारी मासल-शरीरा, मासल-ग्रीवा मासलायत-नासा तथा गोल-मटोल बतायी गयी है ॥३५॥

पौरुषी.—नारी पृथु-वक्षा, कटी-हृस्वा, हृस्व-ग्रीवा, पृथूदरी पुरुष के काण्ड-तुल्या ऐसी पौरुषी यथानाम पुरुषाकृति से भावित होती है॥३६॥

बलाका-(बालकी).—नारी अल्प-काया, अल्प-ग्रीवा, अल्प-शिरस्का, लघु-नासा, कृशाङ्गी, अल्प-वक्षा-नता बतायी गयी है॥३७॥

पुनः इन तीन परिभाषा में स्त्री-लक्षण-विचक्षण विद्वानों ने यह भी बताया है कि पुरुष-सम्पर्क में यह कुमारावस्था में जब प्राप्त-यौवना हो जाती है

तो वह दूसरी कोटि की बालकी या बलाका नारी के नाम से विख्यात होती है। ॥३८॥

इस प्रकार हंस आदि प्रधान पुरुषों का और स्त्रियों का यहां पर यथावत् लक्षण और मान का प्रतिपादन किया। जो इनको यथावत जानता है वह राजाओं में मान प्राप्त करता है ॥३९॥

दोष-गुण-निरूपण

अब अर्च्य चित्रो-मूर्तियो अर्थात् प्रतिमाश्रो आदि कर्मों मे वर्ज्य (त्याज्य)—रूपो का वर्णन करता हू, और यह वर्णन गो-ब्राह्मण-हितैषियो तथा शास्त्रज्ञो के अनुसार वर्णित किया गया हैं ॥१॥

दुष्ट-प्रतिमा :—अशास्त्रज्ञ शिल्पी के द्वारा दोष-युक्त निर्मित प्रतिमा सुन्दर होने पर भी ग्राह्य नही हो सकती ॥ २ ॥

प्रतिमा-दोष :— अश्लिष्ट-सन्धि, विभ्रान्ता, वक्रा, अवनता, अस्थिता, उन्नता, काकजघा, प्रत्यग-हीना, विकटा, मध्य मे ग्रन्थिनता-— इस प्रकार की देवता-प्रतिमा को बुद्धिमान पुरुष को कल्याण के लिए कभी नही बनवाना चाहिए ॥ ३–४ ॥

अश्लिष्ट-सधि वाली देवता-प्रतिमा से मरण, भ्रान्ता से स्थान-विभ्रम, वक्रा से कलह, नता से आयु-क्षय, अस्थिता से मनुष्यो का नित्य धन-क्षय निर्दिष्ट होता है । उन्नता से भय समझना चाहिए और हृद्-रोग । इसमे सशय नही । काक-जंघा देशान्तर-गमन और प्रत्यंग-हीना से गृह-स्वामी को नित्य अनपत्यता तथा विकटाकारा प्रतिमा से दारुण भय समझना चाहिये । अधो-मुखा से शिर का रोग —इन दोषो से युक्त जो प्रतिमा हो उसको वर्ज्य कहा गया है ॥ ५-६३ ॥

इन दोषो के अतिरिक्त अन्य दोषो से युक्त प्रतिमा का अब वर्णन करता हूं । उद्बद्ध-पिण्डिता ? गृह-स्वामी को दुःख देती है, कुशिगता ? दुर्भिक्ष और कुब्जा प्रतिमा मनुष्यों को रोग देती है । पार्श्व-हीना प्रतिमा तो राज्य के लिए अशुभ-दायिनी होती है । जो प्रतिमा नाना काष्ठो मे युक्त तथा लोह-पिण्डिता और सन्धियो से बंधी, हो वह अनर्थ और भय को देने वाली कही गई है । लोह से अथवा कदाचित् अयु से और उसी प्रकार से काष्ठ से प्रतिमा बनाना बताया गया है । पुष्टि की इच्छा रखने वाले को सन्धिया भी सुश्लिष्ट बनानी चाहिए ।

शास्त्र-प्रतिपादित विधान के अनुसार ताम्र, लोह से अथवा सोने और चादी से बाधना चाहिए । इसलिए सब प्रयत्नो से शास्त्रज्ञ स्थपति को यथा-शास्त्र-प्रमाणानुसार सुविभक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए ॥६३-१७३॥

सुविभक्ता, यथाप्रतिपादित उन्नता, प्रसन्न-वदना, शुभा, निगूढ-संधिकरणा, समाना, आयति वाली, सीधी इस प्रकार की रूपवती एवं प्रमाणों और गुणों से युक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए। जहां तक पुरुष-प्रतिमाओं का सम्बन्ध है वे भी पूर्णांग, अविकलांग निर्मेय हैं ॥१७½-१८॥

संपूर्ण गुणों को समझ कर और संपूर्ण दोषों को ध्यान में रख कर जो स्थपति यथाप्रतिपादित गुणों से कल्याण के लिए प्रतिमा का निर्माण करता है उस शिल्पी की और लोग शिष्यता स्वीकार कर उस बुद्धिमान शिल्पी की उपासना करते हैं और उसकी बार बार प्रशंसा करते है ॥१६॥

ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण

इस अध्याय मे अब इस के बाद भी स्थान-विधि-क्रम का वर्णन करता हूं। सपात एव विपात से स्थानक प्रतिमाओं मे ये नौ वृत्तिया उपकल्पित हो जाती हैं। प्रतिमायें वास्तव मे मुद्राओ के द्वारा ही समस्त उपदेश एव ज्ञान वितरण कर देती हैं। मुद्रायें तीन प्रकार की होती हैं—शरीर-मुद्रा, हस्त-मुद्रा एवं पाद-मुद्रा। इस अध्याय मे शरीर-मुद्राओ—नौ मुद्राओ का वर्णन किया जाता है।

सर्वप्रथम शरीर-मुद्रा ऋज्वागत है, पुनः अर्धर्ज्वागत, उसके बाद साचीकृत फिर अध्यर्धाक्ष—ये चारों शरीर-मुद्रायें ऊर्ध्वागत हैं। अब परावृत्त शरीर-मुद्राओ का कीर्तन करते हैं। उनमे भी ये ही परावृत-पदोत्तर ये चारो मुद्रायें बन जाती हैं: ऋज्वागत परावृत्त, अर्धर्ज्वागत परावृत्त, अध्यर्धाक्ष परावृत्त तथा साचीकृत परावृत्त। नवीं शरीर-मुद्रा, यतःपरावलम्बी है अतः इसे पार्श्वागत के नाम से पुकारते हैं क्योकि वह भित्तिक-विग्रह है ॥१-४॥

स्थान-विधि वैसे तो मुख्यतः चतुर्धा हैं, पुनः परावृत्त-परिक्षेप से इनकी अष्टधा हुई, पुनः नवम पार्श्वागत के रूप में वर्णित किया गया है। अब इनके अन्तरो की सख्या इकतीस बनती है —

(i) ऋज्वागत तथा अर्धर्ज्वागत, इन दोनो के मध्य मे अन्तर चार बनते हैं ;

(ii) अर्धर्ज्वागत तथा साचीकृत इन दोनो के मध्य मे तीन बनते हैं ;

(iii) अध्यर्धाक्ष और साचीकृत इन दोनो के मध्य मे केवल दो अन्तर बनते हैं ;

(iv) पार्श्वागत का अन्तर केवल एक बनता है ;

(v) ऋज्वागत के परावृत्त तथा पार्श्वागत इन दोनों के मध्य मे दस अन्तर बनते हैं ;

(vi) इसी प्रकार अन्य शरीरावयवो को दृष्टि मे रखकर जैसे अर्धभाग,

े परूष, असत्य-वादी, भयकर आदि रूपो मे निर्मेय है । साथ ही साथ भूतो की प्रतिमाओ में वैशिष्ट्य यह है कि वे भी वडे भयंकर, उग्र-रूप तथा भीम-विक्रम विकृताननं, सघ-रूप मे, यज्ञोपवीत धारण किये हुए, कवचो को लिये हुए तथा घाटिकाओ से शोभ्य ऐसे भूतो तथा उनके गणो को बनाना चाहिये ॥५६½-६०॥

अब जो सुर और असुर नही बताये गये है, उनको भी कार्यानुरूप बनाना चाहिये और जिस असुर और सुर का लिङ्ग हो, राक्षसो और यक्षों, गन्धर्वों और नागो का जो लिग हो, विशेषज्ञ लोग उनका निर्माण करें । प्राय पराक्रमी, क्रूरकर्मा दानव लोग होते हैं, उन्हें किरीट-धारी तथा विविध आयुधो से सुसज्जित बाहु वाले बनाना चाहियें । उनसे भी कुछ छोटे और गुणो से भी छोटे दैत्य लोग बनाने चाहियें । दैत्यो से छोटे मदोत्कट यक्ष लोगो का निर्माण करना चाहिये । उनसे हीन गन्धर्वों और गन्धर्वों से हीन पन्नगो और उनसे हीन नागो को बनाना चाहिए । राक्षस तथा विद्याधर लोग यक्षो से हीन देह धारी बताये गये हैं। चित्र-विचित्र माला एव वस्त्र धारण किये हुये तथा चित्र-विचित्र तलवारो और चमडो को लिये तथा नाना वेष धारण करने वाले भयानक घोर रुप भूत-सघ होते हैं । वे पिशाचों से भी अधिक मोटे और तेज से कठोर होते हैं ॥ ६१-६७ ॥

विशेष सकेत यह है कि न तो अधिक न कम प्रमाण, पुरुष वेष इन सुरासुर गणो की प्रतिमाओ मे यह परिकल्पन आवश्यक है ॥६८½॥

टि० अन्तिम श्लोक अर्थमात्र एव गलित है ।

पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण

हंस-प्रभृति पाच पुरुषो और दण्डिनी-प्रभृति पाचो स्त्रियो के देह-बन्धाधिक का वर्णन करता हूं। हंस, शश, रूचक, भद्र, और मालव्य ये पाच पुरुष बताये गये हैं ॥१॥

हंसः—उनमे हंस-नामक पुरुष का मान बताया जाता है। हंस का आयाम ८८ अंगुलो का बताया गया है। अन्य चार पुरुषो का आयाम क्रमशः दो दो अगुल की वृद्धि से समझना चाहिए। उसका ललाट ढाई अगुल के प्रमाण से तथा नासिका और ग्रीवा तथा वक्ष-स्थल ग्यारह अंगुल के आयाम से होता है। इस प्रकार उदर, नाभि, और लिंग का अन्तर दश अंगुलो के प्रमाण का होता है। ऊरू बीस अंगुल और जघा तीन अगुल और जानु पाच अगुल और दो अगुल का शिर। केशान्त प्रमाण अपने मानानुसार सबसे अधिक होता है। उसी के बीस अगुल के प्रमाण से वक्षस्थल का विस्तार होता है। हंस के हाथो का विस्तार बारह अंगुल का होता है। दोनो प्रकोष्ठ दश अगुल के प्रमाण से विहित हैं। प्रलग २ श्रोणि नितम्ब आदि प्रदेश मानानुसार विहित होते हैं ॥२-८॥

शशः—हंस के स्वभाव के विपरीत तथा अपने के अनुसार ही यह शश-रूप विहित है। तथैव उसके अग निर्मेय हैं। शास्त्रानुकूल तीन अंगुल के प्रमाण से (?) नासिका और मुख होता है। ग्रीवा भी उसी प्रमाण वाली होती है, वक्ष-स्थल तो ग्यारह अगुल के प्रमाण से होता है तथा उदर और नाभि और मेढ़ का अन्तर दश अगुल होता है। दोनो ऊरू बीस मात्रा, शश-नामक पुरुष की बतायी गयी हैं और दोनो जानु बीस अगुल की और दोनो जंघा बीस मात्रा की। दोनो गुल्फ तीन अंगुल के आयाम वाले और शिर भी उसी प्रमाण का होता है। इस प्रकार से इस शश-नामक पुरुष का आयाम ९० (नब्बे) अगुल के प्रमाण से होता है। इस का वक्षःस्थल बाईस अगुल के प्रमाण का बताया गया है। बाहु, प्रबाहु और पाणि, हंस के समान शश के भी होते हैं। समयानुसार एवं स्वभावानुरूप वह कृशोदर अर्थात् दुबला बनाना चाहिये ऐसा विचक्षण विद्वानों ने बताया है ॥१४॥

रुचक :—रुचक-नामक पुरुष का मुखायाम साढ़े दस अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। इसकी ग्रीवा साढे तीन अंगुल के प्रमाण से बतायी गयी है। उसका वक्षस्थल ग्यारह अंगुल का और उसी प्रकार से उदर। नाभि और मेढ़ का अन्तर दस अंगुल का बताया गया है। ऊरु बीस अंगुल और जानु तीन अंगुल और उनकी दोनों जंघाओं का आयाम बीस अंगुल के प्रमाण से बताया गया है। उसके दोनों गुल्फ और शिर तीन अंगुल के प्रमाण के होते हैं। इस प्रकार से रुचक-नामक पुरुष ९२ अंगुल का बताया गया है। इसके वक्षस्थल का विस्तार बीस अंगुल का और इसकी दोनों भुजायें और प्रकोष्ठ दस अंगुल के प्रमाण से बताये गये हैं। इसके दोनों हाथ ग्यारह अंगुल के विस्तार वाले बताये गये हैं। इस प्रकार से पीन-स्कन्ध, पीन-बाहु, लीला-सहित गति वाला और चेष्टा वाला, बलवान और वृत्त-बाहु, सुन्दर आकृति वाला रुचक पुरुष होता है ॥१५—२१½॥

भद्र:—भद्र के मस्तक का आयाम तीन अंगुल से होता है।(?) ग्यारह अंगुल से और ग्रीवा साढ़े तीन अंगुल से। इस का वक्षस्थल और जठर पाद-सहित ग्यारह अंगुल का होता है। इसकी नाभि और इसके मेढ़ का अन्तर साढ़े दस अंगुल से समझना चाहिए। दोनों ऊरुओं का आयाम पाद-सहित बीस अंगुल का समझना चाहिए। दोनों जंघाओं का भी आयाम उसी प्रकार से, और जानु और गुल्फ त्रिमात्रिक होते हैं। इस प्रकार से भद्र का आयाम ९४ अंगुल का बताया गया है। वक्ष का आयाम २१ तथा दोनों बाहु ११ अंगुल विहित हैं ॥ २१½—२५ ॥

टि० —लेखक (Scribe not author) के प्रमाद-वश इस अध्याय का अंश दूसरे अध्याय में प्रक्षिप्त प्राप्त होता है, अतः इस परिमार्जित एवं वैज्ञानिक संस्करण में यथा-स्थान उसको (प्रक्षिप्तांश दे० स० मू० मूल अध्याय ७९ ८४½-९६) यहां पञ्च-पुरुष-स्त्री-लक्षण अध्याय (परि० स० ५९. २६-३८) में लाया गया है। अतएव इसका अब यहां अनुवाद दिया जा रहा है।

इस भद्र-पुरुष का वक्ष-स्थान एवं श्रोणि अर्थात् नितम्ब पृथक् पृथक् परिकल्प्य है। उसके बाहु गोल एवं सुसंस्कृत निर्मेय है, अतएव वह वास्तव में भद्र (सौम्य) रूप बन जाता है। उसका मुख स्वभावतः गोल ही बनाना चाहिये ॥२६॥

मालव्य :—इस मालव्य नामक पांचवें पुरुष का मूर्धा-प्रमाण अंगुल-त्रय बताया गया है। इसी प्रकार इसके ललाट, नासिका, मुख, ग्रीवा, वक्ष, नाभि, मेढ़ एवं ऊरु आदि के अंग भी वासन-मानानुरूप परिकल्प्य है। दोनों ऊरु इसकी

अठारह अंगुल की हो, जंघायें भी उसी प्रमाण की हों। अन्य अंग जैसे जानु आदि वे चार अंगुल से विहित हैं। इस प्रकार इस मालव्य-पुरुष का आयाम ९६ अंगुल का प्रमाण प्रतिपादित किया गया है। उसके वक्षः-स्थल का विस्तार वास्तव में २६ मात्राओं का होता है। बाहु एवं प्रबाहु इन दोनों का १६ मात्राओं से विहित है। पार्ष्णि दोनों द्वादश मात्रा के प्रमाण मे परिकल्प्य हैं। इस प्रकार इस मालव्य पुरुष की विशेषता यह है कि वह पीनांस (पीन-स्कन्ध), दीर्घ-बाहु (आजानु-बाहु), विशालवक्षा एवं कृशोदर हो क्योंकि इस पुरुष-प्रमाण में महा-पुरुषों की प्रतिमा परिकल्पित की जाती है। इसके ऊरू, कटि, जंघा सभी गोल होने चाहिये। अतएव यह पुरुष पुरुषोत्तम माना गया है २७—३१½॥

हंसादि पांचों पुरुषों की अब सामान्य समीक्षा की जा रही है, जिसका सम्बन्ध विशेष कर मुखाकृति से है। हंस का टेढ़ा मुख तथा गण्ड-भाग भी कुछ पृथुल सा प्रतीयमान हो रहा हो। शश-नामक द्वितीय पुरुष का आनन कृश एवं आयत सा प्रतीत हो रहा हो। विस्तार एवं लम्बाई में भद्र-पुरुष का आनन जैसा ऊपर बताया गया है, वह सुन्दर, सुडौल एवं गोल हो। मालव्य की आकृति तो पहले ही पुरुषोत्तम के रूप मे प्रकीर्तित की जा चुकी है, वैसी यहां पर भी निर्दिष्ट है ॥३१½-३४॥

अब पञ्च-स्त्री-लक्षण प्रतिपादित किया जाता है। हंसादि के समान इनके नाम हैं : वृत्ता, पौरुषी, बालकी (बलाका), दण्डा..... (?)

टि०:—परन्तु यहां पर तो केवल तीन ही भेद मिल रहे हैं अतः प्रक्षिप्तांश भी यह गलितांश है।

वृत्ताः—नारी मांसल-शरीरा, मांसल-ग्रीवा मांसलायत-शाखा तथा गोल-मटोल बतायी गयी है ॥३५॥

पौरुषी.—नारी पृथु-वक्षा, कटी-ह्रस्वा, ह्रस्व-ग्रीवा, पृथूदरी पुरुष के काण्ड-तुल्या ऐसी पौरुषी यथानाम पुरुषाकृति से भासित होती है ॥३६॥

बलाका -(बालकी):—नारी अल्प-काया, अल्प-ग्रीवा, अल्प-शिरस्का, लघु-शाखा, कृशाङ्गी, अल्प-वह्न-सत्वा बतायी गयी है ॥३७॥

पुनः इस की परिभाषा में स्त्री-लक्षण-विचक्षण विद्वानों ने यह भी बताया है कि पुरुष-सम्पर्क से यह कुमारावस्था में जब प्राप्त-यौवना हो जाती है

तो वह दूसरी कोटि की बालकी या बलाका नारी के नाम से विख्यात होती है। ॥३८॥

इस प्रकार हंस आदि प्रधान पुरुषों का और स्त्रियों का यहां पर यथावत् लक्षण और मान का प्रतिपादन किया। जो इनको यथावत् जानता है वह राजाओं से मान प्राप्त करता है ॥३९॥

दोष-गुण-निरूपण

अब अर्च्य चित्रों-मूर्तियों अर्थात् प्रतिमाओं आदि कर्मों में वर्ज्य (त्याज्य)—रूपों का वर्णन करता हूं, और यह वर्णन गो-ब्राह्मण-हितैषियों तथा शास्त्रज्ञों के अनुसार वर्णित किया गया है ॥१॥

दुष्ट-प्रतिमा :—अशास्त्रज्ञ शिल्पी के द्वारा दोष-युक्त निर्मित प्रतिमा सुन्दर होने पर भी ग्राह्य नहीं हो सकती ॥ २ ॥

प्रतिमा-दोष :— अश्लिष्ट-सन्धि, विभ्रान्ता, वक्रा, अवनता, अस्थिता, उन्नता, काकजंघा, प्रत्यंग-हीना, विकटा, मध्य में ग्रन्थितता— इस प्रकार की देवता-प्रतिमा को बुद्धिमान पुरुष को कल्याण के लिए कभी नहीं बनवाना चाहिए ॥ ३–४ ॥

अश्लिष्ट-सन्धि वाली देवता-प्रतिमा से मरण, भ्रान्ता से स्थान-विभ्रम, वक्रा से कलह, नता से आयु-क्षय, अस्थिता से मनुष्यों का नित्य धन-क्षय निर्दिष्ट होता है। उन्नता से भय समझना चाहिए और हृद्-रोग। इसमें संशय नहीं। काक-जंघा से देशान्तर-गमन और प्रत्यंग-हीना से गृह-स्वामी की नित्य अनपत्यता तथा विकटाकारा प्रतिमा से दारुण भय समझना चाहिये। अधोमुखा से सिर का रोग —इन दोषों से युक्त जो प्रतिमा हो उसको वर्ज्य कहा गया है ॥ ५-६३ ॥

सुविभक्ता, यथाप्रतिपादित उन्नता, प्रसन्न-वदना, शुभा, निगूढ-सन्धिकरणा, समाना, आयति वाली, सीधी इस प्रकार की रूपवती एवं प्रमाणो और गुणो से युक्त प्रतिमा का निर्माण करना चाहिए। जहा तक पुरुष-प्रतिमाओ का सम्बन्ध है वे भी पूर्णांग, अविक्लाग निर्मेय हैं ॥१७½-१८॥

संपूर्ण गुणों को समझ कर और संपूर्ण दोषो को ध्यान मे रख कर जो स्थपति यथाप्रतिपादित गुणो से कल्याण के लिए प्रतिमा का निर्माण करता है उस शिल्पी की ओर लोग शिष्यता स्वीकार कर उस बुद्धिमान शिल्पी की उपासना करते हैं और उसकी बार बार प्रशंसा करते है ॥१९॥

ऋज्वागतादि-स्थान-लक्षण

इस अध्याय मे अब इस के बाद नौ स्थान-विधि-क्रम का वर्णन करता हू । सपात एव विपात से स्थानक प्रतिमाओ मे ये नौ वृत्तियां उपकल्पित हो जाती हैं। प्रतिमायें वास्तव मे मुद्राओ के द्वारा ही समस्त उपदेश एव ज्ञान वितरण कर देती हैं। मुद्रायें तीन प्रकार की होती हैं—शरीर-मुद्रा, हस्त-मुद्रा एव पाद-मुद्रा। इस अध्याय मे शरीर-मुद्राओ—नौ मुद्राओ का वर्णन किया जाता है।

सर्वप्रथम शरीर मुद्रा ऋज्वागत है, पुनः अर्धर्ज्वागत, उसके बाद साचीकृत फिर मध्यर्धाक्ष—ये चारों शरीर-मुद्रायें ऊर्ध्वागत हैं। अब परावृत्त शरीर-मुद्राओ का कीर्तन करते हैं। उनमे भी ये ही परावृत-पश्चोत्तर ये चारो मुद्रायें बन जाती हैं · ऋज्वागत परावृत्त, अर्धर्ज्वागत परावृत्त, अध्यर्धाक्ष परावृत्त तथा साचीकृत परावृत्त। नवी शरीर-मुद्रा, यत परावलम्बी है अत. इसे पार्श्वागत के नाम से पुकारते हैं क्योंकि वह भित्तिक-विग्रह है ॥१-४॥

स्थान-विधि वैसे तो मुख्यत चतुर्धा है, पुन· परावृत्त-परिक्षेप से इनकी अष्टधा हुई, पुनः नवम पार्श्वागत के रूप मे वर्णित किया गया हैं। अब इनके व्यन्तरो की सख्या इकतीस बनती है —

(i) ऋज्वागत तथा अर्धर्ज्वागत, इन दोनो के मध्य मे व्यन्तर चार बनते हैं ;

(ii) अर्धर्ज्वागत तथा साचीकृत इन दोनो के मध्य मे तीन बनते हैं ;

(iii) अध्यर्धाक्ष और साचीकृत इन दोनो के मध्य मे केवल दो व्यन्तर बनते हैं ;

(iv) पार्श्वागत का व्यन्तर केवल एक बनता है ;

(v) ऋज्वागत के परावृत्त तथा पार्श्वागत इन दोनो के मध्य मे दस व्यन्तर बनते हैं ;

(vi) इसी प्रकार अन्य [illegible]वयवो को दृष्टि मे रखकर जैसे अर्धाङ्ग,

अथ वैष्णवादि-स्थान-लक्षण

अथ इसके बाद अनेक मर्त्य चेष्टा-स्थानों का वर्णन किया जाता है जिनको समझ कर एवं उसी के अनुसार विधान कर चित्र-विशारद मोह को नहीं प्राप्त होते हैं ॥१॥

षड्-स्थान :–वैष्णव, समपाद तथा वैशाख और मण्डल, प्रत्यालीढ और आलीढ इन स्थानों का लक्षण कहना चाहिए ॥२॥

वैष्णव स्थान :—टि० इस तीसर श्लोक का पूर्ण पाद गलित है। दोनों पादों का अन्तर ढाई ताल के प्रमाण से होता है। उन दोनों का एक समन्वित और दूसरा पक्ष-स्थित त्रिकोण होता है और कुछ जंघा खिंची हुई दिखाई पड़ती है। इस प्रकार का यह वैष्णव स्थान बनता है और यहां पर भगवान् विष्णु अधिदेवता परिकल्पित किये गये हैं ॥३–४½॥

समपाद स्थान समपाद-नामक स्थान में दोनों पाद समान होते हैं और वे ताल-मात्र प्रमाण के अन्तर पर स्थित होते हैं। साथ ही साथ स्वभाव से वे सुन्दर होते हैं और यहां पर अधिदेवता ब्रह्मा होते हैं ॥५½-६½॥

वैशाख स्थान —दोनों पादों का अन्तर साढ़े तीन ताल का होता है। पहला पाद अग्र तथा दूसरा पाद पक्ष-स्थित अंकित करना चाहिए। इस प्रकार से यह वैशाख-संज्ञा वाला स्थान होता है और इस स्थान की अधिदेवता भगवान् विशाख स्वामिकार्तिक होते हैं ॥६½-८½॥

मण्डल-स्थान —इन्द्र-सम्बन्धी मण्डल नामक स्थान होता है और दोनों पाद चार ताल के अन्तर पर स्थित होते हैं। त्रिकोणों और पक्ष-स्थिति से कटि जानु के समान होती है ॥८½-९½॥

आलीढ –पांच ताल के अन्तर पर-स्थित दक्षिण पाद को फैलाकर आलीढ नामक स्थान बनाना चाहिए और यहां के देवता भगवान् रुद्र होते हैं ॥९½ १०½॥

प्रत्यालीढ :–दक्षिण पाद कुंचित करके वाम पाद को प्रसारित करना चाहिए। आलीढ के प्रतिवर्तन से प्रत्यालीढ कहा जाता है ॥१०½-११½॥

टि० इन प्रमुख स्थानक पाद-मुद्राओं के अतिरिक्त अन्य स्थानक मुद्राओं

का भी कीर्तन किया जाता है। इन मे तीन पाद-मुद्रायें विशेष कीर्त्य हैं। वहां पर पहली मे दक्षिण तो बराबर, दूसरे मे अर्थात् वाम मे त्रिकोण तथा तीसरी मुद्रा मे कटि समुन्नत वाम इस प्रकार यह पहली मुद्रा अवहित्थ के नाम से, दूसरी...?, तीसरी चक्रान्त के नाम से पुकारी गई है। समुन्नत कटि वाला वाम पाद जब प्रदर्श होता है तो उसकी संज्ञा अवहित्थ कही गई है। एक पाद बराबर स्थित तथा दूसरा अग्र-तल से युक्त कहलाता है तो उसकी संज्ञा... ? तीसरी चक्रान्त कही जाती है। ये तीन स्थान स्त्रियों के और कहीं कहीं पुरुषों के भी होते हैं ॥११½–१३॥

कटि के पार्श्व-भाग मे दो हाथ, मुख, वक्षस्थल, ग्रीवा तथा शिर इन समस्त स्थानों मे क्रियानुसार कार्य करना चाहिए। क्रियायें अनन्त हैं। उनका संपूर्ण रूप से वर्णन करना असम्भव है। इस लिए हम लोग यहां पर उनका दिङ्मात्र वर्णन करते हैं ॥१४–१५॥

प्रिय के निकट प्रसन्न स्त्री का अथवा प्रिया के निकट पुरुष की जैसी स्थिति अथवा संस्थान हो वह यत्र-पूत्र ऋज्वागत-स्थान मे होता है ॥१६-१७½॥

इन मुद्राओं में अवयव-विभाग भी होता है, उसका क्रमशः अब वर्णन करता हूं ॥१७॥

नासिका और अधर-पुटों में और अन्य नाना अंगों मे जैसे सृक्कणी, नाभि आदि तथा पीछे ऊरु के मध्य से और उसी के समान पीछे के गुल्फ के अन्त मे त्रिभंग-नामक स्थान मे सूत्र की गति बतायी गयी है। इस त्रिभंग-नामक स्थान मे एक ताल के अन्तर पर गति दिखानी चाहिए। छतीस अंगुल भागीय स्थान के मध्य मे ऐसा निर्माण विहित है ॥१८-२०॥

त्रिविध-गतियां:—द्रुत, मध्य, विलम्बित—प्रभेद से तीन प्रकार का गमन होता है।

टि०—इन गमनादि त्रिविध गतियों का अनुवाद असंभव है, यतः पूरा का पूरा ग्रन्थ गलित एवं भ्रष्ट है।

इस प्रकार से इन सब गमन-स्थानों में संस्थान समझना चाहिए। अन्य सूत्रों की यथोचित स्थिति को विद्वान् लोग ठीक तरह से समझ कर करें ॥२१-३४॥

टि० इन मुद्राओं में दृष्टि एवं हस्तादि के क्रियाओं का विवेचन अनिवार्य है।

दृष्टियों, हस्तों आदि के विनिवेश से इन चार स्थानों का छन्दानुकीर्तन होता है ॥३५॥

सूत्र-विन्यास-क्रिया:—और भी बहुत सी जो मनुष्यों की क्रियायें होती हैं वे प्रेरित करने योग्य होती हैं। उनका शिष्यों के ज्ञान के लिए तीन सूत्रों का पालन करना चाहिए। ब्रह्म-सूत्र-गत सूत्र में और दो पार्श्व से सम्बन्धित वहां पर उन स्थानों में ऊपर तीन सूत्र हैं वे पूर्णरूप से बोधव्य हैं। उनमें मध्य में जो बनाया जाता है उसे ब्रह्मसूत्र कहते हैं। भित्ति के फिर मध्य भाग की अपेक्षा से पार्श्व में स्थित जो सूत्र होता है वह मध्यगामी ब्रह्मसूत्र कहलाता है। जो दोनों पार्श्वों पर से गये हैं उनकी भी संज्ञा पार्श्व-सूत्र ही है। अवयवावयवों की पूर्ण निष्पत्ति के लिये विधान-पूर्वक जो जो अभीप्सित कार्य सम्पादित करना है उसमें इन तीनों ऊर्ध्व-सूत्रों का विन्यास अनिवार्य है। इन के मान तिर्यङ्-मानानुसार ही ये ज्ञेय हैं ॥३६-४२॥

वैष्णव प्रभृति स्थानों का वर्णन ठीक तरह से किया गया। गमनादि तीनों गतियां भी बतायी गयी हैं। सूत्र की पातन विधि भी यथावत प्रतिपादित की गयी है और इसके ज्ञान से स्थपति शिल्पियों में श्रेष्ठ गिना जाता है ॥४३॥

अथ पताकादि-चतुष्षष्टि-हस्त-लक्षण

टि० शारीर-मुद्राओ एव स्थानक-मुद्राओ के उपरान्त अब हस्त-मुद्राओं का वर्णन किया जा रहा है।

अब चौंसठ हस्तो के योगायोग-विभाग से लक्षण और विनियोग का वर्णन किया जाता है ॥१॥

१	पताक	९.	कपित्थ	१७.	चतुर
२.	त्रिपताक	१०	खटकामुख	१८.	भ्रमर
३.	कर्तरीमुख	११	सूच्यास्य	१९.	हंसास्य
४	अर्धचन्द्र	१२.	पद्मकोष	२०.	हंसपक्ष
५	अराल	१३	अहिशीर्ष	२१.	सदश
६.	शुकतुण्ड	१४	मृगशीर्ष	२२	मुकुल
७	मुष्टि	१५	काग्ल	२३	ऊर्णनाभ
८	शिखर	१६	कालपक्ष	२४	ताम्रचूड

यह चौबीस हस्तो की सख्या होती है और उनका लक्षण और कर्म बताया जाता है ॥२-५॥

पताक-हस्त —जिसकी प्रसारित अग्र-भाग सहित अंगुलिया होती हैं और जिसका अगुष्ठ कुंचित होता है उसको पताक कहा गया है।

अब इसके विशेषो के सम्बन्ध मे यह सूच्य है कि वक्ष स्थल से लगाकर शिर तक उत्क्षिप्त हस्त उठा हुआ और बायें से झुका हुआ और कुछ भृकुटियो को चढाकर और कुछ आखें फाडकर प्रहार का निर्देश करें। पुन प्रतापन एवं उग्र रस का दर्शन कराता हुआ एव अविकृत मुखाकृति से कुछ मस्तक पर हाथ रख कर पताका के समान स्फारित नेत्रों से एव भृकुटियो को आकुञ्चित भौंहो के द्वारा यह हस्त साक्षात् गर्व-प्रतिमा (मैं साक्षात् गर्व हू) चित्र-शास्त्र विशारदो के द्वारा बताया गया है। जो वक्ष्यमाण अर्थ हैं उनमे उसको सयुत करें। दूसरा हाथ इसमे विहित है। इस हाथ को ऊपर उठाकर अगुलियो को चलाता हुआ वर्षाधारा-निकर का दर्शन कराव तथा पुष्प-

चेष्टि का हस्त उपस्थित करे। दोनो हाथ टेढे होवें । पुन एक को स्वस्तिक-रूप प्रदान करे। पुनः उसकी विच्युति करे और 'पल्लवाकृति से दिखावे। इसी प्रकार अन्य सब अङ्गो एव उपाङ्गो में ये मुद्रायें प्रस्फोटय है, इसमे सदैव अविकृत मुख दिखाना चाहिए। हस्त-शास्त्री को गछान एव सम्यक प्रदर्शित करे; तलवो को अधोमुख कर के कुछ मस्तक नीचे झुका कर निविड से निविड, बिना विकार के मुख-रूपी कमल वक्ष-स्थल के आगे तथा ऊपर परावृत होने पर मन की शक्ति को प्रयत्न-पूर्वक प्रदर्शन करना चाहिए। गुप्त बाम से गोप्य तथा कुछ विनत मस्तक होकर और कुछ बाईं भौ को आकुंचित कर के दिखाना चाहिए। पार्श्वस्थ पताका से दोनो पाणि-पद्मो को उससे युक्त करना चाहिये। अविकृत मुख से वायु का भी अभिनय करना चाहिए। अथच नाट्य-शास्त्र में इस हस्त की मुद्रा जिस प्रकार समुद्र-वेला वायु एव लहरों में क्षोभ्य है, उसी प्रकार बुद्धिमान को इन दोनों हाथो से दिखाना चाहिए। पुर-स्थित बाम और दक्षिण हाथ से तो पहिला कुछ सर्पण करता हुआ और दूसरा कुछ शिर को हटाता हुआ ऐसा मनुष्य वग का प्रदर्शन करता हुआ और नित्य अविकृत मुख धारण करता हुआ प्रदर्श्य है। दोनों हाथों में चलते हुए दूसर हाथ से तो और तदनुसार विवृतानन होकर वह हस्त नाट्य में निपुण क्षोभ का अभिनय करे। कुछ भृकुटी को चढ़ा कर पताको से अभिनय करना चाहिए। पार्श्व में अव-स्थित ऊपर चलती हुई अगुली से बार बार मर्दन को मचा कर उत्साह कराना चाहिये। तिरछे विस्फारित नेत्रो से अभिनीत इस प्रकार दोनो पार्श्वों पर व्यवस्थित अगुलि से बड़ा भारी अभिनय करना चाहिए। अन्य एव उत्तानित अविकारी मुख से पताक नामक पाणि से ही स्पर्श करना चाहिए और इधर उधर चलते हुए हाथ से पुष्कर-ताडन दिखाना चाहिए। पुन अन्य अगो जैसे मुख आदि से भी नाना अभिनय क्रियायें प्रदर्श्य है। विकृत मुख से नित्य वक्षोक्षेप-क्रिया करणीय है। पुन उत्तानित एव विधृत दूसरे हाथ से भी यह करणीय है। भृकुटि आदि नेत्र-भ्रान्ति भी महान भयकर एव वीर-गुणा-न्वित-रस से प्रदर्श्य है। ऐसा मानो साक्षात् शैलेन्द्र-पर्वत-राज को उठा रहा हो। धीरे धीरे भ्रू-लतिका को कुछ समुत्क्षिप्त कर दिखाना चाहिए। परस्पर-संसक्त एव सम्मुख उसमे शैल-धारण दिखाना चाहिए। तदनन्तर बनावटी भृकुटी से दोनो पार्श्वों का अधोभाग प्रविष्ट कराकर उसी प्रकार शैल उत्पाटन दिखाना चाहिए। शिर-प्रदेश पे स्थित तथा दूर से उत्तानित ऊंची भौ से पर्वत की उद्धरण-क्रिया दिखानी चाहिए ॥६८-१६॥

त्रिपताक-हस्त-मुद्रा:-पताक-हस्त मे जब अनामिका अंगुली टेढी होती है, तब उस हस्त को त्रिपताक समझना चाहिए और उसके कर्म का अब वर्णन किया जाता है। इस की विशेषता है कि उसमे अंगुलिया—मध्या, कनिष्ठा आदि चल रही हो। कुछ नत-मस्तक से यह करना चाहिए और इस को ऊपर उठा कर विनत मस्तक से उसी प्रकार अवतरण-क्रिया करनी चाहिए। वास से प्रसर्पण करता हुआ इसी प्रकार से विसर्जन करना चाहिए। पुन. प्राङ्मुख होकर अथवा भृकुटी तान कर पार्श्वस्थित से धारण और नीचे झुके हुए से प्रवेश करना चाहिए। पार्श्वस्थ से धारण तथा अधोनति से प्रवेश करते हुए दोनों अगुलियों के उत्क्षेपण से तथा इसके तानने से और अविकारी मुख से उन्नावन करना चाहिए और पार्श्व मे नत मस्तको मे प्रणाम करना चाहिए। फैलाये ऊपर अगुलि उठा कर निदर्शन करना चाहिये ? हुये मुख के आगे विविध वचनो का निदर्शन एव अनामिका आदि अगुलियो से सूचन-पुरस्सर मागलिक पदार्थों का समालम्भ किया जाता है। पराङ्मुख तथा शिर-प्रदेश म सजेण करत हुये इस हाथ से शिर-सन्निवेश दिखाना चाहिए। और यह सब अविकारी मुख से दिखाना चाहिए। दोनो तरफ से केश के निकटवर्ती दोनो हाथो से साफा और मुकुट आदि प्राप्त करता है। यह दिखाना चाहिए। और कान और नाक का बद करना दिखाना चाहिए। निकट-स्थित पाणि वनावटी भौवो से तथा ऊपर स्थित दो अगुली वाले उस हाथ से दोनो अगुलियो स अधोमुख दिखाना चाहिए। इसी हाथ के चलायमान दोनो अगुलियो से पटपदो को दिखाना चाहिए और कभी २ दोनो हाथो से छोटे २ पक्षियो को दिखाना चाहिए और पवन-प्रभृतियो को भी और अन्य पदार्थों को भी दिखाना चाहिए। चलती हुई अगुलियो वाले अधोनत दोनो हाथो से अथवा अधोमुख से आगे सर्पण करता हुआ स्रोत दिखाना चाहिए। ऊपर स्थित सूत्र-सदृशाकार दूसरे हाथ में गगा का स्रोत दिखाना चाहिए। सम्मुख प्रसर्पण करते हुए चलायमान एक हाथ से वह विकृतानन विचक्षण को सर्प का अभिनय करना चाहिए। कनीनिका-देश-सर्पी अधोमुख दूसरी दोनो अगुलियो से उस वितानन व्यक्ति का अश्रु प्रमार्जन दिखाना चाहिए। नीचे २ सर्पण करती हुई भाल-देश तक जाती हुई भृकुटी को धीरे धीरे लचाकर तिलक की रचना करनी चाहिए और फिर उस अनामिका से रोचना-क्रिया करनी चाहिए। यह क्रिया भाल-प्रदेश पर विशेष रूप से विहित है। और उसी से अलकों का प्रदर्शन करना चाहिये तथा उत्तानित त्रिपताक-हस्त से हाथ करना चाहिए। मुख के आगे टेढी २ दो अगुलियो के चालन से और वक्षस्थल के अग्र-भाग से दो अगुलियो

के चलाने से मयूर, सारिका, काक और कोकिल को दिखाना चाहिए। इसी प्रकार मानो पूरे तीनों लोकों का अभिनय प्रदर्श्य है ॥४७-६२॥

कर्तरीमुख-हस्तः—त्रिपताक हस्त में जब मध्यम अंगुली की पृष्ठावलोकनी तर्जनी होती है तब यह कर्तरीमुख नाम से पुकारा जाता है। झुके हुए, नमे हुए पैर से सञ्चरण प्रदर्श्य है तथा अन्य भंगिमा भी अधोमुख में इसी भंगी से रगण करना चाहिए। मस्तक-वर्ती उन्नत भ्रू-प्रदेश-संयुत उप से शृंग दिखाना चाहिए। ऊंची उठी हुई तथा तनी हुई भी दिखायें। पुन. कुछ नीचे झुके हुए उससे अधःपतन अथवा जाते हुए मरण दिखाना चाहिए। वाक्ति विक्षेपण-रहित हस्त से, पुनः कुछ कुञ्चितभ्रू से शिर को झुकाते हुए चलते हुए अन्य भंगिमा प्रदर्श्य एवं अभिनेय है ॥६३-६६½॥

अर्धचन्द्र-हस्त-मुद्रा:—जिसकी अंगुलियां अंगूठे के साथ धनुष के समान खिंची हुई होती है उस हाथ को अर्धचन्द्र कहा गया है। अब उसके कर्म का वर्णन किया जाता है। भौं को ऊंचा कर के एक हाथ से शशि-लेखा का प्रदर्शन करना चाहिए मध्यमा से उपन्यसन उसी प्रकार निर्धाटन करना चाहिए। मोटे तथा छोटे पौध, शख, कलस कंकण इन सब को संयुत हस्त से दिखाना चाहिए। रशना, कुंडल आदि के तथा तलपत्र के तद्देशवर्ती उससे कमर और जांघों का भी अभिनय दिखाना चाहिए। इसी से अनुगता दृष्टि अन्य अभिनयों में भी प्रदर्श्य है ॥६६½-७२॥

अराल-हस्त-मुद्रा:—पहली अंगुली धनुष के समान विनत बनानी चाहिए और अंगूठा कुंचित होना चाहिए और शेष अंगुलियां अराल नामक हस्त में भिन्न एवं ऊर्ध्ववलित अर्थात् उठी हुई बतायी गयी है। आगे से फैलाये हुए तथा कुछ ऊपर उठे हुए इस हस्त से सत्व (बल), शौण्डीर्य (शौर्य), गांभीर्य, धर्म और कान्ति दिखाना चाहिए। और भी जो दिव्य पदार्थ हैं उनको भी अविकृतानन भौंहों को उठाये हुए उस नर्तक को इसी भांति से दिखाना चाहिए एक हाथ से आशीर्वाद दिखाना चाहिए। स्त्रीकेश-ग्रहण जो होता है और अपने सर्वांग कर निर्वर्णन जो किया जाता है तथा उत्कर्षण भी यह जो सब किया जाता है वह सब भी उठी हुई भ्रू-प्रदर्शन पुरस्सर करना चाहिए और प्रदक्षिण गत हाथों से उसे दिखाना चाहिए। विवाह और सम्प्रयोग तथा बहुत से कौतुक अंगुली के आगे समायोग से बनाई गई स्वस्तिका वाले परिमण्डल से प्रादक्षिण्य दिखाना चाहिए तथा इसी के द्वारा परिमण्डल—सम्मान, महाजन

और इस पृथ्वी पर जो निर्मित द्रव्य हो उन सबको दिखाना चाहिए। दान वारण (निषेध), आह्वान अर्थात- आवाहन (बुलाना), वचन अर्थात् उपदेशादि इस असंयुत एवं चलित हस्त से दिखाना चाहिए। तथा इसी हाथ से पसीने का हटाना और सूंघना चाहिए। नृत्त कोविदो के द्वारा उस प्रदेश में प्रवृत्त हस्त से स्त्रियो के विषय में भी वही हाथ प्राय प्रयोग में लाया जाता है। इन सब कर्मों का यह अराल नामक हस्त त्रिपताक के समान करता है। मुख-स्थित इस हस्त से अभिनय उचित नही यह मुद्रा पूर्वोक्त प्रदर्श्य है ॥७४-८५॥

शुक तुण्ड हस्त मुद्रा—अराल नामक हस्त की जब अनामिका अगुली टढी होती है तब उस हाथ को शुक तुण्ड समझना चाहिए और उसके कर्म का वर्णन अब किया जाता है। तुम इस तिरछे हस्त से अपने को मत दिखाना—यह निर्देश है। पुन पुर प्रसारित एवं सामने झुकते हुए आवाहन, तिरछे प्रसारण पुन विसर्जन आदि व्यावृत्त हस्त मुद्रा मे दिखाना चाहिए। इस हस्त से फिर दृष्टि एवं भ्रू भी अनुगत प्रदर्श्य है ॥८६—८६॥

मुष्टि हस्त मुद्रा—जिस हाथ के तल-मध्य मे अगुलियां अग्र संस्थित होता है और अगूठा उनके ऊपर होता है उसको मुष्टि नामक हस्त कहते है। यह भृकुटि चढाए हुए मुखो सहित इस हस्त द्वारा प्रहार और व्यायाम करना चाहिए और नियम म तो पार्श्व मे स्थित दोनो हाथो से बनाया जाता है ॥९० ९१॥

शिखर हस्त मुद्रा—छड़ी तथा तलवार के ग्रहण मे स्तन पीडन मे, गात्र-मर्दन में असंयुत मुद्रा मे इस हस्त को करना चाहिए, पुन इसी हाथ की मुष्टि के ऊपर जब अगूठा प्रयुक्त होता है तब इस पाथ को प्रयोग करने वालो को शिखर नाम से समझना चाहिए। कुश रश्मि अर्थात डोरी तथा धनुष के ग्रहण में इसे वाम बनाना चाहिए। जहा तक श्रोणि अर्थात नितम्ब-प्रदेश के ग्रहण का विषय है वह दोनो हस्तो को व्यस्त तक करना चाहिए शक्ति, तोमर आदि आयुधो के मोचन मे तो दक्षिण हाथ का प्रयोग किया जाता है। पाद और ओठ के रजन मे, चरित्राशुष्ठक होता है। बानो के समुत्क्षेपण मे इसी प्रदश मे स्थित होता है तथा इसकी दृष्टि और दोनो भ्रुवो को अनुगत बनाना चाहिए ॥ ९२—९६ ॥

कपित्थ हस्त मुद्रा—इसी शिखर-नामक हस्त की जब प्रदेशिनी नामक अगुली दो अगूठों से निपीडित होती है तब उस हस्त को कपित्थ नाम से पुकारा

जाता है। इसी हाथ से विद्वान् को चाप, तोमर, चक्र, असि (तलवार), शक्ति, वज्र, गदा आदि इन सब शस्त्रों के चलाने का अभिनय करना चाहिए। इस प्रकार इन आयुधों के विनियोगवश दृष्टियों एवं भ्रू-चालनों का भी प्रयोग अपेक्षित है ॥६७-९९॥

खटकामुख हस्त-मुद्रा :—कनिष्ठा अंगुली के सहित इस कपित्थ की अनामिका अंगुली उत्क्षिप्त एवं वक्र होती है तब यह हाथ खटकामुख समझना चाहिए। इसी मत हस्त से होत्र, हव्य और छत्र बनाया जाता है। दोनों हाथों से प्रग्रह-ग्रहण तथा उत्ताकर्षण द्रष्टव्य है। एक से आदर्श (शीशा) पकड़ना और पक्षा चलाना, दूसरे से अवक्षेपण करना, उत्क्षेपण करना, फिर खण्डन करना, घूमते हुए इससे परिवेषण करना तथा बड़े दण्ड को ग्रहण करना, वस्त्रालम्बन करना, कुछ वेश-कलाप आदि के पकड़ने में तथा माला आदि के संग्रह में दृष्टि एवं भौं सहित इस हस्त को विचक्षणों के द्वारा प्रयोग करना चाहिए। ॥१००-१०४॥

सूचीमुख-हस्त-मुद्रा :—सूचीमुख खटक नामक हस्त में जब तर्जनी नामक अंगुली फैला दी जाती है तब उस हस्त को सूचीमुख के नाम से प्रयोग-वादियों को समझना चाहिए। इसकी प्रदेशिनी-नामक अंगुली का ही प्रायः व्यापार होता। यह हस्त सम्मुख से कम्पित, उद्वेलित, लोलित एवं आहित विभ्रमों से प्रदर्श्य है। भ्रू का अभिनय, चालन, एवं जृम्भन भी अपेक्ष्य है। धूप, दीप, पुष्प, माल्य, पल्लव आदि पुष्प-मञ्जरी प्रभृति भी प्रदर्श्य हैं। इस में टेढ़ा गमन भी अभिनेय है। वामसर्पों को भी यहां दिखाना आवश्यक है। पुनः आदि मयूरों, मंडल और नयनों (जो ऊपर से चलते हो रहे हों) उनकी तारकाओं को भी दिखाना चाहिये। तथा नासिका की दण्ड-यष्टियों को दिखाना चाहिए, मुखाग्रतः, आगे विनत इससे दाढ़ी दिखाना चाहिए और टेढ़े मण्डल वाली उससे सब लोक दिखाना चाहिए। सब और बड़े दिवस में इसे उन्नत करना चाहिए। अपराह्न-वेला में भौं को झुकती और मुख के निकट उसको कुंचित विजृम्भित करना चाहिए। नृत्य के तत्व को जानने वालों के द्वारा वाक्यार्थ के निरूपण में इस प्रकार की उस अंगुली का प्रयोग करना चाहिए, जिसमें हाथ फैला हुआ हो, अंगुलियां कंप रही हों, विशेष कर गुस्से में पुनः हाथ को उठा कर फैला कर यह अभिनय प्रदर्श्य है। कुंतल, अंगद, गण्ड एवं कुण्डला के रूपण में तर्जन-वर्तिनी, उस अंगुली को बार बार नचाना चाहिए। पुनः उस वपाट में सवृत एवं उद्वृत्त रूप 'मुझे इस प्रकार अभिनय में लाओ'—इसे

प्रकार अभिनय में लाये। इस प्रकार की हस्त-मुद्रा से फिर उसको फैलाकर, उठा कर दिखाना चाहिये। और उग्र-कोप-प्रदर्शन इस अंगुली से 'कौन है'—इस मुद्रा से। तिरछे निकलती हुई तथा कंपती हुई प्रदर्श्य है। पुनः कान खुजलाने में, शब्द सुनने मे भी यही मुद्रा विहित है। हाथ की दो अंगुलियों को सम्मुख संयुक्त करके वियोग में विघटित और लड़ाई मे स्वस्तिका के आकार वाली करना चाहिए। परस्पर-निपीड़न में भी इनको ऊपर उठाते हुए एवं ऊर्ध्वाग्र चलित प्रदर्श्य है। शुक-चमस और तथा दोनों भौंवें को भी हस्तानुगत अभिनेय है॥१२४-१२५॥

पद्मकोशक-हस्त-मुद्रा :—जिसकी अंगुलियां अंगूठे के सहित बिरली और कुंचित होती हैं और ऊपर उठी हुई और अग्रभाग संपृक्त यदि वे होती हैं तो ऐसा हस्त पद्म-संज्ञक कहलाता है। और इस हाथ के द्वारा श्रीफल अथवा कपित्थ का ग्रहण-रूपण करना चाहिए। बीजपूरक-प्रभृति प्रधान फलों का तथा अन्य फलों का भी उन उन फलों के समान रूप बनाकर उस हाथ के समान रूप बनाकर अधः-हाथ के द्वारा ऊर्ध्वगति से रूपण करना चाहिए। मुँह फैलाकर स्त्री का कुच (स्तन) निरूपण करना चाहिए और दृष्टि और भौं को हस्त हाथ के अनुगत बनाना चाहिए॥१२६-१२५॥

सर्पशिर-हस्त-मुद्रा :—जिस हाथ की सब अंगुलियां अंगूठे के सहित संहत अवस्थित उठी होती हैं और जिसके तलवे निम्न होते हैं, उस हाथ को सर्पशिर-नाम से पुकारा जाता है। सींचने और पानी देने में उसे उत्तानित करना चाहिए। सर्प की गति में तो फिर उसे अधोमुख विचलित करना चाहिए और इस सर्पशिर-नामक हस्त से आस्फोटन-क्रिया कही गयी है। फिर भी बढ़ाकर; इस प्रकार से टेढ़ा सिर करके सम्मुख अधोमुख से हाथी का कुम्भ-स्फालन दिखाना चाहिए और भौं-सहित दृष्टि को हस्त की अनुयायिनी बनाना चाहिए॥१२६-१३०॥

मृगशीर्षक-हस्त-मुद्रा :—अधोमुख तीनों अंगुलियों की जब समागति होती है तथा कनिष्ठा और अंगुष्ठ जब ऊपर होते हैं तब यह मृगशीर्षक के नाम से पुकारा जाता है। "यहां पर इस समय यह है—आज यहां पर है" —इस प्रकार इसका प्रयोग करना चाहिए। हस्त के प्रालम्भन में, अक्ष-पातन में, और स्वेदापनयन में, टेढ़ी मुद्रा से इस में ललाटदेश-स्थित अधोमुख करना चाहिए। पुनः उसको क्रोध-मुद्रा प्रदर्श्य है। इसकी अनुयायिनी दृष्टि तथा दोनों भौंवों को भी वैसा ही करना चाहिए॥१३०३-१३३॥

कांगूल-हस्त-मुद्रा :—त्रेताग्नि-संस्थिता मध्यमा एवं तर्जनी के सहित अंगुष्ठ प्रदर्श्य हैं। कांगूल में अनामिका नामक अंगुली टेढ़ी और कनिष्ठा ऊपर की ओर उसी को उत्तानित करके लवकुच-प्रभृति आकृतियों को दिखाना चाहिए और तरुण जो फल हो तथा और कोई जो कुछ छोटी-बड़ी वस्तु हो, अंगुली नचाकर स्त्रियों के रोष-वचनों का तथा मुक्ता, मरकत आदि रत्नों के प्रदर्शन का इसी हाथ से प्रदर्शन विहित है। इसी हस्तानुगत भौंहों का दृष्टि-पुरस्सर अभिनय पूर्ववत् अनिवार्य है ॥१३४-१३७½॥

अलपद्म-हस्त-मुद्रा :—जिसकी अंगुलियां हथेली पर आवर्तिनी होती हैं और पास में पार्श्वगता विकीर्ण होती हैं, उस हाथ को अलपद्म प्रकीर्तित किया गया है। प्रतिषेधन में यह हाथ सम्मुख टेढ़ा बनाना चाहिए। "तुम किसकी हो"—नहीं है—इस वाक्य के शून्य उत्तर में बुद्धिमान के द्वारा अपने उपालम्भ तथा स्त्रियों के सन्देश में यह मुद्रा अभिनेय है। पुनः दृष्टि एवं दोनों भौंहें उसी प्रकार इस हस्त-मुद्रा की अनुगत प्रदर्श्य हैं ॥१३७½-१४०½॥

चतुर-हस्त-मुद्रा :—जहां पर तीन अंगुलियां फैली हुई हों और कनिष्ठा ऊंची उठी हो और उन चारों के मध्य में अंगुष्ठ वक्र हो, उसको चतुर बताया गया है। विनय में और नय में यह हाथ अभिनय-शास्त्रों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। संपुष्प में सिर को उन्नत कर पुनः सत्य अर्थात् वक्ष से ऊंची और कर के पुनः नियम में इस चतुर हस्त को उत्तान बनाना चाहिये, किन्तु कुटिल भ्रू को विनय के प्रति ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए। अधोमुख उस हाथ से बाल दिखाना चाहिए और इस बाल-प्रदर्शन में भृकुटी से टेढ़ा सिर बनाना चाहिए। पुनः उत्तानित हस्त से बलपूर्वक आतुर नर को दिखाना चाहिए। तिरछे फैलाकर फिर उत्तानित कर बाहर अविकृतास्य-मुद्रा से सत्य में तथा अनुमिति में भी यह प्रदर्श्य है। इसी प्रकार से युक्त पथ्य में, क्षय में और यम में इसी प्रकार से हाथ को प्रयुक्त करना चाहिए। दो से अथवा एक से थोड़ा मंडलाव-स्थित उससे विचार करता हुआ अभिनय करना चाहिए और इसी प्रकार लज्जित तथा निर्लज्जित मुद्रा करना चाहिए और वहां पर भौंहों को नीचे करके अविकृत (अविकार्य) मुख दिखाना चाहिए। फिर मण्डलावस्थित वक्षस्थल पुरतः स्थित अधोमुख से वहां भी अविकृत मुख तथा समुन्नत दोनों भौंहें प्रदर्श्य हैं और शिर:शाये से नत प्रदर्श्य है। दोनों पार्श्वों से मृग-कर्ण-प्रदर्शन करना चाहिए। विचक्षणों के द्वारा वहां सर्वत्र दोनों हाथों से भ्रू-सहित क्षेपण प्रदर्श्य है। पुनः उत्तान-युत-हस्त उसके तदनन्तर पत्राकार-प्रदर्शन करना चाहिए। इस चतुर-

संदंश हस्त में भौं को थोड़ा सा नचा कर लीला, रति, स्मृति बुद्धि, मूर्च्छा, मंगल, प्रणय, शौच, माधुर्य, भाव, प्रशम, पुष्टि, सचिव, शोक, चातुर्य, मार्दव गुण, गुप्त-वार्ता, वेष और युक्ति तथा दाक्षिण्य यौवन में, विभव और अविभव तथा कुछ गुण, शाठ्य, मृदु, गुण, अगुण, वर स्त्री, नाना-विध आश्रय वाले वर्ण—ये सभी चीजें इस चतुर-हस्त से यथोचित अभिनय के योग्य हैं। कहीं पर प्रभाव कहीं पर मृदुता तथा जिस २ अर्थ को जैसे जैसे प्रयोग हो बुद्धिमानों को उसी उसी प्रकार पूर्वोक्त हस्त से सौष्ठ में अभिनय करना चाहिए। उसी के अनुसार भ्रू और दृष्टि भी अभिनेय है। अर्थात् इस मुद्रा में सब करना चाहिए। मण्डलस्थ हस्त से पीत और रक्त दिखाना चाहिए। कुछ उद्भ्रू सिर से और परिमंडलित उससे काला नीला दिखाना चाहिए और स्वाभाविक रूप उस चतुर-हस्त से कपोतादि वर्णों को दिखाना चाहिए ॥ १४०-१४६ ॥

ही दोनो हाथो से स्तम्भ-दर्शन अभिनेय है। बाए हाथ को फैलाकर एक से रोमांच करना चाहिए। स्त्रियो अर्थात् प्रियाओ के सवाहन मे और अनुलेपन मे तथा स्पर्श में साथ ही साथ विषाद में और विभ्रम मे भी स्तनान्तरण-रस-स्वाद-पुरस्सर तद्प्रवर्ती बनाना चाहिए। और उसे हनुधारण मे अधस्थल प्रयोग करना चाहिए। इस हाथ की दृष्टि को अनुयायिनी और भौहो को भी अनुगता बनाना चाहिए ॥१६५३-१७२३॥

सन्दंश-हस्त-मुद्रा :—जब अराल-हस्त की तर्जनी और अंगुष्ठ का सन्दश-सज्ञक इस हस्त मे भी विहित होता है और जब उसका तल-मध्य आभुग्न हो जाता है तब वह हस्त सन्दश बताया गया है। वह अग्र, मुख तथा पार्श्व इन तीनो भेदो म तीन प्रकार का होता है और उसको पुष्पावचय तथा पुष्प-ग्रथन मे प्रयुक्त करना चाहिए तथा तृणो तथा पर्णो के ग्रहण मे और साथ साथ केश-सूत्र आदि परिग्रह मे प्रयुक्त करना चाहिए। शिल्प के एक-देश के ग्रहण मे तो अग्रदशक को स्थिर करना चाहिए। आकर्षण म तथा खीचने म भी और वृन्त से पुष्प को उखाडने मे और साथ ही साथ शलाकादि-निरूपण म भी ऐसा ही करना चाहिए। रोष मे तथा धिक्कार के वाक्य मे बाहर के भाग से प्रवर्षण करते हुए इस हस्त-मुद्रा का यह अभिनय विहित है। इसी प्रकार और अभिनय प्रदर्श हैं। गुण-सूत्र के ग्रहण को तथा बाण के लक्ष्य निरूपण ध्यान और योग हृदय-प्रदेश पर इस हस्त को रख कर दिखाना चाहिए और कुछ अभिनय म तो हृदय के सम्मुख समुत करना चाहिए। निन्दा, असूया, कोमल और दोषयुक्त वचनो मे विवर्तिताग्र वाम हस्त कुछ दिधग्नित सा सप्रदर्श है। प्रवाल की रचना मे, वर्तिका के ग्रहण मे, नेत्र-रजन मे और आलेख्य मे तथा अलक्तक-पीडन मे भी इसी हस्त का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर इसकी भ्रू और दृष्टि अनुगत करना चाहिए ॥१७२३-१८२३॥

मुकुल-हस्त-मुद्रा :—जिस हस्त की हंस-मुख के समान हस्त-मुद्रा ऊर्ध्वा होती है और जिसकी अगुलियां समागताग्रसहिता होती हैं, उस हस्त को मुकुल के नाम से पुकारा जाता है। यहां पर मुकुलो तथा कमलो आदि मे इसे अपत बनाना चाहिए। सामने फैलाकर उच्चालित यह हस्त विट-चुम्बक होता है ॥१८२३-१८४३॥

ऊर्णनाभ-हस्त-मुद्रा :—पद्मकोष-नामक हस्त की अगुलियां जब कुंचित होती हैं तब उस हस्त को ऊर्णनाभ समझना चाहिए और चोरी और केशग्रह

संलग्न हस्त से भी को थोड़ा सा लचा कर लीला, रति, स्मृति बुद्धि, मूर्छा, . संगत, प्रणय, शोच, माधुर्य, भाव, प्रश्रय, पुष्टि, सचिव, शील, चातुर्य, मार्दव सुर, प्रश्न-वार्ता, वेष और युक्ति तथा दाक्षिण्य यौवन में, विभव और अविभव तथा कुछ सुरत, शाद्वल, मृदु, गुण, अगुण, पर स्त्री, नाना-विध आश्रय वाले वर्ण—ये सभी चीजें इस चतुर-हस्त से यथोचित अभिनय के योग्य हैं। कहीं पर प्रभाव कहीं पर मृदुता तथा जिस २ अर्थ की जैसे जैसे प्रतीति हो बुद्धिमानों को उसी उसी प्रकार पूर्वोक्त हस्त से शीर्ष में अभिनय करना चाहिए। उसी के अनुसार भ्रू और दृष्टि भी अभिनेय हैं। अर्थात् इस मुद्रा में सब करना चाहिए। मण्डलस्थ हस्त से पीत और रक्त दिखाना चाहिए। कुछ नतभ्रू शिर से और परिमंडलित उससे काला नीला दिखाना चाहिए और स्वाभाविक रूप उस चतुर-हस्त से कपोतादि वर्णों को दिखाना चाहिए ॥ १४०-१५६ ॥

भ्रमर-हस्त-मुद्रा :—मध्यमा और अंगुष्ठ सन्देशाकृति में और प्रदेशिनी टेढ़ी और ऊपर दोनों अंगुलियां जहां पर प्रकीर्ण हों उसको भ्रमर नामक कर कहा गया है। उस हाथ से कुमुद, उत्पल और पद्म का ग्रहण—अभिनय करना चाहिए। कर्ण-देश पर उस हाथ को रख कर बनाना चाहिए। और उनके अभिनय में दृष्टि को और भौं को हस्त का अनुगामी करना चाहिए ॥ १६०-१६२ ॥

हंसवक्त्र-हस्त-मुद्रा :—हंसवक्त्र नामक इस हाथ की दोनों अंगुलियां अर्थात् तर्जनी तथा मध्यमा और अंगूठा भी त्रेताग्नि में स्थित सा प्रदर्शन निहित है। शेष दोनों अंगुलियां फैली हुई अभिनेय हैं। कुछ स्पन्द करते हुए अंगूठे वाले इस हाथ से दोनों भौंहों को उठा कर निस्सार, अल्प और सूक्ष्म तथा मृदुल और लघु दिखाना चाहिए और इसके अभिनय में दृष्टि और भौं को हस्त का अनुगामी दिखाना चाहिए ॥ १६३-१६५३ ॥

हंसपक्ष-हस्त-मुद्रा :—पहली तीनों अंगुलियां फैली हुई और कनिष्ठा ऊपर उठी हुई तथा अंगूठा जिसमें कुंचित हो उस हाथ को हंसपक्ष बताया गया है। उस हाथ को उत्तानित कर बाहर टेढ़ा कर निवापाञ्जलि दिखाना चाहिए। उसी के द्वारा गन्ध के रूप का गन्ध-वर्तन और भोजन में तथा प्रतिग्रह अर्थात् दक्षिणा आदि की स्वीकृति में इसे उत्तान करना चाहिए और उसी प्रकार ब्राह्मणों के आचमन आदि पुण्य कार्यों में इसे करना चाहिए। दोनों के अन्तरावकाश के नीचे इसे स्वस्तिक-योगी बनाना चाहिए। कुछ शिर को नीचे करके पार्श्व में

ही दोनों हाथों से स्तम्भ-दर्शन अभिनेय है। बाएं हाथ को फैलाकर एक से रोमांच करना चाहिए। स्त्रियों अर्थात् प्रियाओं के संवाहन में और अनुलेपन में तथा स्पर्श में साथ ही साथ विषाद में और विभ्रम में भी स्तनान्तस्थ-रस-स्वाद-पुरस्सर तद्वशवर्ती बनाना चाहिए। और उसे हनुधारण में अधस्थल प्रयोग करना चाहिए। इस हाथ की दृष्टि को अनुयायिनी और भौंहों को भी अनुगता बनाना चाहिए ॥१६५३-१७२३॥

सन्दंश-हस्त-मुद्रा :—जब अराल-हस्त की तर्जनी और अंगुष्ठ का सन्दंश-संज्ञक इस हस्त में भी विहित होता है और जब उसका तल-मध्य आभुग्न हो जाता है तब वह हस्त सन्दंश बताया गया है। वह अग्र, मुख तथा पार्श्व इन तीनों भेदों में तीन प्रकार का होता है और उसको पुष्पावचय तथा पुष्प-ग्रथन में प्रयुक्त करना चाहिए तथा तृणों तथा पत्रों के ग्रहण में और साथ साथ केश-सूत्र आदि परिग्रह में प्रयुक्त करना चाहिए। शिल्प के एक-देश के ग्रहण में तो अग्रदंशक को स्थिर करना चाहिए। आकर्षण में तथा खींचने में भी और वृन्त से पुष्प को उखाड़ने में और साथ ही साथ शलाकादि-निरूपण में भी ऐसा ही करना चाहिए। रोष में तथा धिक्कार के वाक्य में बाहर के भाग से प्रसर्पण करते हुए इस हस्त-मुद्रा का यह अभिनय विहित है। इसी प्रकार और अभिनय प्रदर्श्य हैं। गुण-सूत्र के ग्रहण को तथा बाण के लक्ष्य-निरूपण, ध्यान और योग हृदय-प्रदेश पर इस हस्त को रख कर दिखाना चाहिए और कुछ अभिनय में तो हृदय के सम्मुख संवृत करना चाहिए। निन्दा, असूया, कोमल और दोषयुक्त वचनों में विवर्तिताग्र वाम हस्त कुछ शिथिल सा सम्प्रदर्श्य है। प्रवाल की रचना में, वर्तिका के ग्रहण में, नेत्र-रंजन में और आलेख्य में तथा पालकतक-पीडन में भी इसी हस्त का प्रयोग करना चाहिए। तदनन्तर इसकी भ्रू और दृष्टि अनुगत करना चाहिए ॥१७२३-१८२३॥

मुकुल-हस्त-मुद्रा :—जिस हस्त की हंस-मुख के समान हस्त-मुद्रा ऊर्ध्वा होती है और जिसकी अंगुलियां समागताग्रसहिता होती हैं, उस हस्त को मुकुल के नाम से पुकारा जाता है। यहां पर मुकुलों तथा कमलों आदि में इसे संयत बनाना चाहिए। सामने फैलाकर उच्चालित यह हस्त विट-चुम्बक होता है ॥१८२३-१८४३॥

ऊर्णनाभ-हस्त-मुद्रा :—पद्मकोश-नामक हस्त की अंगुलियां जब कुंचित होती हैं तब उस हस्त को ऊर्णनाभ समझना चाहिए और चोरी और केशग्रह

में इसे प्रयुक्त किया जाता है। चोरी और केश-गृह मे इस हाथ को अधोमुख करना चाहिए। सिर को खुजलाने मे मस्तक के प्रदेश मे बार बार चलता हुआ इसे तिर्यक् बनाना चाहिए और कुष्ठ की व्याधि के निरूपण मे इसे टेढ़ा बनाना चाहिए। सिंह और व्याघ्रादि के अभिनय मे इसे अधोमुख करना चाहिए तथा इसको भ्रुकुटि और मुख से संयुक्त बनाना चाहिए। यहा पर भी दृष्टि और भ्रू का कर्म पहले के समान ही बनाया जाता है॥१८४½-१८८½॥

ताम्रचूड-हस्त मुद्रा :—मध्यमा और अंगुष्ठ सन्दंश के समान जहां पर हों और प्रदेशिनी वक्र हो तो दोनो अंगुलिया तलस्थ कर्तव्य हैं। मृग, व्याल आदि के डराने में तथा बाल-सधारण मे इस हाथ को भर्त्सना मे भृकुटी-युक्त बनाना चाहिए। सिंह एवं व्याघ्र आदि के योग मे विच्युत होकर शब्द करता है। दृष्टि एव भ्रू इस हस्त की सदैव अनुग विहित है। दूसरों के द्वारा इसकी दस ी सज्ञा भी दी गयी है॥१८८½-१९१½॥

अभी तक असंयुत चौबीस हस्तों का वर्णन किया गया। अब तेरह संयुत हस्तों के नाम और लक्षण का वर्णन किया जाता है :—अञ्जलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटक, वर्धमान, उत्सग, निषध, डोल पुष्पपुट, मकर, गजदन्तक, अवहित्थ और दूसरा वर्धमान —ये संयुत संज्ञक तेरह हाथ वर्णित किए गये हैं॥१९१½-१९५½॥

अञ्जलि-हस्त-मुद्रा :—दो पताक हस्तो के संश्लेष से अञ्जलि-नामक हस्त स्मृत किया गया है। वहा पर विद्वान को कुछ विनत शिर करना चाहिए। निकटवर्ती मुख से गुरु को नमस्कार करना चाहिए और वक्षस्थल पर स्थित मित्रों का और स्त्रियों का यथेच्छ विहित है॥१९५½-१९७½॥

कपोत-हस्त-मुद्रा :—दोनों हाथो से परस्पर पार्श्व-सग्रह से कपोत नाम का हस्त होता है इसके कर्म का वर्णन अब किया जाएगा। शिरोनमन से एव वक्षःस्थल पर हाथ रख कर उसी से गुरु-सम्भाषण करना चाहिए तथा उसी से शीत और भय प्रदर्शन करना चाहिए। विनयाभ्युपगम मे भी यही विहित है। अगुलि से सघृष्यमाण भुजन पाणि से "यह नहीं करना चाहिए, ऐसा ही करना चाहिए"—आदि अभिनेय है॥१९७½-२००॥

कर्कट-हस्त-मुद्रा :—जिस हस्त की अगुलियां अन्योन्याभ्यन्तर निःसृत होती हैं, उस को कर्कट समझना चाहिए और उसके कर्म का अब वर्णन किया जाता है। शिर को उठाकर तथा भौहों को नचाकर कामातुरों का

जृम्भण (जमुहाई लेना) तथा अंग-मर्दन इसी से दिखाना चाहिए ॥२०१–२०२॥

स्वस्तिक-हस्त-मुद्रा :—मणिबन्धन में विन्यस्त अराल दोनों हस्तों को स्त्रियों के लिये प्रयोजित होते हैं तो उसे स्वस्तिक बताया गया है। इनसे ऊपर प्रदर्श्य एवं विस्तीर्ण रूप में दिशा, मेघ, गगन आदि प्राकृतिक दृश्य अभिनेय है ॥२०३½–२०४॥

खटकावर्धमान हस्त मुद्रा :—खटक में खटक उपन्यस्त (खटकावर्धमानक-संज्ञक) यह हस्त बताया जाता है। शृंगार आदि रसों के अर्थ में इसे प्रयोग करना चाहिए तथा उसी प्रकार इस का परावृत्त-प्रभेद भी विहित है ॥२०४½–२०५॥

उत्सग-हस्त मुद्रा.—दोनों अराल हस्त विपर्यस्त और ऊंचे उठे हुए वर्धमानक जब हों तो स्पर्श में एवं ग्रहण में इसकी संज्ञा उत्सङ्ग बताई गयी है। उत्सग नाम वाले ये दोनों हाथ होते हैं। अब उनका कर्म बताया जाता है।—उन दोनों का, विशेष प्रहरण अथवा हरण में विनियोग करना चाहिए और इन दोनों हाथों को स्त्रियों का ईर्ष्या के योग्य बनाना चाहिए। दायें अथवा बायें हाथ को कूर्पर के मध्य में न्यास करना चाहिए ॥२०६-२०८।

निषध हस्त मुद्रा —यह लक्षण गलित एवं लुप्त है।

दोल-हस्त-मुद्रा जहाँ दोनों पताक हस्तों का अभिनय में कन्धे प्रशिथिल, मुक्त तथा प्रलम्बित दिखाई पड़ रहे हों, ऐसे करण में दोल की संज्ञा हुई ॥२०९॥

पुष्पपुट-हस्त-मुद्रा—जो सर्पशिर नामक हस्त बताया गया है उसका अंगुल समश्लिष्ट हो तथा जो दूसरा हाथ पार्श्व-संश्लिष्ट हस्त होता तो यह हस्त होता है। इसके काम विभिन्न प्रदर्शन, जलपान आदि है ॥२१०-२११॥

मकर-हस्त-मुद्रा :—जब दोनों पताका-हस्त के अंगूठा उठाकर, अधोमुख ऊपर ऊपर विन्यसित होते हैं तब उस हाथ को मकर अथवा मकरध्वज कहते हैं ॥२१२॥

गजदन्त-हस्त-मुद्रा :—कूर्पर में दोनों हाथ जब सर्पशीर्षक स्थित होते हैं तब उस हाथ को गजदन्त के नाम से समझना चाहिए ॥२१३॥

अवहित्थ-हस्त-मुद्रा :—शुक की चोंच के समान दोनों हाथों को बनाकर वक्षस्थल पर रख करके फिर धीरे धीरे मुखाविद्धाभिनय से उसको अवहित्थ कहा जाता है। इस हाथ से उत्कण्ठा-प्रभृति का अभिनय करना चाहिए ॥२१४-२१५½॥

वर्धमान-हस्त-मुद्रा :—दोनों हाथ हंस पक्ष की मुद्रा में जब हों और वे

एक दूसरे के पराङ्मुख भी हो तो इस को वर्धमान के नाम से पुकारा जाता है ॥२१५॥

टि० (१) इस मूलाध्याय में आगे के दो श्लोक (२१६-२१७) प्रक्षिप्त प्रतीत होते है अतः अनुवादानपेक्ष्य।

टि० (२) चतुर्विंशति (२४) संयुत हस्त-मुद्राओं एवं त्रयोदश (१३) असंयुत हस्त-मुद्राओ के वर्णन के उपरान्त अब एकोनत्रिंशद (२६) नृत्य-हस्त-मुद्राओं का वर्णन किया जाता है। इन नृत्य-हस्तों मे इस मूल में केवल अट्ठाईस नृत्य-हस्त प्राप्त हो रहे हैं, उनसे बहुतों के लक्षण भ्रष्ट हैं, गलित भी है तथा अव्यवस्थित भी हैं, अतः मुनि की दिशा से अर्थात् नाट्य-शास्त्र-प्रणेता भरत-मुनि के नाटय-शास्त्र को दिशा से यत्र-तत्र आवश्यक व्यवस्था का भी प्रबन्ध किया गया है।

ये ही संयुत-असंयुत दोनों हस्त-मुद्रायें नृत्य-हस्त-मुद्राओ में भी प्रयोग में लाई जा सकती हैं। चेष्टा, अग—जैसे हस्त से, उसी प्रकार सात्त्विक विकार जो वक्ष, ओष्ठ, नासिका, पार्श्व, ऊरु, पाद, आदि गतियो एवं आक्षेप-विक्षेपों से जिस प्रकार की अनुकृति अभिव्यक्त हो सकती है, उसी प्रतीति से इनका अनुकरण इन मुद्राओ मे विहित है ॥२१८-२१६॥

नृत्त-हस्त :—अब इन नृत्त-हस्तो का वर्णन किया जाता है। पहले इनकी निम्न तालिका प्रस्तुत की जाती है :—

(१) चतुरस्र	(१०) उत्तानवञ्चित	(२०) ऊर्ध्व-मण्डली
(२) उद्वृत्त	(१२) पल्लव-हस्त[1]	(२१) पार्श्व-मंडली
(३) स्वस्तिक	(१३) केश-बन्ध	(२२) उरो मण्डली
(४) विप्रकीर्णक	(१४) लता-कर	(२३) उरः पार्श्वार्धमण्डल
(५) पद्म-कोश	(१५) करि-हस्त	(२४) मुष्टिक-स्वस्तिक
(६) अराल-खटकामुख (१६) पक्ष-वञ्चित		(२५) नलिनी-पद्मकोषक
(७) आविद्ध-वक्त्र	(१७) पक्ष-प्रद्योतक	(२६) हस्तावलपल्लव-कोल्बण
(८) सूची-मुख	(१८) गरुड़-पक्षक	(२७) ललित
(६) रेचित	(१६) दण्ड-पक्ष	(२८) वलित
(१०) अर्ध-रेचित।		

टि० :—संकेत २६ नृत्त-हस्तो का है परन्तु उपलब्ध क्रम से केवल २८ ही संख्या मिलती है ॥२२०-२२७॥

चतुरश्र :— जब वक्षःस्थल के सामने अष्टांगुल-प्रदेश में स्थित, सम्मुख-खटकामुख, पुनः समान कूर्परांश—ऐसी मुद्रा प्रतीत हो रही हो तो नृत्य-हस्त-विशारदों के द्वारा इस नृत्य-हस्त की संज्ञा चतुरश्र दी गई है ॥२२८-२२९½॥

टि०।—यहां पर इस मूल में उद्वृत्त एवं स्वस्तिक इन दोनों नृत्य-हस्त-मुद्राओं का लक्षण गलित है।

विप्रकीर्ण :—हंस-पक्ष की आख्या वाले दोनों हस्त जब व्यावृत्ति एवं परिवर्तन से स्वस्तिक-आकृति में लाए जाते हैं, पुनः मणि-बंधन में च्यावित अर्थात् हटा दिए जाते हैं, तो इस मुद्रा को नृत्याभिनय-कोविदों ने विप्रकीर्ण की संज्ञा दी है ॥२२९½—२३०॥

पद्मकोश :—वे ही दोनों हंस-पक्ष-हस्त जैसे विप्रकीर्ण उसी प्रकार इसमें उद्वर्तन-क्रिया का आश्रय लेकर, नल-पल्लवता की आकृति में परिवर्तित कर इन दोनों हस्तों को जब ऊर्ध्व-मुख किया जाता है तो इस की संज्ञा पद्मकोशक बनती है ॥२३१—२३२½॥

अराल-खटकामुख :—विवर्तन एवं परावर्तन इन दोनों प्रक्रियाओं से दक्षिण को अराल और वाम को खटकामुख में विन्यस्त कर जब यह मुद्रा बनती है तो इसको अराल-खटकामुख-नृत्य-हस्त कहते हैं ॥२३२½-२३३॥

आविद्धवक्त्रक :—भुजाएं, कंधे और कूर्परों के साथ जब बाएं और दाएं ये दोनों हाथ कुटिलावर्तन-क्रिया से अधोमुख-तल, आविद्ध, उद्धत एवं विनत इन क्रियाओं से जो मुद्रा प्रतीत होती है वहां इस मुद्रा की आविद्ध-वक्त्रक-नृत्य-हस्त-मुद्रा-संज्ञा होती है। इसकी विशेषता यह भी है कि इस मुद्रा में गदा-वेष्टन-योग भी विहित है ॥२३४—२३५॥

सूची-मुख :—जब सर्प-शिर की मुद्रा में तलस्थ अंगुष्ठक वाले दोनों हाथ तिरछे स्थित हो कर और आगे प्रसारित कर जो आकृति प्रतीत होती है, उसमें इस नृत्य-हस्त की संज्ञा सूची-मुख से कीर्तित की गई है ॥२३६॥

रेचित :—मणिबंधन से विच्युति प्रदान कर सूचीमुख की ही आकृति इनको पहले देकर पुनः बाद में व्यावृत्ति और परिवृत्ति से हंसपक्ष की मुद्रा में लाकर कमल-वर्तिता करनी चाहिए, पुनः इनको द्रुत-भ्रम की गति में लाकर दोनों बगलों में धीरे धीरे रेचित करना चाहिए, तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा को विशारदों ने रेचित कहा है ॥२३७-२३८½॥

अर्द्धरेचित :—पूर्व-व्यावर्तित-क्रिया का आश्रय लेकर बाहु-वर्तना से चतुरश्रक और परिवृत्ति इन दोनों मुद्राओं से जब दक्षिण हाथ चतुरश्र की मुद्रा

म आ जाता है। पुनः बाया हाथ रेचित मुद्रा मे आ जाता है। तो विद्वानो ने इसे अर्द्धरेचित की सज्ञा दी है ॥२३९½-२४१½॥

उत्तान-वञ्चित – दोनों हाथो को चतुरस्र के समान व्यावृत्ति एवं परिवृत्ति से वर्तित कर पुन कूर्पर एव अस मे अचित कर जब इस प्रक्रिया मे ये दोनो हाथ त्रिपताकाकृति प्रतीत होने लगते हैं और कुछ ये दोनो हाथ व्यश्रस्थिति (तिकोनी) मे आश्रित होते हैं तो इनकी संज्ञा उत्तानव ञ्चितनृत्य -हस्त हो जाती है ।२४१½-२४२½॥

पल्लव-हस्त : इस मुद्रा मे या तो बाहु-वर्तन अथवा दीर्घ एवं बाहु दोनो के वर्तन से, इस क्रिया से अभ्यर्णागत दोनो हाथ जब पताका के समान निर्दिष्ट हो जाते हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की पल्लव-सज्ञा कही गयी है ॥२४२½-२४४½॥

केश-बन्ध :–मस्तक पर दोनो हाथ जब उद्वेष्टित-वर्तना-गति एव सरणि मे शिर के दोनो बगलो पर जब पल्लव-संस्थानाकृति मे दोनो हाथ दिखाई पडते हैं। तो इस नृत्य-हस्त की संज्ञा केश-बन्ध दी गई है ॥२४४½-२४५½॥

लता-हस्त :–... . ... ? जब ये दोनो हाथ अभिमुख निविष्ट हो जाते हैं तथा दोनो बगलो पर पल्लव-हस्त की आकृति मे दिखाई पड़ते हैं तो इस नृत्य-हस्त की मुद्रा की सज्ञा लता-हस्त दी गई है ॥२४५½-२४६½॥

करि-हस्त –इस करि-हस्त की विशेषता यह है कि व्यवर्तन से दक्षिण हस्त लता-हस्त के समान तथा वाम हस्त उन्नत विलोलित होकर त्रिपताक-हस्त की आकृति मे परिणत हो जाते हैं तो इस नृत्य-हस्त-मुद्रा की संज्ञा करि-हस्त दी गई है ॥२४६½-२४७½॥

पक्ष-वंचितक :—उद्वेष्टित वर्तना से जब दोनो हाथ त्रिपताक के समान अभिमुख घटित हो जाते हैं पुनः करि-हस्त सन्निविष्ट भी प्रतीत होने लगते हैं तो इस नृत्य-हस्त की सज्ञा पक्ष-वञ्चितक दी गई है ॥२४७½—२४८½॥

पक्ष-प्रद्योतक :—जब ये दोनो हाथ त्रिपताक हाथो के समान कटिशीर्ष-सन्निविष्टाग्र दिखाई पडते है; पुन विवर्तन एव परावर्तन से यह पक्ष-प्रद्योतक मुद्रा बन जाती है ॥२४८½—२४९½॥

गरुड-पक्षक : -अधोमुख-तलाविद्ध ये दोनो हस्त प्रदर्श्य हैं, पुनः इन दोनो हस्त-मुद्राओं को त्रिपताकाकार-वेंधिष्ट्य विहित है ॥२४९॥

दण्ड-पक्षक :—व्यावृत्ति एव परावर्तन मुद्रा से दोनो हाथों को फैलाकर दिखाना चाहिए ॥२५०॥

ऊर्ध्व-मण्डलिन :—इस नृत्य-मुद्रा मे हाथो का ऊर्ध्वदेश-विवर्तन से दर्शनीय होता है ॥२२१३॥

पार्श्वमण्डलिन :—इसकी विशेषता यथानाम पार्श्व-विन्यास विहित है। २५१॥

उरोमण्डलिन :—दोनो हाथो मे से एक तो उद्वेष्टित तथा दूसरा अपवेष्टित प्रदर्श्य है, पुनः वक्ष स्थल-स्थान मे उन्हें भ्रमित प्रदर्श्य है ॥२५२॥

टि० यथा-निर्दिष्ट शेष नृत्य-हस्त-मुद्राओं — उरःपार्श्वार्धमण्डलिन, मुष्टिक-स्वस्तिक, नलिनी-पद्मकोषक, हस्तावलपल्लव-कोल्वण, ललित तथा वलित—इन छहों के लक्षण गलित हैं।

इति शुभम्

अनुवाद खण्ड

समाप्त

: छ :

: प :

: ठ :

टि० शेषांश पृ० ४ पर देखें।